संस्कृत

निबन्ध, व्याकरण एवं अनुवाद

•

पं. चण्डीप्रसाद आचार्य
पूर्व-प्राचार्य
महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर

मूल्य
80 रुपये

कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

संस्कृत

निबन्ध, व्याकरण एवं अनुवाद



पं. चण्डीप्रसाद आचार्य
पूर्व-प्राचार्य
महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर

मूल्य
80 रुपये

कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

संस्कृत निबन्ध, व्याकरण एवं अनुवाद

[सम्पर्ण पाठ्यक्रमानुसार रचित एक मात्र पुस्तक]

*

पं. चण्डीप्रसाद आचार्य
पूर्व-प्राचार्य
महाराजा संस्कृत कॉलेज, जयपुर

*

कॉलेज बुक डिपो
त्रिपोलिया बाजार, जयपुर-2

प्रकाशक : कॉलेज बुक डिपो, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर-2

मुद्रक : कीर्तिमान प्रिण्टर्स एवं अंकित प्रिन्टर्स, जयपुर

विषयानुक्रमणिका

संस्कृत निबन्ध

(4) साहित्य वर्ग :

संस्कृत व्याकरण एवं अनुवाद

प्राक्कथन

'निबन्ध' गद्यकाव्य की आधुनिक एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधा है। किसी विषय-विशेष पर अपने विचारों और भावों को सुन्दर, सुगठित, सुबोध एवं प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखने को सामान्यतः 'निबन्ध' की संज्ञा दी जाती है। लेकिन वास्तव में 'निबन्ध' शब्द का व्याकरण की दृष्टि से हम दो रूपों में प्रयोग करते हैं और ये दोनों रूप 'नि' उपसर्ग के कारण निष्पन्न होते हैं। संस्कृत में 'नि' उपसर्ग के दो अर्थ होते हैं, एक 'नितान्त रूप से' और दूसरा 'रहित होना'। अतः निबन्ध में नितान्त बन्धन भी होता है और बन्धन शैथिल्य भी। अर्थात् वह रचना जो विषय से नितान्त रूप से सम्बद्ध भावों और विचारों को प्रकट करती हो और जिसमें लेखक किसी विषय पर अपने ज्ञान वैविध्य का कुशलता के साथ उन्मुक्त होकर प्रयोग करता हुआ विचार प्रकट करता हो, 'निबन्ध' कहलाती है।

आलोचकों ने निबन्ध को कई प्रकारों में विभक्त किया है, जैसे—वर्णनात्मक निबन्ध, विवरणात्मक निबन्ध, भावात्मक निबन्ध, विचारात्मक निबन्ध एवं साहियित्क निबन्ध इत्यादि। किन्तु ये निबन्ध–प्रकार संस्कृतेतर भाषाओं के निबन्धों को ही लक्षित करके किये गये हैं। संस्कृत वाङ्मय में निबन्ध के दो ही प्रकार प्रचलित और सर्वमान्य हैं–(1) शास्त्रीय वैज्ञानिक निबन्ध, (2) सामान्य निबन्ध। इन दो भागों में ही संस्कृत के समस्त निबन्धों को सम्मिलित किया जा सकता है।

शास्त्रीय निबन्धों में शास्त्रीय मन्तव्यों का प्रतिपादन होता है और ऐसे निबन्ध साहित्यिक प्रश्नों व प्रवृत्तियों के सैद्धान्तिक विवेचन से युक्त होते हैं। इन निबन्धों में मौलिक उद्भावनाओं का अभाव, खण्डन-मण्डन की वाग्मिता व प्रतिपादन की निजता होती है। उदाहरण के लिए 'भारतीय दर्शनेषु आत्मा', 'काव्यस्यात्मा ध्वनि', 'मलमास', 'रसो वैसः' इत्यादि निबन्ध उल्लेखनीय हैं। सामान्य निबन्धों में कवियों और काव्यकृतियों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया जाता है। ऐसे निबन्धों में खण्डन-मण्डन प्रवृत्ति का पूर्णतः अभाव, मौलिक दृष्टिकोण की प्रमुखता दृष्टिगोचर होती है जैसे–'काव्येषु माघः', 'उपमा कालिदासस्य', 'महाकविः बिह्लणः तद्‌त्विक्रमांकदेव चरितम्' इत्यादि।

प्रस्तुत पुस्तक की उपादेयता

यद्यपि 'निबन्ध' जैसी महत्त्वपूर्ण विधा पर संस्कृत में अनेक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं और लिखी जा रही हैं, अतः उनके होते हुए यह श्रमसाध्य प्रयोग क्यों किया गया है ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। इस विषय में मैं कहना चाहूँगा कि प्रायः उन सभी निबन्ध की पुस्तकों में कुछ व्यावहारिक न्यूनताएँ स्पष्टतः झलकती हैं जिनके कारण परीक्षार्थी उनसे सही मार्ग-निर्देशन पाने से वंचित रह जाते हैं। उन न्यूनताओं में से कतिपय उल्लेखनीय हैं—

(1) संकीर्ण दृष्टिकोण को लेकर लिखी गई हैं। जैसे कोई पुस्तक बी. ए. के पाठ्यक्रम के आधार पर है तो कोई पुस्तक एम. ए. परीक्षा के पाठ्यक्रम को ही लक्षित करके लिखी गई है।

(2) नवीन पाठ्यक्रम आ जाने और पाठ्यक्रमों में नित्य नये परिवर्तन-परिवर्धन होते रहने से उनकी उपयोगिता अप्रासङ्गिक रह गई है।

(3) कई पुस्तकों की भाषा-शैली अत्यन्त दुरूह व संश्लिष्ट है तो अनेक पुस्तकें ऐसी हैं जिनकी भाषा-शैली अत्यन्त निम्न स्तर की हैं।

(4) विषयानुसार भाषा-शैली का पूर्णतः अभाव है।

(5) व्याकरण की दृष्टि से त्रुटियुक्त भाषा का प्रयोग उनमें देखा जा सकता है।

(6) वैविध्यपूर्ण सामग्री के चयन में अकुशलता है।

(7) निबन्ध की अप्रचलित, रूढ़ व अवैज्ञानिक शैलियों का प्रयोग है।

(8) एकाङ्गी ज्ञान पर आधारित। जैसे कोई लेखक साहित्य से सम्बद्ध है तो वह साहित्यिक निबन्धों को ही प्रमुखतया शामिल करता है और कोई लेखक दर्शनशास्त्र का है तो वह अपनी पुस्तक में दार्शनिक निबन्धों को वरीयता देता हुआ दर्शनेतर धर्मशास्त्र, वैदिकादि विषयों की प्रायः उपेक्षा कर देता है।

इन सभी न्यूनताओं का यथाशक्ति निराकरण करते हुए इस पुस्तक को सर्वविधोपयोगी बनाने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है, जैसे—

(1) इस पुस्तक को लिखते समय मेरा दृष्टिकोण केवल बी. ए., एम. ए. जैसी उच्च परीक्षाओं तक ही सीमित नहीं रहा अपितु प्रतियोगी परीक्षाओं जैसे आई. ए. एस., आर. ए. एस., आर. पी. एस. सी. द्वारा होने वाली कॉलेज व्याख्याताओं और स्कूल व्याख्याताओं की संवीक्षा परीक्षा (स्क्रीनिंग टेस्ट) के आने वाले उपयोगी निबन्धों को ध्यान में रखते हुए लिखी गई है अतः उच्च कक्षा के परीक्षार्थियों के साथ इन प्रतियोगी परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाले विद्यार्थी भी इससे लाभ उठा सकते हैं। सम्भवतः राजस्थान में इस प्रकार की यह प्रथम पुस्तक है।

(2) नवीन पाठ्यक्रम व पिछले कई वर्षों के पेपरों को ध्यान में रखते हुए नितान्त महत्त्वपूर्ण द्रष्टव्य निबन्धों को स्थान दिया गया है।

(3) विषयानुसार भाषा-शैली का प्रयोग किया गया है। यदि निबन्ध काव्य, रस या अलंकारादि पर है तो वहाँ ललित, सरस, प्राञ्जल भाषा-शैली प्रयुक्त की गई है, जैसे—"...............कविना सुललिताङ्गी, रूपयौवन सम्पन्ना, विरहानलोन्मथिता यक्षपत्नी....ललितया सुकोमलतया....।" (उपमा कालिदासस्य), "....सम्यक् रत्यादीन कामे चारयन्ति संचारयन्ति...." (न हि रसात् ऋते कश्चिदप्यनर्थः प्रवर्तते)। इसके विपरीत दार्शनिक निबन्धों में भाषा-शैली कहीं-कहीं अति कठिन, नीरस एवं नव्य न्याय की अवच्छिन्नावच्छेक जैसी दुरूह भाषा की छाया पड़ गई है, जो यद्यपि प्रारम्भ में समझने में पाठकों को कठिन अवश्य लगेगी किन्तु यह उनके ही बौद्धिक विकास को ध्यान में रखकर किया गया है।

(4) इस पुस्तक को तैयार करते समय अनेक अलभ्य एवं दुर्लभ पुस्तकों की सामग्री का उपयोग किया है जिससे विद्यार्थियों को अर्थ, समय और श्रम की बचत भी होगी।

(5) सभी विषयों पर निबन्ध शामिल किए गए हैं। प्रायः प्रचचित पुस्तकों में देखने को मिला है कि उनमें धर्मशास्त्र विषय पर आधारित निबन्धों का स्थान व संख्या न्यून ही है जबकि राजस्थान में धर्मशास्त्र के विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक है अतः उनके हित के लिए धर्मशास्त्र विषयक निबन्धों को भी यथोचित स्थान दिया गया है।

(6) प्रचलित एवं वैज्ञानिक निबन्ध शैली का प्रयोग किया गया है।

छात्रों के लिए उद्बोधन

संस्कृत साहित्य में यह सूक्ति प्रचलित है कि "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" अर्थात् कवियों व लेखकों की असली परीक्षा गद्य में होती है, लेकिन आचार्य शुक्ल के अनुसार गद्य में भी लेखक की सही परीक्षा निबन्ध लेखन में होती है। अतः विद्यार्थियों को निबन्ध लेखन का समुचित मार्ग-निर्देशन मिलना आवश्यक है तथा आधुनिक युग में प्रायः सभी प्रतियोगी परीक्षाओं में निबन्ध लेखन को शामिल कर देने से यह और भी अनिवार्य हो जाता है। इसी बात को मानस में रखते हुए छात्रों के लिए अच्छे, सुन्दर एवं आदर्श निबन्ध के लिए कतिपय आवश्यक बातों का निर्देशात्मक रूप से उल्लेख किया जा रहा है जिनको हृदयङ्गम कर लेने से उन्हें न केवल सफलता मिलेगी प्रत्युत् अधिक अंक भी प्राप्त कर सकेंगे—

(1) विषय से सम्बन्धित विविध ग्रन्थों की सामग्री का यथा-स्थान प्रयोग करने से निबन्ध की आकर्षकता तो बढ़ेगी ही साथ ही आपके बहुमुखी ज्ञान का भी परीक्षक को परिचय मिलेगा।

(2) निबन्ध का प्रारम्भ विषय की प्रस्तावना लिखते हुए करें तथा अन्त में उपसंहार हो जिसमें विषय की सार्थकता सिद्ध हो रही हो।

(3) विषयानुसार भाषा-शैली का प्रयोग होना चाहिए। भाषा में प्रवाह-शैथिल्य नहीं होना चाहिए।

(4) लोकोक्ति, मुहावरों एवं सूक्तियों का यथोचित स्थान पर प्रयोग करें जिससे निबन्ध में न केवल रोचकता आयेगी, बल्कि विस्तृतता भी आयेगी।

(5) समय को ध्यान में रखते हुए निबन्ध लिखें जिससे विषय का सर्वांगीण प्रतिपादन हो सके। जैसे आप किसी विषय पर निबन्ध लिखने जा रहे हों और पन्द्रह मिनट शेष हैं तो आप उस विषय की भूमिका आदि के प्रारम्भिक भाग को इतना विस्तृत न लिखें कि समय ही व्यतीत हो जाए। अतः ऐसे समय में विद्यार्थियों को चाहिए कि वे निबन्ध का कलेवर छोटा करते हुए निबन्ध के सभी तत्त्वों का समावेश कर देवें चाहे वे तत्त्व दो-दो व तीन-तीन पंक्तियों में ही क्यों न हों। इससे कम समय में भी आपकी भिज्ञता का परीक्षक को मालूम चल जायेगा।

(6) सम्भव हो तो परीक्षार्थियों को निबन्ध में ऊपर शीर्षक देकर ही

उसके अनुसार लिखें। यदि ऐसा न हो तो उन्हें ध्यान में रखना चाहिए कि एक ही पैराग्राफ में प्रसंगेतर बातें तो नहीं लिखी जा रही हैं। प्रायः देखने में आता है कि परीक्षार्थी एक पैराग्राफ में कवि के जन्मकाल के विषय में लिखता हुआ उसमें ही कवि की भाषा-शैली पर विवेचन शुरू कर देता है। ऐसा करना अप्रासङ्गिक एवं अनुचित है।

(7) परीक्षार्थियों को चाहिए कि यदि उनका तैयार विशेष शीर्षकयुक्त निबन्ध परीक्षा में भिन्न शीर्षक से आ जावे तो अपनी प्रतिभा से उस स्थान पर अपनी तैयार निवन्ध सामग्री को सुनियोजित कर दें। जैसे इस पुस्तक में 'भारतीयदर्शनेषु मोक्षः' नामक निबन्ध है और परीक्षा में भारतीय दर्शन से सम्बन्धित कोई भी निबंध पूछा जाये तो आप इससे पर्याप्त सामग्री ग्रहण कर सकते हैं और इस बात को ध्यान में रखते हुए हमने निबन्धों को प्रमुखतः वेद, दर्शन, धर्मशात्र और काव्य-साहित्य के रूप ये चार वर्गों में विभाजित किया है, जो विद्यार्थियों के शीर्षक चुनने में अधिकाँशतः सहायक हो सकेगा।

शिक्षकवृन्द से निवेदन

शिक्षक विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि वे विद्यार्थियों को इस पुस्तक में आये दुर्बोध व कठिन स्थलों की सरल व्याख्या कराते हुए उन्हें हृदयङ्गम कराने में सहयोग दें। चूंकि यह पुस्तक अत्यन्त सीमित समय में जल्दी में तैयार की गई है अतः इसमें पर्याप्त संशोधन, परिवर्तन व परिवर्धन का अवकाश है, इसलिए इस सन्दर्भ में उनके विचार आमन्त्रित हैं।

प्रस्तुत पुस्तक हमने हमारे मित्र श्री जैन साहब, संचालक, कॉलेज बुक डिपो, त्रिपोलिया बाजार जयपुर की प्रेरणा से निर्मित की है। छात्रहित को ध्यान में रखकर दिए गए समस्त मन्तव्यों का इसमें पूर्णतः परिपालन किया गया है। श्री जैन साहब नितान्त साधुवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस सारस्वत सेवा का अवसर प्रदान किया है।

इस पुस्तक की पाँडुलिपि बनाने, सामग्री के संकलन एवं इसे सर्वविधि उपयोगी बनाने में श्री भँवरलाल शर्मा, व्याख्याता, राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, भानपुर एवं श्री नारायण शर्मा, शोध-छात्र, राजस्थान विश्वविद्यालय ने पूर्ण सहयोग देकर अपने उदात्त भाव का परिचय एवं आदर्श प्रस्तुत किया है तदर्थ इन दोनों को आशीर्वचन है कि वे अपने जीवन में इसी प्रकार संस्कृत-सेवा से समुन्नत जीवनशील बनें।

अन्त में—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनाः तत्र समादधति सज्जनाः॥

इस सूक्ति के अनुसार जिज्ञासु पाठकवृन्द से निवेदन है कि वे त्रुटियों का निराकरण करने के लिए प्रेरित करें।

विदुषां वंशवदः
पं. चण्डीप्रसादाचार्यो दाधिमथः

1

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। (1986)

अथवा

वेदेषु स्वराणां महत्त्वम्। (1984)

अथवा

मन्त्रहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो वा न तदर्थमाह। (1985)

हिन्दुसमाजस्य याः का अपि विशेषताः सन्ति, हिन्दुसंस्कृत्याः याः मूलभूता मान्यताः सन्ति तासां सर्वासां प्रभवाः वेदाः सन्ति। अयं सर्वमान्यः सिद्धान्तो वर्तते।

वेदस्य विषये अनेकेः प्रश्नाः सन्ति परञ्च तेषां प्रमुखः प्रश्नः अयं विद्यते यत् कोऽयं वेदः पंडिताः स्वमतिभिः अस्य प्रश्नस्य समाधानं कुर्वन्ति। केचिद् जना मन्यन्ते यत् संहिताब्राह्मणात्मको वेदः। आचार्यसायणस्य मत्यनुसारं वेदस्य इदं लक्षणं वर्तते—'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रंथो वेदः'। अन्ये विद्वांसः ब्राह्मणस्तथा वेदा सन्ति इति कथयन्ति। व्युत्पत्त्या दृष्ट्या वेदः ज्ञानार्थकाद् विद् धातोर्घञ्प्रत्ययेन सिध्यति। आचार्य सायणेन कृष्णयजुर्वेदीयभाष्यभूमिकायां वेदस्य वेदत्वमुपन्यस्तम्—

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्यूपायो न विद्यते।
> एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदिता॥

वेदस्य चतस्रः संहिताः सन्ति—ऋग्वेदः यजुर्वेदः सामवेदः अथर्ववेदश्च। एतासु चतसृषु संहितासु ऋग्वेदः स्तुतिपरकमंत्राणां संग्रहो विद्यते। यजुर्वेदे यज्ञस्य प्रक्रियायाः यज्ञविधानस्य समुचितं विवरणमस्ति। यजुर्वेदस्य द्वे संहिते वर्तते—कृष्ण-यजुर्वेदः शुक्लयजुर्वेदश्च। सामवेदः संगीताय प्रसिद्धः अस्ति। अथर्ववेदे अभिचारमंत्राणां संकलनं दरी दृश्यते। अयं लौकिकवेदः इति ज्ञायते।

वेदानां महत्त्वस्य ज्ञानात् प्राक् एतेषां रचनाकालस्य ज्ञानमपि आवश्यकं अस्ति। अनयादृष्ट्या यदि वयं वेदान् पश्यामः तर्हि इमे प्राचीनतमा प्रतीयन्ते। वेदानां रचनाकालस्य विषये पंडितानां मतैक्यं न विद्यते। अयं विचारस्य प्रश्नः।

कालनिर्णयप्रसङ्गे स्मरणीयमिदं यत् पाश्चात्यविदुषां मतानुसारं वेदाः पौरुषेय-त्वात् कालस्य परिधौ वर्तते किन्तु अधिकांशतः भारतीयविद्वांसः वेदानामपौरुषेयत्वं स्वीकुर्वन्तः वेदानामनादित्वमेव प्रतिपादयन्ति। लोकमान्यबालगंगाधरतिलक महोदयः ज्योतिषशास्त्रानुसारेण दशसहस्रवर्षात् पूर्वस्य साक्ष्यं प्रदर्शयति। ऋग्वेदस्य दशममंडले अयं एकः मंत्र अस्ति—

> सूर्याय वस्तुः प्रागात् सविता यमवासृजत।
> अघासु हन्यन्ते गावो अर्जुन्यो पर्युह्यते॥

विद्वान्सः ऋग्वेदं विश्वस्य प्राचीनतमं पुस्तकं मन्यन्ते । अनेन मतेन सर्वेऽपि एकमताः सन्ति ।

वेदानां महत्त्वं न कोऽपि विस्मतुं शक्नोति । सर्वे जनाः जानन्ति यत् वेदाः अस्माकं जीवनस्य प्रत्येकक्षेत्रेऽस्मिन् आवश्यकाः वर्तन्ते । अत्र पृथक् रूपेण सर्वेषां वेदानां महत्तां उपयोगिताञ्च प्रदर्शस्यते ।

प्रथमतः वयं ऋग्वेदमेव पश्यामः । ऋग्वेदस्य विषये निर्विवादरूपेण विदुषां मतैक्यं यत् विश्वपुस्तकालस्य एषा कृति प्राचीनतमा वर्तते । प्राचीनभारतीयेतिहासस्य पुर्ननिर्माणे ऋग्वेदसंहितायाः अत्यधिकमहत्त्वं वरीर्वति । यद्यपि ऋग्वेदस्य रचना धार्मिकोद्देशेन जाता तथापि साहित्यं समाजस्य दर्पणमस्ति इतिउक्त्यनुसारेण अस्यां संहितायामपि तत्कालीनस्य समाजस्य विभिन्नदशानां विभिन्नरीतिनीतीनां प्रतिबिम्ब स्पष्टतः दरीदृश्यते । प्राचीनार्चार्णां सभ्यतायाः परिज्ञाने ऋग्वेदादधिकं न किमपि साधनं वर्ततेऽधुना । वर्तमानप्रजातंत्रस्य बीजं ऋग्वेदे अथर्ववेदे च स्पष्टतः दरीदृश्यते यथा—

त्वां विशो वृणतां राज्याय
त्वायिना प्रदिशः पंचदेवी
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदिश्रयस्व
ततो न उग्रो-वित्रजा वसूनि ।।

राष्ट्रजागरणस्य स्वरान् वयं ऋग्वेदे अथर्ववेदे च प्राप्नुम. यथा अयं एकः अथर्ववेदस्य मंत्रोऽस्ति—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः

अन्यश्च ऋग्वेदस्य मंत्रोऽस्ति—

'उपसर्प मातरं भूमिम्' ।

न केवलं ऋग्वेदस्य महत्त्वं वर्तते अपितु अस्योपवेदस्यायुर्वेदस्य जीवने महती उपयोगिता अस्ति । आयुर्वेदस्य प्रधानग्रन्थाः चरकसुश्रुतादयः सन्ति । आयुर्वेदोऽपि शल्यशालाक्यकायचिकित्सा-भूतविद्याद्यनेकांगेषु विभक्तोऽस्ति ।

अस्माकं सामाजिकव्यवस्थायै ऋग्वेदस्य महत्त्वं दरीदृश्यते । ऋग्वेदे कार्यानुसारेण वर्गाणां विभाजनमस्ति । ऋग्वेदस्व दशममंडले पुरुषसूक्ते वर्णानामुल्लेखः अस्ति । यथा—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।।

अथर्ववेदे मनुष्याणां कर्मादिभेदतः पञ्च श्रेणिविभागाः दृश्यन्ते—ब्राह्मणः क्षत्रियः वैश्यः दासः दस्युश्च । दस्युः खलु अनार्याः ते भेदाः पश्चाज्जातिपदेन प्रचलिताः । श्रीमद्भागद्गीतायामपि उल्लिखितोऽस्ति यत्—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

एतदेव जातिप्रथा तत्समयात् प्रचलिता अस्ति ।

अस्माकं वेदानां धर्मबहुलं महत्त्वं दरीदृश्यते— ऋषयः अकथयन् यत् वेदोऽखिलो-धर्ममूलम् । ऐवां धर्ममूलत्वं समुद्घोपयता मनुना समग्रस्यापि वेदनिधेर्धर्माधाररूपेण प्रतिष्ठा कृता । मानवस्याखिलं कृत्यजातं कर्तव्याकर्तव्यं वा वेदेषु विशदतया निरूप्यते । अत एव वेदा आचारसंहितारूपेण प्रमाणीक्रियन्ते । दार्शनिकसंसारे अपि वेदानां महत्त्वमस्ति । वेदे अनेके गूढ़ाः आध्यात्मिकाः तथ्याः सन्ति । ऋग्वेदः अनेकतायां एकतां संस्थापयति । उदाहरणार्थं वयं ऋग्वेदस्य इमं मन्त्रं पश्यामः यत्र—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो,
दिव्य स सुपर्णो गुरुत्मन्
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्य-
ग्निं यमं मातरिश्वानाहुः ।

संसारस्योत्पत्तिः पुरुषकृतास्ति इदं ऋग्ववेदस्य मतं ऋग्वेदे पुरुषस्य वर्णन-मस्ति—

सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।। ऋग्वेद 10–907 ।।

वेदः हिन्दुधर्मसंस्कृतीनां कोशः अस्ति । भारतीयाया संस्कृतेर्मूलरूपं वेदेष्वेवो-पलभ्यते । वेदेष्वेव प्राक्तनभारतीयानां जीवनदर्शनं, कार्यकलापः, आचरविचाराः नैतिकं सामाजिकञ्च चरितं प्राप्यते । मानवानां विविधकर्तव्यादिनिर्धारणं तत्रैवोपलभ्यते । उक्तं च मनुना—

सर्वेषां तु स नामानि कर्मणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक संस्थाश्च निर्ममे ।। मनु० 1–21 ।।

विश्वसंस्कृतेरैतिह्यं गवेषितं चेत् तर्हि वेदा एव सर्वप्रमुखत्वेन दृष्टिपथमवत-रन्ति । अस्मिन् संसारे संस्कृतेः सभ्याताश्च कथमिव विकासोऽभूदित्यर्थं वेदानुशीलन-मनिवार्यमापाद्यते । तत एव क्रमिकविकासस्य प्रक्रिया प्राप्यते । अत एव यजुर्वेदे प्राप्यते—'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' (यजुर्वेद 7–14) । वैदिकी संस्कृतिः प्रथमा-संस्कृतिरासीत् ।

समाजशास्त्रीयदृष्टयाऽपि वेदा अत्यन्तं महत्त्वपूर्णाः सन्ति । समाजस्य विकासस्य वर्णानां विविधिवृत्तिपराणां नराणां च कर्मकलापस्य, सामाजिकव्यवस्थायाश्च महत्त्व-पूर्णं इतिवृत्तं वेदेषूपलभ्यते । प्राक्तनस्य समाजस्य किं स्वरूपमासीदित्यति तत एवाप्तुं शक्यते । अर्थशास्त्रदृष्ट्याऽपि वेदानां महत्त्वमस्ति । आदान-प्रदानस्य महत्त्वं यजुर्वेदे वर्ण्यते—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते ।।

अत एव प्रमुखरूपेण भारतीयधर्मसंस्कृतीनां रक्षणाय वेदानामध्ययनं अत्यधिकं आवश्यकं वर्तते । यतोहि वेदाध्ययनं जीवनं पावयति, चिन्ताकुलं जगत् चिन्तायास्त्रायते लोकानां विविधाः समस्या निवारयति सद्भावांश्च प्रेरयति ।

2

वेदविज्ञानस्य आवश्यकता ।

अथवा

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः । (1985)

विदन्ति जानन्ति विधेयान् धर्मार्थकाममोक्षान् विद्याः कलाः ज्ञानानि विज्ञानानि च येन जनाः स वेदः ज्ञानम् । ज्ञानार्थात् विद् धातोरच् प्रत्यये रूपमिदम् । वेदशब्दस्य ज्ञानार्थकत्वमुपपादयति कृष्ण यजुर्वेदीयभाष्यभूमिकायां श्रीसायणाचार्यः—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते ।
एन विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।।

ज्ञानमिह नेत्रम्, देहिनां परमावश्यक चेति सर्वेषां द्रव्याणां पदार्थानां गुणानां कर्मणां च ज्ञानाय परिज्ञानाय चापि सन्तोह स्वाभाविक्यः प्रवृत्तयो जनानम् । पुरा जगदुत्पादनसमकालमेव विश्वस्य कर्त्ता लीलाबिहारी परमेश्वरो जीवान् निर्माय तेभ्यो ज्ञानं ददौ । देहिनां देहेषु स ज्ञानाधिष्ठानि पञ्चेज्ञानन्द्रियाणि च प्रत्यतिष्ठिपत् । ततश्च तेषां तत्र कर्मेन्द्रियाणि निर्माय कर्माधिकारं व्यजिज्ञपत् प्रभुरीश्वरः । तस्य निश्वासो वेदाः महर्षीणां मनःसु परमेश्वरस्वेच्छया ज्ञानमाविरकुर्वर्नन् । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति चत्वारः सन्ति वेदाः । आम्नायः आगमः श्रति इति वेदस्य पर्यायवचनानि । वेदा हि अपौरुषेयाः शाश्वताः निःशेषज्ञाननिधानानि च । सर्वज्ञानमया वेदाः । सर्व विदुर्वेदविदोवेदे सर्व प्रतिष्ठतम् । नेह ज्ञानं विनाकस्यापि कर्मप्रवृत्तिः नापि च कर्मसम्पादनं सम्भवति । यो जनो यत्कर्म कर्तुं जानाति स एव तत्सम्पादयितुं क्षमते, अन्यस्तु न क्षमः इति प्रतिनिववर्तते कार्यसम्पत्तेः । ज्ञानं हि कर्मसु प्रवर्तकं जनानाम् ।

वेदेषु जगतां व्यवस्थायै मानुषाणां कल्याणाय च ब्राह्मणः क्षत्रियः वैश्यः शूद्रः दस्युश्चेति पञ्चभेदाः प्रतिपादिताः मानुषाणाम् । त एव पश्चाज्जातिरूपेण व्यवहारमवाप्नुवन् । वेदेषु वर्णाः कायविभागाय कृताः, न तूच्चनीचभेदाय, इति जातिभेदम् विहाय मानुषाः मिथ स्नेहेन वर्तेरन्निति वेदोपदेशः—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ।। अथर्ववेद ।।

पुरातनेषु युगेषु वेदाध्ययनमेव मुख्यमध्ययनमासीदार्याणाम् । महर्षयो वेदान् अधीत्यलोके ज्ञानस्य प्रचारमकुर्वन् । वेदेषु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणामवर्णानां च कर्त्तव्यानि धर्मार्थकाममोक्षाणां पुरुषार्थानामुद्देश्यानि, ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासानामाश्रमाणां च व्यवस्थाः मानुषाणां कल्याणार्थाय पदे पदे वर्णिताः सन्ति । तत्र विद्यानां कलानां यन्त्राणां तन्त्राणां ज्ञानानां विज्ञानाञ्च सर्वविद्यानां वर्तते स्थाने स्थाने वर्णनम् । तत्र जगतः उत्पत्तिः स्थितः लयश्च वर्णिताः सन्ति । तत्र मानुषाणां भद्राणि कर्त्तव्यानि हेयानि कार्याणि लोकव्यवहाराः जीवनोपायाः देवोपासना मिथः पूजाश्च

बहुत्र वर्णिता सन्ति । सर्वं ज्ञातव्यमशेषं कर्त्तव्यं च वेदेषु लिखितम् । पुनर्जन्मापि वेदेषु प्रतिपादितं वर्तते—

यो धर्माणि प्रथमः ससाद
ततो वपूंषि कुरुते पुरुणि ।
धास्युर्योनि प्रथम आविवेश
यो वाचमनुदितां चिकेत ।। अथर्व. ।।

विश्वमिदं वेदेषु राष्ट्रमेकं वर्णितम् । राष्ट्रस्य च तस्या रक्षां कल्याणं च तत्र पदे पदे वर्तते प्रार्थितम् ।

ध्रुवं ते राजा वरुणो
ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च
राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ।।
भद्रमिच्छन्त ऋषयः
स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलभोजश्च जातं
तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु ।। अथर्व. ।।

वेदेषु मानवानां कल्याणाय सन्ति देव प्रार्थनाः, मानव जीवने सभापतितानां विघ्नानां निवारणोपायाश्च तत्र विज्ञानविषयः यज्ञविधानानि, काम्य कर्म प्रकारास्तेषां साधनोपायाश्च प्रतिपादिताः सन्ति । येषामनुष्ठानेन मानवः सर्वकामानवाप्नोति ।

पुरातना महर्षयो वेदानधीत्य सर्वज्ञकल्पा अभवन् । ततश्च कालक्रमेण भूयो भूयो ज्ञानस्य ह्रासाः प्रारभन्त । मनुषा अल्पबुद्धयः समजायन्त तेषां च कृते महर्षि वेद-व्यासोऽन्ये चर्षयो विविधानि सरलानि शास्त्राणि लिलखुः । येषां चाल्प बुद्धीनां जनानां वेदेषु गतिर्नासीत् ते द्विजेतर जातयः शास्त्राणि तानि तानि पुराणानि चाधीत्य ज्ञानमुपार्जन् ।

चतुर्षु वेदेष्वधीतिनो द्विजाश्चतुर्वेदाः त्रिषु वेदेषूपलब्धनैपुणाः त्रिवेदिनः द्वयोः वेदयोरधीतिनो द्विजवरा द्विवेदिनश्चेदानीमपि नाम्ना प्रसिद्धा सन्ति । भारते वैदेशिका नामा प्रवेशादति महती हानिरजायत भारतीयायाः संस्कृतेः : स्वतन्त्रे भारते पुनरिदानी-मार्य सनातन वैदिक धर्मानुयायिनो भारतीया वेदाध्ययनशीला भवेयुः । भारते लब्ध प्रवेशाः आङ्गलाः शर्मण्यश्च वेदानधीत्य वैज्ञानिकाः समवर्तन्त । इदानीन्ते ज्ञानिनो बलवन्तो धनिन यशस्विनश्च सन्तीति तेषां वेदाध्ययनस्य फलम् ।

ज्ञातात्मानो वेदाधीतिनः पूर्वजा अस्माकं दीर्घायुषो ज्ञानिनो बलवन्तो वैज्ञानिका धनिनो मनस्विनो यशस्विनश्चासन् । पदार्थ वैज्ञानिक युगेऽस्मिन् अस्माभिरपि पुनर्वेदानां शास्त्राणां गाढं ज्ञानं सम्पादनीयम् । मानवजीवने परमोपयोगि ज्ञाननिधानानां वेदानामध्ययनमिदानीन्तने युगे लोकान् चमत्कार चकितान् कर्तुं स्वप्रसिद्धये स्वदेश

प्रतिष्ठा यै चातीवावश्यकम् । सोपपत्तिकं वेदानां ज्ञानमपेक्ष्यतेऽधुना । केवलं भौतिकाः वैज्ञानिकाः पाश्चात्या विजेतव्या अस्माभिः । वेदानां सार्थकमध्ययनं बहूपकरिष्यति न केवलं भारतीय जनानां भवितु निखिल विश्वस्य प्राणिनाम्, नात्र कश्चिद सन्देहलेशः (यो जनो वेदान् वेदाानि । शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-ज्योतिष-छन्दांसि) च सम्यक् प्रकारेण जानाति स सर्वज्ञकल्पः सञ्जायते, लभते च लोकेषु पूजास्थानम्, अमल धवलाक्षय कीर्तिञ्च ।

अतः सत्यमेव गदितम्—

वेदा हि ज्ञान विज्ञान—
विद्यानां निधयो मताः ।
तानधीत्य च मेधावी
सर्वज्ञत्वाय कल्पते ॥

3

वेदानाम् अपौरुषेयत्वम् । (1984)

अथवा

कथमपौरुषेयाः वेदाः । (1982)

वेदानाम् पौरुषेयत्व परीक्षण प्रसङ्गे विचार्यते । विश्वस्य पुस्तकालयेषु विविधानि पुस्तकानि तान्यखिलान्यपि पौरुषेयाणि पुरुषरचितानि मन्यन्ते । परं वेदादि धर्म ग्रन्थानां विषयेऽन्यदेव मतमुपलभ्यते । ख्रिष्टीयानां मते यथा 'बाइबिलस्य' यवनानां मते यथा 'कुरानस्य' पारसीकानञ्च मते यथा 'जेन्दावेस्तायांस्तथैव' हिन्दूनां मते वेदानामपौरुषेयत्मीश्वरीयज्ञानत्वं चाभ्युपगम्यते ।

वेदादिग्रन्थानामपौरुषेयत्व प्रश्नोऽतीव महत्त्वपूर्णः, यतो हि तेषामपौरुषेयत्वपक्ष एव स्वतः प्रामाण्यं सम्भवति । यदि नाम ते पौरुषेयाः स्युस्तर्हि तेषां प्रामाण्यमपि परत एवाभ्युपगतं स्यान्नतु स्वतस्तेषां पुरुषदोषाशङ्काशून्यत्वाभावात् । तत्र विचारणीयोऽयं विषो यद् वेदादि ग्रन्थानां पौरुषेयत्वं सम्भवति न वा ? अपौरुषेयत्वपक्षेऽपि अपौरुषेत्वेन किं नाम विवक्षितं स्यात् ? वेदानामपौरुषेयत्व परीक्षामुखेनैवान्येषामपि परीक्षा सुकरेति स्थालीपुलाकन्यायेन वेदानामपौरुषेयत्व परीक्षाऽत्र प्रस्तूयत इति ।

अत्रेदमार्यावर्त निवासिभिः सूक्ष्मेक्षिकया विचारणीयम् । इतो वर्ष सहस्त्र-द्वितयात्पूर्व भगवान् पतञ्जलिरासीत् इति तैरेव पाश्चात्यैनिर्णीतं बहुत्र बहुभिः । ततोऽपिबहुप्राचीन कालं समलंकृतवान् महर्षिजैमिनिः । ततोऽपि प्राचीनतमः कश्चन मीमांसाचार्यः काशकृत्स्निरासीत् इति भगवत्पतञ्जलिभाष्यावलोकने नैवावगभ्यते । यदुक्तं तैः—

"काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी" ।

इति । पाणिनिसमकालिकेन महर्षिणा कात्यायनेनापि स्वग्रन्थेऽनूदितोऽयं 'काशकृत्स्न' । सद्यस्त्वं "काशकृत्सिनः" इति यद्यपीदं नास्मन्मनो रञ्जयति, यतः सत्यव्रतसामश्रमिणा निरुक्तालोचने कलेरष्टम्यामेव शताब्द्यां ख्रिष्टजन्मतश्च प्राक् चतुर्विंशतिशताब्द्याभिममार्यावर्तं भूषयामास पाणिनिरिति बहुभिः प्रमाणैः उपपादितम्, तथापि पाश्चात्य पण्डितोक्तिपर्यालोचनयाऽपि इदं सुस्पष्टमेव गम्यते भगवान् काशकृत्स्नराचार्य इतो वर्ष सहस्त्रत्रितयात्पूर्व भूमिमिमामलञ्चकारेति । तेन च वेदानामपौरुषेयत्वं आधितमेव भवेदित्यभ्यू ते ।

जैमिनिर्हि भगवान् पौरुषेयत्व खण्डन प्रस्तावे सूत्रयति—"उक्तं तु शब्द पूर्वत्वम्" इति । तस्यायमभि सन्धिः वयं तावत्पश्यामः, ये नाम अधीयते वेदमिदानींतनाः सर्वेऽपि ते गुरु मुखादवाधीयते ये च तेषामध्यापयितारो गुरवस्तेऽपि स्वंगुरोः सकाशादधीत्यैवाध्यापयन्ति, न पुस्तकादिकं दृष्ट्वा । एवमेव सर्वदाऽपि इयमेवाध्ययनपरम्परा प्रचलतिस्म इत्यनुमातुं शक्यते । इदमेव चानुमानमेतत्सूत्राऽभिप्रायं विस्पष्टयतीति वार्तिककारोऽपि—

वेदस्याध्ययनं सर्वगुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययन सामान्यादधुनाऽध्ययनं यथा ॥

इति वार्तिकेन एतदेव निर्दिशति ।

स्वञ्च न कदापि तादृशः काल आसीद् यत्र वेदा वा तध्ययनं वा नासीत्, किन्तु सार्वदिकोऽयं व्यवहार प्रवर्तते स्म । किञ्च वयं ग्रन्थराशिमिममध्ययनेनाध्यापनेन पालयामः तत्तादृशस्य सर्वैरीश्वरतुल्यतया संरक्ष्यमाणस्य पूज्यमानस्य ग्रन्थस्य यदि कर्ताऽपि कश्चित्स्यात् तर्हि कथं तं वयं विस्मर्तुमीश्महे, तं कर्तारं परित्यक्तुं समर्थाः ।

केचिदाशेरते पुरुष निर्मिदमङ्गीकारे दौर्बल्यं मन्यमानैस्तत्र दार्ढ्यं सम्पादनायैव पौरुषेयत्वं जानद्भिरपि भवद्भिः स कर्ताऽपह्नुत इति ।

ये तावदस्मानेवोपहसन्ति भवतामेव तीर्थकारा वेदस्येश्वरकृतत्वमुद्घोष्य पौरुषेयतां विस्पष्टं साधयन्ति, कथं भवद्भिस्यो देशान्तरीय उपालभ्यतेऽस्मिन् विषय इति तान्प्रति इदमेव प्रतिवक्तुमभिलषामो वयम्, न तैस्तीर्थकारैः सहास्माकं न हि ते अस्मादृशाः पुरुषकृतत्वमर्वाचीनकालिकत्वं वा वेदस्याभ्युपगच्छन्ति । किन्तु सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतः परमेश्वरस्यैव तदङ्गीकुर्वते नैक्तावता पञ्चसहस्रेभ्योः वर्षेभ्योः पूर्वं नासीद्वेदराशिरित्यधगम्यते । न वयं पाश्चात्या इव ततः पूर्वं जगदभाववादिनः अस्माकं तु कल्पा बहवः तेऽपि कल्पपूर्वाः अतोऽस्मिन् कल्पे वेदराशिरयं प्रथमं निर्मित इति केन वा सूक्ष्ममतिनाऽपि वक्तुं शक्यते ।

"प्रति मन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयत" इति इदमपि पूर्वपूर्वकल्पे श्रुतेरस्तित्वमवबोधयति । पूर्वमन्वरस्थितानु पूर्वीसदृशानुपूर्विका एतत्कलपीया श्रुतिरपि इति तु परं युक्तियुक्तमेव । अतो वेदरशिरीश्वरकृतत्ववादिनस्तेपि तीर्थकारा अपौरुषेयत्ववादिभ्यो मीमांसकेभ्यो नातिदूरं गच्छन्ति । परन्तु ईश्वरकृतत्वमपि न तैः प्रमाणेन साधयितुं शक्यते । किन्तु शब्दोच्चारणस्य लोके पुरुषकृतत्वदर्शनात्

वेदिकस्यापि शब्दराशेः तदानुपूर्व्या वा पुरुषकृतत्वं सामन्यतोऽनुमीयमाना अस्मदादेस्तत्र कर्तृत्वासंभवात् ईश्वरमेव कर्तारमभिमन्वते ।

मीमांसकास्तु 'सर्वोऽप्युत्सर्गः सापवादः' न हि लोकिकशब्दसन्दर्भस्य पुरुषकृतत्वे वैदिकशब्दराशिनाऽपि तथैव भाव्यमिति समोऽस्ति नियमः सर्वं तु प्रमाणसमधिगम्यम् । यदि वयं प्रमाणेनोपलभामहे तर्हि निश्चेतुं शक्नुमः लौकिकेषु शब्दराशिषु सुदृढेन प्रमाणेनोपलभामहे कर्तारमिति तत्र सकर्तृतामङ्गीकुर्मः । अयमेवाशयः तस्मात्कारणादवगच्छामो, न कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारार्थं केन चिद्वेदाः प्रणीता यद्यपि च विस्मरणमुपपद्यते तथापि न प्रमाणमन्तरेण सम्बन्धान्तरं प्रतिपद्यामहे । तथा विद्यमानस्याध्यनुपलभ्यो भवतीति, नैतावता विना प्रमाणेन शशविषाणं प्रति पद्यामहे इति येऽपि हि पौरुषेयतां मन्यन्ते तेऽपि नैव परम्परया तत्र कर्तृविशेषस्मरणं शक्नुवन्ति वेदितुम् । अतोऽस्मत् प्राचीनानामस्माकं च अद्य यावदयमे निर्णयो वेदो न कृत्रिम इति ।

तत्र ह्येवमस्मत्वप्राचीना अभिसंदधन्ति, वेदे यानि नामानि श्रूयन्ते, यानि चाख्यानानि न तानि विशिष्टानि केषांश्चिद्राज्ञां तुरुषविशेषाणां वा नामान्यासन् तच्चरितानि वा तत्रेयं रीतिसुहृताबहुभिः । अतो वेदस्थितान्येव नामानि एभिः स्वनामत्वेन परिकल्पितानि न तु तदाचरितानि दृष्ट्वा तदनन्तरं वेदो रचित इति वेदेन नामरूपे व्याकरणोत्सृता सती प्रजापतिः ।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेद शब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः ॥

यद्यपीदमाधुनिकानां पाश्चात्यशिक्षासुशिक्षितानां तत्संसर्गकलितसंस्कारविशेषाणां विचारेषु वेदानामपौरुषेयत्वं साम्प्रतमपि सन्दिग्धमेवाऽस्ति, तथापि अत्र परिश्रम्यतामाचार्याणां योऽस्मिन्विषये सुदृढो निश्चय आसीत् । स प्रेक्षावतां पुरतो निक्षिप्त इति ।

4

ऋग्वेद-काल सामाजिकी व्यवस्था । (1983)

अथवा

वैदिकी संस्कृतिः ।

ऋग्वेदः निर्विवादरूपेण विश्व पुस्तकालयस्य प्राचीनतमकृतिरस्तीत्यभिधीयते । प्राचीनभारतीयेतिहासस्य पुनर्निमाणे ऋग्वेद संहितायाः अत्यधिकमहत्त्वं वरीवर्ति । यद्यपि ऋग्वेदसंहितायाः रचना धार्मिकोद्देशेन जाता, तथापि "साहित्यं समाजस्य दर्पणं भवति" इत्युक्त्यनुसारेण अस्यां संहितायामपि तत्कालीनसमाजस्य विभिन्न दशानां प्रतिबिम्बं स्पष्टतः दरीदृश्यते । प्राचीनार्याणां सभ्यतायाः परिज्ञाने ऋग्वेदादधिकं न किमपि साधनं वर्ततेऽधुना ।

ऋग्वेदसंहितायाः सर्वाधिकमहत्त्वपूर्णा विशेषता इयमस्ति यदस्यां संहितायां न केवलं एकस्याः विकसितसभ्यतायाः चित्रणं प्राप्यते प्रत्युत् तत्र एकस्याः विकासं लभमानायाः सभ्यतायाः चित्रणं संलक्ष्यते । ऋग्वेदस्य अनुशीलनेन वयं जानीमहो यद् कथं सप्तसिन्धुप्रदेशे आर्याणां महनीया संस्कृतिः समाच्छादिता समुल्लसिता चासीत्, कथं हि आर्याणां सप्तसिन्धुप्रदेशतः गंगायमुनाप्रदेशाभिमुखं प्रसारः जातः कथं तेषां धार्मिकसिद्धान्तानामपचयः संजात, कथञ्च वर्तमानभारतीयसमाजस्य प्राणस्वरूपायाः जातिप्रथायाः विकासः सम्भूतः । नूनमेव आर्याणां विकासमाना तरुणीसंस्कृतिर्गौराङ्गना ऋग्वेदसंहितोद्याने स्वप्रस्फुटं सौन्दर्यं प्रदर्शयन्ती नितरां सुशोभते ।

ऋग्वेदस्याध्ययनेन विदुषां मान्यता वर्तते यदस्मिन् काले जातिप्रथा नासीत् । अस्मिन् समाजे कतिपयवर्गाः अवश्यमेव आसन् । ये जनाः धार्मिककृत्यै सम्बद्धाः आसन् ते 'ब्रह्म' इति अभिधानेन युक्ताः संजाताः । ये शासनं कुर्वन्ति स्म ते 'राजा' इत्याख्याः अभूवन् । सामान्यजनाः 'विश' इत्युपाधियुक्ताः अवर्तिषत् । क्रमशः इमे वर्गाः वंशानुगततां प्रति अग्रेसराः भूताः । ऋग्वेदस्य पुरुषसूक्ते सर्वप्रथमं चतुर्णां वर्णानां उत्पत्त्याः उल्लेखः दृश्यते—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्
बाहू राजन्य कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।। ऋग्वेद ।।

मन्त्रोऽयं दशममंडलस्य वर्तते । दशममंडलं विद्वज्जनैः सर्वेषु मंडलेषु अर्वाचीनं स्वीकृतम् । ऋग्वेदकालस्य प्रारम्भिक समाजे काऽपि जटिलता नासीत्, परञ्च क्रमशः ब्राह्मणक्षत्रियविशादीनां वर्णानां प्रादुर्भावो बभूव, ऋग्वैदिककाले ब्राह्मणस्य पुत्रः एव ब्राह्मणः स्यात् इति सिद्धान्तो न प्रादुर्भूतः । ऋग्वेदस्य साक्ष्यं प्रदर्शयति यत् शान्तनोः अनुजेन देवापिना ब्राह्मणत्वमङ्गीकृतम् ।

ऋग्वेदस्य विवाहसूक्तम् दर्शयति यत् तस्मिन् काले विवाहस्य तादृशी एव स्थितिः आसीत् यादृशी आधुनिक हिन्दुजनेषु वर्तते । तैः पाणिग्रहणं एकं पवित्रबन्धनं स्वीकृतम् । बालविवाहस्य, विवाहविच्छेदस्य निकटबन्धुजनेषु विवाहस्य च स्थितिः तस्मिन् समये न सिध्यति । विधवाविवाहस्य निषेधस्योल्लेखः ऋग्वेदे न प्राप्यते ।

ऋग्वैदिककाले स्त्रीणां समाजे आदरणीयस्थानमासीत् । ऋग्वेदः स्पष्टतः स्त्रीशिक्षायाः स्थितिं प्रदर्शयति । ऋग्वेदस्य कतिपयऋषिकाः अपि सन्ति । ऋग्वेदस्य साक्ष्यं पर्दाप्रथायाः अभावं स्पष्टतः उद्घोषयति । ऋग्वेदस्यायं मन्त्रः नूनमेव पर्दाप्रथायाः अभावस्यैव परिचायकः—

'सुलक्षणी इयं वधू इमां समेत पश्यत ।'

विवाहेषु कन्यायाः इच्छा तत्समये न गौणा आसीत् । पत्न्याः गृहे आदरणीयस्थानमवर्तत । धार्मिककृत्येषु पत्न्याः उपस्थितिः अनिवार्या आसीत् । ऋग्वैदिककाले संयुक्तपरिवारप्रथायाः दर्शनं भवति । परिवाराः पितृसत्तातमकाः अभवन् ।

आर्यजनाः काष्ठनिर्मितेषु ग्रामेषु न्यवसन् । प्रत्येकगृहे एका अग्निशाला अभवत् । ऋग्वेदे मित्रस्य वरुणस्य च सहस्त्रस्तम्भानां प्रासादस्योल्लेखोदृश्यते । अत एव संभवतः राजहर्म्याणि अपि विशालानि अभूवन् । ऋग्वेदे अनेकस्थलेषु 'पुर' शब्दस्योल्लेखः विद्यते । इमानि पुराणि वस्तुतः दुर्गाणि आसन्, येषां प्राकाराः मृण्मयाः ववृतिरे ।

ऋग्वैदिककाले शिक्षायाः महत्त्वपूर्णस्थानमासीत् । ऋग्वेदस्य एकस्मिन् सूक्ते वर्षाकाले ददुराणां रवस्य तुलना गुरोः वाक्यानां आवृतिं कुर्वाणैः शिष्यैः सह कृता, इदं द्योतयति यत् एकस्य गुरोः समीपे अनेकशिष्याः भवन्तिस्म, शिक्षा मौखिकी चासीत् ।

ऋग्वैदिककाले अर्याणां प्रधानव्यवसायः कृषिः आसीत् प्रत्येककुटुम्बस्य एकं क्षेत्रमभवत्, क्षेत्रस्य कर्षणं च लांगलेन बभूव । ऋग्वेदे यवधान्यस्य चोल्लेखः वर्तते । क्षेत्राणां सेकस्यापि सम्यक् प्रबन्ध आसीत्, यतोहि ऋग्वेदे कूपानां कुल्यानाञ्चोल्लेखो दरीदृश्यते ।

ऋग्वैदिककार्याणामपरः महत्त्वपूर्णव्यवसायः पशुपालनमासीत् । गोधनमेव आर्याणां बहुमूल्यधनं निगदितम् । मूल्यनिर्धारणं धेनुना भवतिस्म । गोदोहन दिवसे त्रिवारं समपद्यत । वृषभाणां उपयोगः क्षेत्रेषु शकटेषु चासीत् । आर्याणामन्यः उपयोगी पशुः अश्वः आसीत् यस्योपयोग रथे ववृते ।

ऋग्वैदिककाले भिषक्कार्यमपि महत्त्वपूर्णमासीत् । शिल्पसम्बधिनः अपि अनेके व्यवसायाः आसन् । स्वर्णकारः अलंकारनिर्माणमकरोत् । तक्षकः रथानां शकटानां नौकानाञ्च निर्माणं चकार । व्यापारः वस्तुविनिमय द्वारा अविद्यत । ऋग्वेदस्य अन्तःसाक्ष्येन समुद्रयात्रायाः स्थितिरपि सिध्यति । ऋग्वेदेकोऽपि व्यवसायः समाजे निम्नश्रेण्याः न परिगणितः ।

आर्याणां परिधानेषु द्वे वस्त्रे प्रमुखे आस्तां उत्तरीयं शाटिका च । स्वर्णालंकाराणामपि पर्याप्तः प्रचार आसीत् । स्त्रियः अनेकप्रकारेण केशसंस्कारान् चक्रुः । कतिपयजनाः कूर्चधारिणः आसन् कतिपये च मुण्डितवदना ।

ऋग्वैदिकार्याणां भोजने प्रधानतत्त्वं धृतं दुग्धञ्चासीत् । ऋग्वेदे क्षीरोदनस्यापि उल्लेखः विद्यते । शाकफलादीनामपि उपयोगः प्रचुरतया अभूत् । आर्याणां प्रधानपेयं सोमरसः आसीत् । साधारणजनाः सुरानामधेयंमादकद्रव्यं पपुः, परञ्च ऋग्वेदे सुरायाः निन्दा संलक्ष्यते ।

आर्याणां राजनीतिकजीवनस्य ऋग्वेदे न पर्याप्तः परिचयः प्राप्यते । तत्समये राष्ट्रस्य एको राजा अभवत् । राजा साधारणतः वंशानुगतः अवर्तत । प्रजायाः रक्षणं नृपस्य परमो धर्मः आसीत् । राजा प्रजाजनेभ्यः बलिग्रहणमकरोत् । ग्रामणीसेनानीपुरोहितादयः खलुनृपस्य सहायकेषु परिगणिताः । ऋग्वेदे दूतानां स्पशानाञ्चोल्लेखः परिलक्ष्यते । नृपस्य निरंकुशता ऋग्वेदस्य अन्तःसाक्ष्येन न सिध्यति । ऋग्वेदे समायाउल्लेखः वर्तते । नृपस्योपरि समायाः नियन्त्रणमासीत् । सभासम्भवतः समाजस्य

मान्यपुरुषाणां संस्था आसीत् । युद्धे रथानां प्रयोगः भवति स्म । धनुषः बाणश्चार्याणां प्रधानायुध आसीत् । योद्धा स्वशरीरे कवचं दधार मूर्ध्नि शिरस्त्राणञ्च ।

ऋग्वैदिककार्यजाति एका धर्मप्रधाना जातिः आसीत् । तेषां देवानां सत्तायां प्रभावे च दृढः विश्वास आसीत् । ऋग्वेदस्याधिकांशदेवताः प्राकृतिकतत्त्वानां प्रतीकाः सन्ति । इन्द्रः ऋग्वेदकालस्य राष्ट्रियदेव आसीत् । स युद्धस्य विजयस्य च देवः अस्ति । तस्मिन्समये आर्याः अनार्यैः सह संघर्षरता आसन् । अत एव युद्धस्य विजयस्य च देवस्य इन्द्रस्य अनेकमन्त्रेषु स्तुतिः समवलोक्यते । वरुणः अपि ऋग्वेदकालस्य महत्त्वपूर्णदेवः अभूत् सः प्रत्येक मनुष्यस्याचरणं कठोरतापूर्वकं पश्यति । ऋग्वैदिककाले अन्यः महत्त्वपूर्णदेवः अग्निः संजातः । यज्ञस्य संस्था ऋग्वैदिकार्याणां धर्मस्य प्रधानमङ्गम् अवर्तत । आर्याः अग्निमध्ये विभिन्नदेवानां कृते आहुतीः समर्पयन्ति स्म । ऋग्वेदे मूर्तिपूजायाः उल्लेखस्य सर्वथाभाव दृश्यते । ऋग्वेदे अनेके देवाः असुरेति उपाधिना अभिहिताः समवलोक्यन्ते, परञ्च पश्चात्वर्तिकाले असुरा देवानां प्रतिद्वन्द्विनः संजाताः ।

ऋग्वैदिकार्याः आशावादिनः, उदाराः, परक्रमशीला चासन् । ऋग्वेदसंहितायां विकासं लभमाना सभ्यता आर्याणां पराक्रमस्यैव कथां कथयति । तस्मिन् समये आर्याः प्रगाढ़रूपेण अनार्यैः सह संघर्षरताः आसन् । तैः पराक्रममवलम्ब्यैव तीर्णा दुस्तीर्णा अनेकसंघर्षनिम्नगा । या आर्यसभ्यता ऋग्वेदकाले सप्तसिन्धुप्रदेशे एव विद्यमाना आसीत् सा एव क्रमशः स्वप्रसारं लब्ध्वा सम्पूर्णोत्तरभारते समाच्छादिता । सम्पूर्णोत्तरभारते दोधूयमानाः संभूताः खलु आर्यसभ्यतायाः महनीयादर्शाणां पताकाः नूनमेव ऋग्वैदिकार्याणां समाजस्यादर्शाः परमोदात्तः आसन् । अस्माकं देशस्य प्राचीनार्यसभ्यतायाः उज्ज्वलान् आदर्शान् स्मारं स्मारं अद्यापि खलु भिद्यते हृदयग्रन्थिः उत्फुल्लते चेतः । अनया ऋग्वेदोक्तसामाजिकीव्यवस्थया न केवलं वयं भारतीया एव परमधन्यामन्यमाना जगद्गुरुपदपदवीमलंकुर्वाणाश्च स्मः परञ्च साहित्यमर्मज्ञा विद्वान्सोऽपि नितरामात्मानं धन्यकुर्वाणास्तस्याः व्यवस्थाया अद्याऽपि मुक्तकण्ठेन प्रशंसां कुर्वन्ति, तामनुकरणाय समुत्सुका अपि दरीदृश्यन्ते ।

5

पाश्चात्यविदुषां वेदानुशीलनम् ।

सर्वाण्यपि दर्शनानि सकलानि शास्त्राणि, सर्वाश्चोपनिषदो येषां परमरहस्यभूतानां वेदानां सौन्दर्य-सुधां सततमहर्निशं पिबन्त्योऽपि न तृप्यन्ति तेषां वेदान् अनुशीलयितुम् यथा शाकल्य-आत्रेय-गार्ग्यस्कन्दस्वामिमाधवभट्ट-नारायण-उद्गीथ-वेंकटमाधव-आनन्दतीर्थ-उवट-महीधर-भरतस्वामि-गुणविष्णु-सायणप्रभृतयः प्रीत्या

भक्त्या च नितान्तमेव प्रयासं चक्रिरे तथैव देशान्तरीया अपि विपश्चितो वेदामृतं पातुं तान् व्याख्यातुं वाऽध्येतुं प्रायतन्त ।

एतस्यां दिशि पाश्चात्यपण्डितानां चेतोऽष्टादशशतकस्योत्तरार्ध भागे आवर्जितं बभूव । 1805 तमेशवीयेऽब्दे कोलब्रुकमहोदयः 'एशियाटिकरिसर्चेज' इत्येतदभिधाने पत्रे वेदविषयकं निबन्धं लिलेख । तत्र स वैदिकवाङ्मयस्य बहूनां ग्रन्थानां विवरणेन सह तदीयां महत्ताञ्च प्रादीदृशत् सविस्तरम् । वेदानुशीलननिमित्तेन पाश्चात्यानां विपश्चितामयं आद्यः प्रयास आसीत् । एषनिवन्धः पश्चिमीयविद्वद्वराणां मानसे वैदिक-साहित्याध्ययनायोत्सुकतामजीजनत् । रोजेननामा जर्मनीयो विद्वान् सोत्साहं ऋग्वेदं सम्पादयितुम् प्रचक्रमे । परं तदीयो मृत्युर्न तं तत् स्तुत्यं कार्यं समाप्ति नेतुमादिदेश । तस्मात् केवलं प्रथममष्टकमेव प्रकाशितुं प्रकाशितं भवितुमशकत् । पेरिसस्थसंस्कृत-शिक्षकवरनूफमहाभागस्योद्योगेन तदीया व्युत्पन्ना अन्तेवासिनो वेदानुशीलनकार्ये प्रशसा-स्पदं कार्यं विदधिरे ।

षट्चत्वारिंशदधिकाष्टादशशततमेशवीये वत्सरे (1846) रूडाल्फरॉथनामा जर्मनीयो धीमान् वैदिकं साहित्यमितिहासञ्चाधिकृत्य लघुवपुष्काभेकां कृतिमरचत् । कृतेर्महीयस्कतत्वात् पश्चिमीयेषु देशेषु (यूरोपे) वेदानुशीलनं प्रति गम्भीरा प्रवृत्ति-रुदपादि । ततश्च रॉथमहोदय एकमेतादृशं ग्रन्थं महनीयभजग्रन्थत् । तत्र वेदस्य लौकिक संस्कृतग्रन्थानाञ्च पदानि (शब्दाः) तेषामर्थविकासक्रमेण सन्निहितान्यक्रियन्त । अद्भुते तस्मिन् कोशे वैदिकशब्दार्थसकलनं रॉथश्चकार, लौकिकसंस्कृतशब्दार्थनिर्णयनञ्च बोठलिंगः कृतवान् । कोषोऽयं वस्तुतोऽद्वितीयः । संस्कृतशब्दानामैतिहासिकार्थविकास-क्रमबोधकत्वान्नूनमतितरामुपादेयोऽसौ ग्रन्थः ।

रॉथमहाशयस्य मित्राणां शिष्याणाञ्च विशाला संख्या । सा वेदानुशीलन-कर्मणि उल्लेखनीयं भागं जग्राह । एतेषु केचन वैदिकग्रन्थानां वैज्ञानिकानि संस्करणानि, इतरे वैदिकग्रन्थानाम् अनुवादम्, अपरे वेदार्थावगाहनपरकग्रन्थान्, अन्ये च वैदिक-संस्कृतिस्वरूपोद्भावनकारीणि व्याख्यात्मकानि पुस्तकानि प्राणैषुः ।

ये विद्वांसो वेदमधिकृत्य ग्रन्थान् अकार्षुस्तेषु मेक्समूलरः प्रतीच्यपण्डित-कुललामः । स वेदविषयकान् बहून् ग्रन्थान् विरचय्य वैदिकसिद्धान्तं धर्मञ्च लोकप्रियतां निनाय । तदीयमतिमहत्त्वपूर्णं कार्यमस्ति सायणकृतस्य ऋग्वेदभाष्यस्य विवेचनपूर्णं सम्पादनम् । ततश्चसः 'प्राचीनवैदिकसंस्कृतसाहित्ये' वैदिकसाहित्यस्य वैदुष्यपूर्णां मीमांसां चकार, पवित्रप्राच्यग्रन्थमालायां स्वयंवैदिकग्रन्थान् अनुदितवान् किञ्चान्येषां विदुषामपि अनुवादाँस्तत्र प्रकाशयामास । डॉ. वेबरोऽपि प्रख्यातः प्रतीच्येषु प्रधीषु । स नैजपाण्डित्येना लोचकान् विस्मापयास । स यजुर्वेदसंहितां तैत्तिरीयसंहिताञ्च सम्पा-दितवान् अथ च इन्दिशेस्तूदियनाख्य जर्मनीयशोधं पत्रिकया वैदिकमनुसन्धानं च प्रवर्धयामास । आउफ्रेक्टनामा विद्वान् ऋग्वेदं रोमनलिप्यां प्रकाशयामास । जर्मनीयो विपश्चित् श्रोदरो मैत्रायणीसंहिताया वैज्ञानिकं संस्करणं सम्पाद्य काठकसंहितायाञ्च नैपुण्येन कार्यं कृतवान् । स्टेवेन्सनो राणायनीशाखायाः सामसंहितामांगलभाषायां

'वेन्फीम' महोदयाश्च लौथुमशाखायाः सामसंहितां जर्मनीभाषायामनुवादञ्चक्रतुः। रोथोहिटनी च अथर्ववेदस्य संस्करणं ललितया रीत्या प्रकाशं निन्यतुः। पिप्पलादशाखाया अथर्ववेदसंहिता काश्मीर प्रदेशात् केवलमेका संलब्धाऽभवत्। सा च अतिजीर्णां दशां गतासीत् परं प्रो. ब्ल्यूमफील्डों डॉ. गार्वे च तां छायाचित्रे परिणमय्य त्रिषु दीर्घकायेषु बन्धेषु प्रकाशयाञ्चक्रतुः। तयोरेष प्रयत्नो महान् प्रतीच्यानां विद्यानुरागिणां विज्ञानां संस्कृतभाषायाः रक्षणे महतीं प्रीतिं दृढ़ञ्चानुरागमंतुलञ्च स्नेहमभिव्यनक्ति। तत्रत्या अनेके च विद्वांसः समये समये ब्राह्मणानां श्रौतसूत्राणां प्रातिशाख्यानाञ्च शुद्धानि वैज्ञानिकानि च संस्करणानि सम्पाद्य संस्कृतभाषाया वैदिकवाङ्मयस्य चामिनन्दनीयां सेवां कृतवन्तः।

प्रो. होगमहोदयस्य ऐतरेय ब्राह्मणस्य संस्करणमथ च तदीय आंग्लानुवादोऽद्यापि स्वभूमिकाहेतोरुपादेयो वर्तते। एवमेव प्रो. लिण्डनरः कौषीतकिब्राह्मणे, डॉ. बर्नेलः सामवेदीयेषु ब्राह्मणेषु, डॉ. एर्टलो, डॉ. कैलेण्डश्च जैमिनीय ब्राह्मणे, प्रो. गास्ट्रा गोपथ ब्राह्मणे, स्टेन्सलर अश्वलायन गृह्य सूत्रे पारस्करगृह्यसूत्रे च, हिलेब्राण्टः शाखायनश्रौतसूत्रे, कैलेण्डः बौधायनश्रौतसूत्रे, गार्वे आपस्तम्बश्रौतसूत्रे, वेवर कात्यायन श्रौतसूत्रे उल्लेखनीयानि कार्याणि अन्वतिष्ठन्।

एत्तु प्रतीच्यानां बुधानां प्रामुख्येन ग्रन्थप्रणयनविषयकोऽनुरागो दिङ्मात्रेण दर्शितः। चेत् तेषां तत् कार्यं प्रति, क्षणमपि दृष्टिं प्रयाति यद्वि कार्यं तेषामनुवादविषयकं वर्तते तदा तत्कार्यमपि मानसं विस्मितं विदधाति। पञ्चाशदधिकाष्टादशशततमेऽब्द ईशवीये एच. एच. विलसनो बुधेन्द्रः सायणभाष्यानुसारेण ऋग्वेदं पूर्णमेवाग्लभाषायामनूदितवान्। ऋग्वेदस्यानुवादो जर्मनभाषायां श्रीमद्ग्रासमानलुडविभागाभ्याञ्च अक्रियत। डॉ. ओल्डनवर्गस्य ऋग्वेदे कार्यं नितान्तमेव स्पृहणीयं दृश्यते। स द्वाभ्यांबन्धाभ्यां हि ऋग्वेदस्य मार्मिकव्याख्यां विहितवान्। ग्रिफिथो यजुर्वेदस्य माध्यन्दिनसंहिताया डॉ. कीथः तैत्तिरीयसंहितायाः प्राञ्जलमनुवादमकुरुताम्। सी. आ. लैनमैनेन पूर्णतां नीतो डब्ल्यू. एच. हिटनी कृतोऽथर्ववेदानुवादो विद्वधापूर्णभूमिकावत्त्वाद् अतितरामुपादेयो वर्तते। इग्लिगस्य साध्यवसायं सश्रमञ्च कृतः शतपथब्राह्मणस्य अनुवादो नितान्तमेव श्लाघनीयः।

प्रतीच्यानां मनीषिणां वैदिकसाहित्ये कृतं स्वतन्त्रमपि कार्यं स्तुत्यं आस्ते। डॉ. मैकडानलकीथाभ्यां वैदिकसंस्कृति-सम्बद्धविषयेषु प्रणीतो 'वैदिकइण्डेक्स' इ येतन्नामधेयो विश्वकोषः कं नोपकुर्वाणां दृष्टिपथमवतरति? वैदिकव्याकरणेऽपि पश्चिमीयाः सख्यावन्तः कार्यं कृतवन्तः—ह्विटनी-मैकडनलवाकरनागेलमहाशयानां वैदिकानि व्याकरणानि शिक्षा संसारे परमप्रियतां गतानि सन्ति। वैदिकच्छन्दःस्वपि कार्यं कुर्वाणाः प्रतीच्याः सुधियो दरीदृश्यन्ते—ई. वी. आर्नाल्ड ऋग्वेदीयानि छंदास्यधीत्य 'वैदिकमीटर' नाम ग्रन्थं गुम्फितिस्म। स मन्त्राणां कालनिर्णयनस्य प्रशंसनीये कार्ये आत्मानं नियोजयामास।

वस्तुतो वैदिकवाङ्मयस्य सर्वेस्वपि क्षेत्रेषु स्तुत्यानि कार्याणि कुर्वाणा विपश्चितस्तेऽवलोक्यन्ते। वैयिकधर्मस्य धर्मान्तरेण तुलनां विधाय ते तुलना प्रधान-वैदिकधर्मविषयकान् ग्रन्थान् बहून लिखितवन्तः। अस्मिन् क्षेत्रे मेक्समूलर-मैक्डानल-हिलेब्राण्टमहाभागानां नामानि सन्त्युल्लेखनीयानि। हिलेब्राण्टस्य 'बेदिशेमार्थालोजी' व्यापकत्वा प्रामाणिकत्वाच्चोपादेये स्तः। फ्रेञ्चविदुषाञ्च श्रौतसम्बन्धिनोऽनेके ग्रन्थाः दृष्टाः भवन्ति।

वैदिकसाहित्यस्येतिहासेऽपि सुविदितास्त्रिचतुरा ग्रन्थाः प्राप्यन्ते। डॉ. बेवर एतस्मिन् विषयेऽपि स्वां लेखनीं प्रयुयोज। 'हिस्ट्री ऑफ एनशेण्ट संस्कृत लिट्रेचर' ग्रन्थो मैक्समूलर श्रौतग्रन्थानां गम्भीरानुशीलनं प्रकटी करोति। मेक्डानलयस्य विण्टरनित्सस्य च एतद्विषयका ग्रन्थाः सर्वविदिताः सन्त्येव।

प्राचीनकाले भारते तु 'अनुक्रमणी' इत्येतत्संज्ञका ग्रन्थाः प्रणीता अजायन्त एव परमस्मिन् वर्तमानानेहस्यपि प्रतीच्या विचक्षाणां एतस्मिन् क्षेत्रेऽपि कार्यं कृतवन्तः। तत्र डॉ. ब्लूमफील्डस्य 'वौदिककान्कार्डेन्सः' सुप्रसिद्धोग्रन्थो विराजते। इत्थं पाश्चात्यानां पण्डितानां वेदे वेदाङ्गे अन्येषु च वैदिकेषु विषयेषु वन्दनीयानि कार्याणि वीक्ष्यन्ते।

6

वैदिकसाहित्ये आरण्यकानां स्थानम्।

अथवा

वैदिकी संस्कृतिः।

वैदिकवाङ्मयं संहिताब्राह्मणारण्यकोपनिषदादिषु विभक्तमस्ति। साहित्यमिदं सुमहत् सम्पन्नमिति तु सर्वेषामेव विदितम्।

सर्वाणि आरण्यकानि अरण्येऽध्ययनाद् अरण्यकानि इति सायणाचार्यस्य मतम्। सायणेन तैत्तिरीयारण्यकभाष्ये लक्षितम्—

अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते॥

(तैत्ति० आ० भा० श्लोक 6)

एवमेव ऐतरेयारण्यकभाष्यावसरे—

अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते

(ऐत० आ० भा०)

एतेषामारण्यकानां विषया अन्येभ्यो ग्रन्थेभ्यो नितान्तं भिन्नाः। अस्माद्धेतोस्तेषां पठनं पाठनं च वने एव भवितुं शशाक। आरण्यकानां विषयो यज्ञो न। तत्र यज्ञयागेषु

निहितानि आध्यात्मिकतत्त्वानि दार्शनिकविचारा एव विचारणीयाः । आरण्यकेषु प्राणविद्यायाः सम्यक्तया विवेचनं वर्तते, हि तस्या अध्ययनं वने सम्यग्रूपेण भवितुं शक्नोति । आरण्यकानामनुसारेण विद्येयं, न सर्वथा नूतना, खल्वस्याः स्रोतांसि ऋग्वेदस्य मन्त्रेषूपलभ्यन्ते । प्राणशक्त्या आकाशस्य स्थितिः । प्राणशक्त्या महान्तः प्राणिनः क्षुद्रजन्तवश्च श्वसन्ति जीवन्ति च । अस्माकं सम्मुखे यद् दृश्यते तत्सर्वं प्राणेनैव संदितम् ।

गोपथ ब्राह्मणे (2–10) बौधायन-धर्मसूत्रं भाष्ये (2-8-3) आरण्यकान् 'रहस्यग्रन्थाः' ।

कालरूपेण प्राण एव अहोरात्रम् । दिवसः प्राणरूपः रात्रिरपानरूपा च । एषैव प्राणो देवरूपः । प्राणशक्त्या वागुत्पत्तिः । 'वाचि अग्निदेवस्य निवासः' इति कथ्यते । अग्निः तेजसः प्रतीकः । अस्य विततं सुमहत् । सूर्ये चक्षुषु चापि अस्य विस्तारः ।

प्राण एष ऋषिः । ऋग्वेदस्य मंत्राणां द्रष्टारो ऋषयः सन्तीति कथ्यते । आरण्यकेषु तेषां ऋषीणां कल्पना प्राणरूपे अस्ति । प्राण एव शयनकाले वागादीन्द्रीयाणां निगरणाद् 'गृत्स' इति कथ्यते । रात्रौ वीर्यस्य विसर्गजन्यमदस्य उत्पादकत्वाद् 'अपान' एव 'मद' इति कथ्यते । अनेन प्रकारेण प्राणापानयोः संयोग एव 'गृत्समद' इति कथ्यते । प्राण एव भारद्वाजः । गतिसम्पत्रत्वाद् 'वाज' इति मानवस्य देहः कथ्यते । शरीरे प्रविष्टः प्राण अस्य रक्षां विदधाति । अस्माद्धेतोः तत्प्राणः विभ्रद्वाजः ।

सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषाश्च प्राणरूपभूतत्वाद् उपासनार्हाः सन्तीति आरण्यकानां मतम् । अनेनैव हेतुना तत्रैतैः सम्बद्धानां आध्यात्मिक तत्त्वानां वर्णनं दृश्यते परं तेषां पूर्ण विकास उपनिषत्सु उपलभ्यते । इत्थम् उपनिषद आरण्यकानामन्ते परिशिष्टरूपाः सन्ति । प्राचीना उपनिषदस्तु अद्यापि आरण्यकानामंशरूपेणैव उपलभ्यन्ते । इत्थम् उपनिषद आरण्यकानामन्ते परिशिष्टरूपाः सन्ति । प्राचीना उपनिषदस्तु अद्यापि आरण्यकानामंशरूपणैव उपलभ्यन्ते । अत एव वैदिकतत्त्वमीमांसेतिहासे आरण्यकानां महद् महत्त्वमस्तीति नात्र संदेहलेशः ।

ऋग्वेदस्य द्वे आरण्यके स्तः, तयोः ऐतरेयारण्यकं नितान्तं प्रसिद्धम् । इदम् ऐतरेय—ब्राह्मणस्य परिशिष्टरूपेण अस्ति । अस्मिन् पञ्चारण्यकानि सन्ति यानि पृथग्ग्रन्था मन्यन्ते । द्वितीये आरण्यके प्राणविद्यायाः पुरुषस्य च विवेचनं वर्तते । संहितोपनिषदिति तृतीयारण्यकस्य अपरं नाम । अस्मिन् संहितापदस्वरव्यञ्जनादीनां वर्णनंकृतम् । खण्डेऽस्मिन् शाकल्यस्य माण्डूकेयस्य च मतानामुल्लेखः कृतः । चतुर्थमारण्यकं महल्लघुकायम् । पञ्चमे आरण्यके निष्कैवल्यशास्त्रस्य वर्णनं कृतमस्ति । ऋग्वेदस्य अपरम् आरण्यकं शांखायनारण्यकमस्मिन् उपनिषदामनेकानि उदाहरणानि सन्ति ।

शुक्लयजुर्वेदात्सम्बद्धं वृहदारण्यकम् । तत्र आत्मतत्त्वस्य सम्यग्विवेचनमस्ति । एकमन्यदारण्यकं तैत्तिरीयारण्यकम् । अस्मिन् अनेका विशिष्टाः कथाः सन्ति । ऋग्वेदे एतादृशा बहवः शब्दाः सन्ति येषामर्थो न ज्ञायते । व्युत्पत्यैव अर्थः संभवति । तैत्तिरीयारण्के यत्र तत्र वैज्ञानिकरीतिकृता महती उपयोगिनी उत्पत्तिरूपलभ्यते । कश्यपस्य अर्थः सूर्यो भवतीति हि अत्र अनेन आरण्यकेन कृता अस्य शब्दस्य व्युत्पत्तिः । सामवेदस्य तवलकारण्यकमस्ति । अथर्ववेदस्य कच्चिदपि न आरण्यकम् ।

अनेन प्रकारेण वयं पश्यामो यद् ऋग्यजुषसामाथर्वणा इति चत्वारो वेदाः सन्ति । तैः सम्बद्धानि आरण्यकानि अपि उपलभ्यन्ते । यद्यपि दार्शनिकतत्त्वानां पूर्णविवेचनं तु उपनिषत्सु वर्तते, परं तेषां वीजम् आरण्केस्वेवोपलभ्यते ।

7

उपनिषदाम् प्रतिपाद्यविषयाः ।

उपनिषदः पराविद्येतिपदेन व्यपदिश्यन्ते । 'ब्रह्मविद्या' इत्येतया अपरया च संज्ञया सुविदितास्ता विदुषां संसारे । तासु महर्षय आध्यात्मिक्या विद्याया गूढतमानां रहस्यानां विशदतया विचारं कुर्वाणा प्राप्यन्ते । भारतीयदर्शनसाहित्ये सन्ति त्रयः प्रस्थानग्रन्थाः । ते वेदान अवलम्बमाना मानवजीवनस्य चरमं लक्ष्यं तत्प्राप्ति-साधनञ्चोपदिशन्ति । भारतीय विचारशास्त्रस्य श्रेष्ठोपजीव्यग्रन्थत्वात् उपनिषदः प्रस्थानत्रय्यां प्रथमप्रस्थानत्वेन गृह्यन्ते । श्रीमद्भगवद्गीता द्वितीयं प्रस्थानमिति कथ्यते । बादरायणव्यास प्रणीतं ब्रह्मसूत्रं तृतीयप्रस्थानमस्ति । भारतीयवैदिकधर्मग्रन्था दर्शनानि च इमामेव प्रस्थानत्रयीवलम्बन्ते ।

उप-निपूर्वकस्य विशरणगत्यवसादनार्थकस्य षदलृधातोः क्विबन्तस्य रूपमिद-मुपनिषदिति । उपनिषदामध्ययनेन दृष्टानुश्रविकविषय वितृष्णमुमूक्षूणां संसारस्य बीजभूताविद्या नश्यति ब्रह्म प्राप्तं भवति दुःखानि च क्षीणानि भवन्ति । ब्रह्मणः स्वरूपस्य तदवाप्तुपायस्य जीवस्य जगतश्च किञ्चात्मादिविषयाणां सविस्तरं वर्णनपरत्वात् 'उपनिषद्' इत्येषा संज्ञा युक्तैव सार्थकैव ।

'सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्' इत्येतन्मुक्तिकोपनिषद्वाक्येनज्ञायते यद् उपनिषदष्टोत्तरशततोऽप्यधिकाः आसन् । प्राप्तासु अष्टोत्तरशतसंख्याकासूपनिषत्सु प्रायेण द्वादशोपनिषदः प्राचीनत्वात् विशदतया च विषयस्य प्रतिपादकत्वादतितरां प्रामाणिका मता भवन्ति । आचार्यशंकर उपनिषत्सु यासु भाष्य लिखित ताः सन्ति इमाः—

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य तैत्तिरीयैतरेयच्छान्दोग्य-वृहदारण्यक-नृसिंह-पूर्वतापन्युपनिषदः

शङ्कराचार्य-भाव्यविभूषितत्वमदिमा उपर्युक्ता उपनिषदोऽतिमहत्वं भजन्ते लोकप्रियत्वाञ्चासां पठनं पाठनञ्चाधिक्येन साम्प्रतं भवति ।

उपनिषत्सु अद्वैतविशिष्टाद्वैतश्रुतोनां सद्भावोभाति । आचार्यैः स्वसिद्धान्त-प्रतिष्ठापिकाः श्रूतयः प्रधानत्वेन स्वीकृताः, अन्यासां श्रुतीनां गौणत्वञ्च तैरुपपादितम् । वस्तुतः उपनिषत्सु दर्शनानां सर्वेषामापि बीजानि निहितानि सन्ति, अत्र न केवलमस्तिक-दर्शनानामपि तु नास्तिकदर्शनानामपि मूलसिद्धान्ताः समुपलभ्यन्ते । सत्यं हि इदं यदुपनिषद ऋषीणामाध्यात्मिक विचाराणां मनोज्ञो बहुमूल्यशाली च महान् कोषः ।

उपनिषदां प्रधानत्वेन प्रतिपाद्यो विषयोऽस्यात्मा । संहितात आरण्यकं यावत्दद् ब्रह्म आत्मनो भिन्नमित्येतेन रूपेण प्रतिपादितमस्ति तदुपनिषत्सु ततो न भिन्नमित्येतेन प्रकारेण व्याख्यातमस्ति । द्वयोरप्यभिन्नत्वात् दैवाध्यात्मिकतत्वयोरेकत्वाच्चात्मैवैकः सर्वत्र न च तं विहाय कोऽप्यन्यः पदार्थ इत्युपनिषद्भिर्युक्तिभिः साधु निरणायि । तच्चात्माख्यं तत्त्वं पूर्णमस्ति । तदेव तत्त्वं द्रष्ट तदेव च दृश्यम् । आत्मैव सर्वव्यापी वर्तते विश्वस्य सर्वेष्वपि पदार्थेषु स एव व्याप्तोऽस्ति । तस्मिन्नेव समग्रस्यापि प्रपञ्चस्य लयो भवति । ततो व्यतिरिक्तं न किमपि । अत एव बृहदारण्यकोपनिषदाह—

'स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयाचक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय वायुमयो..........सर्वमय.............' ।

एतेन भवतीति स्फुटं यत् संसारस्य यावन्तोऽपि सन्ति स्थूला वा सूक्ष्माः पदार्था सर्वेऽपि नात्मनो + भिन्नाः । ऋषिभिर्बहुधा स आत्मा वर्णितः । कथयन्ति ते यत् आत्मैव प्राणापानव्यानोदानवायुरूपेणास्मच्छरीरेऽभवति । आत्मनो ज्ञानानन्तरमेव मानवः सुतसम्पत्सुन्दरीस्वर्गादिसमवांत्तीच्छातो विरतोभूत्वा परिव्राजो जीवनं वहति । सर्वेऽपि दर्शनकारा अत एवेदं परमतत्त्वमात्वमात्माभिधेयं विभिन्नरूपेण स्व-स्वमूलतत्त्वं मत्त्वा भिन्नभिन्नया दृष्टिसरण्या भिन्नभिन्नदर्शनानि व्यरस्चन् ।

ब्रह्मतत्त्वं यः कोऽपि जिज्ञासति ज्ञातुं शक्नुते, यः कोऽपि मानवस्तत् लिप्सति लब्धुं प्रभवति । तदर्थं तपस्या काम्यते अभिलष्यते सत्यानुरागो बलिष्ठा निष्ठा विमलञ्च ज्ञानम् । नायमात्मा वेदाध्ययनेन लब्धुं शक्यो न च सद्धारणाशक्त्यैव । उपनिषद आहुः —

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम ।

ब्रह्मणो मूर्तामूर्तभेदेन रूपद्वयम् । तदस्ति मर्त्यमर्त्यञ्च स्थिरमस्थिरञ्च । स्वलक्षणां लक्षणातीतञ्च । तत् परमात्मेत्येतदप्युच्यते । अयमेव परमात्मा अविद्याहेतो-र्बन्धने निपत्य जीवात्मेत्येतदपि निगद्यते । गतजतुः कर्मवशात् सुखानि दुःखानि च भोक्तुं जगति जन्म गृह्णाति । पुनः पुनः जायते म्रियते च । स्वप्नावस्थायां लोकद्वयस्यापि ज्ञानमाप्नुते । उपनिषदो वदन्ति यज्जीवो भोगनिमित्तेन स्वप्ने स्वयं नवनवविषयाणां सृष्टिं कुरुते । परं वस्तुतः स्वप्नस्यापि सृष्टिरस्ति ब्रह्मण एव । जीवात्म ब्रह्मणोरेकत्वात् ।

उपनिषदां कथनमेतत्—वर्तमानसमये जीवाः स्वकीये जीवने यादृशं कर्म आचरन्ति ते भाविनि काले तादृशनेव जीवनमपि लप्स्यन्ते । सन्ति कर्माण्येव जीवन-घटकानि । जीवनं ह्युत्तमं सर्वविधतया समुन्नतञ्च कर्तुं सततं शुभान्येव कर्माणि कर्त्तव्यानि । ज्ञानाद् ऋते न मुक्तिस्तस्मात् ज्ञानाधिगमनं योगाभ्यासेन सम्भवम् । सत्कर्मकर्त्ता जीव उपरते सति सत्स्वरूपं सद्देशं सच्छरीमश्नुते । एतनैव स्फुटं जीवस्यास्मात् लोकात् परलोकगमनं तत् तद् भोगाधिगमनञ्च । विद्यादशां प्रपन्ना एव जना जीवन्मुक्ता उच्यन्ते । जीवन मुक्ततायां प्रारब्धकर्मानुरूपं जीवस्य स्थूले शरीरे सन्तिष्ठते नष्टे च सति प्रारब्धकर्मणि शरीरमपि निपतति । तत च जीव स्वकीयस्य रूपस्य प्रत्यक्षभावनानुभूतितं कुरुते ।

सृष्टि वर्णनमप्युपनिषत्सु कृतमस्ति । तत्रोक्तम् आदौ सृष्टिर्नासीत् किमपि, केवलं मृत्युरेवर्तत । ततः मनः सलिलानलभुवः समद्भूताः । प्रजापतेरनन्तरं सुरासुराश्चोद्भूकः । क्वचिदिदमप्यभिहितं प्रथमं पुरुषस्य ततश्च स्त्रिया उत्पत्तिरभवत् । ताभ्याञ्च विश्वस्य सृष्टिरभूत् । एतद्विधताया वर्णन छान्दोग्योपनिषदि बृहदारण्यके च दृष्टं भवनि । उपनिषदामध्ययनेन ज्ञायते यत् सर्वतः प्रथममेकमव्यक्तं रूपमासीत् । तस्मादेव व्यक्तमिदं जगत् सृष्टमभूत् । इदमव्यक्तं रूपं हि 'परब्रह्म' अस्ति । समस्तमपि जगत् तस्मादेव प्रादुर्बभूव । अन्ततश्च तत् तस्मिन्नेव लीयते—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।
तेन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्भिसंविशन्ति ।
तद् ब्रह्म एव जगतो निमित्तकारणमुपादानकारणञ्चास्ति ।

उपनिषत्सु कर्मगतिरपि सविस्तरं वर्णितास्ति । तत्र देवयानपितृयानयोर्निरूपणमालोक्यते । पुण्यकर्मभ्यः पुरुषः सुयोनिमध्ये पापेभ्यश्च कर्मभ्यः कुत्सितायां योन्यां जननमुपाददाति ।

आत्मानं द्रष्टुं किं वा ब्रह्म ज्ञातुं जीवस्य कर्तव्यमिदं यत् सः कायं वाचं मानसञ्च संयच्छेत् । किञ्च ब्रह्मणः साक्षात्कारायं सत्यस्य आचरणं, न कस्यापि वस्तुनोऽपहरणं, ब्रह्मचर्यस्य रक्षणम्, इन्द्रियाणां निग्रहणं, हिंसायाः परित्यजनं, मातृपितृदेवातिथिगुरुजनानामभ्यर्चनं, निन्दनीयकर्म परिवर्जनीयं, सांसारिकेषु विषयेषु विरंजनम्, अन्तःकरणस्य परिक्षालनमतितरामपेक्ष्यन्ते ।

परिशुद्धेन कायेन वचनेन हृदयेन अहंभावरूपस्थितं प्रत्यक्चेतनमवबोद्धुं प्रयतेत जीवः । दतर्थं निदिध्यासनमपेक्षितमस्ति । अहम्भावविनाशनाय सर्वाण्यप्येतानि कार्याणि कर्त्तव्यानि सन्ति । शान्तो दान्तः शुद्धान्तः करणः साधकः 'अहं ब्रह्म अस्मि' इत्येतं गुरुपदेश निशम्य स्वमेव आत्मनि ब्रह्मणोऽनुभूति कर्तुमारभते । साधकोऽभ्यास-वशात् शनैः शनैः 'तत्' 'त्वम्' 'अहम्' अयम् इत्यादि समग्रभावनास्तथाभावयत्यात्मनि यत् स 'तत्-त्वम्' इत्येतयोर्वा 'अहम्', 'अयम्' इत्यंनयोर्मध्ये ऐक्यमेवानुभवति । "एकेन विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति" इत्येतदुपनिषद्वचसोऽनुसारेण स साधकः

सर्वपदार्थविबोधान्तरं सर्वं खल्विदं ब्रह्म इत्येतत् साक्षात् भावेनानुभवति। ततश्चासौ संसार-बन्धनान्मुक्तिमवाप्य अनामयं सच्चिदानन्द-पदं प्रपद्यते।

इत्थं ह्य पुनिषदुपदेशनिष्कर्षोऽयं यदेकमेव तत्त्वमस्ति। तस्मादेव समग्रोऽपि संसारः समुत्पद्यते पुनश्चान्ततस्तत्रैव लीयते। श्रुतिश्चामनतिवाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। निर्गुण-सगुण भेदेन ब्रह्म द्विविधम्। तत्र निर्गुणं ब्रह्म न वक्तुं शक्यम्। तदस्ति सर्वथैव वागगोचरम् निषेधमुखेनैव तद वर्ण्यते यत् तदिदं न। अत एव श्रुतयो नेतिनेतीत्युक्त्वा तद् गायन्ति। कठोपनिषद् आह—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महनः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥

बृहदारण्यकोपनिषदि याज्ञवल्क्यः तदधिकृत्य गार्गीमित्यमुपदिशतिगार्गि। न तदक्षरं ब्रह्म स्थूलं नाणु न ह्रस्वं न दीर्घम्। तद् असङ्गरसगन्ध-रहितम्।" केनोपनिषत् तन्निष्प्रपञ्चं ब्रह्मवर्णयत्येवम्—

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

मुण्डकोपनिषदेवमुद्गायति तत्—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथासतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतहि विश्वम्॥

कस्यचन वस्तुनो बोधाय तल्लक्षणमपेक्ष्यते। लक्षणञ्च तटस्थ-स्वरूप-भेदेन द्विविधं भवति। तटस्थलक्षणेन वस्तुनोऽस्थायिपरिवर्तनशीलगुणा वर्ण्यन्ते। स्वरूप लक्षणेन च वस्तुनः शुद्धं रूप तात्विकञ्च रूपमुपलभ्यते। सगुणब्रह्मण उभयविधं लक्षणं ह्य पनिषत्सु प्राप्यते। स्वरूपलक्षणेन ब्रह्म सत्यं ज्ञानमयं चानन्तरूपमस्ति। उक्तञ्च तैत्तिरीयोपनिषदा—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। तच्च ब्रह्म विज्ञानमानन्दञ्चास्ति।

बृहदारण्यकोपनिषदाह—"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"।

उपनिषत्सु ब्रह्मणःस्त्रिस्वाभाविकशक्तीनामुल्लेखः कृतोऽस्ति। श्वेताश्चेतरोपनिषदाह—

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'।

सगुण ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणं छान्दोग्योपनिषदेवं प्रस्तौति—

"तज्जलानीति शान्त उपासीत"।

सगुण ब्रह्म ससारस्यास्य शास्तृ निखिलस्यापि जगतो हि जीवानां भाग्यस्य विधातृं वर्तते। शुभकार्यकर्तॄणां जीवानां तत् कल्याणसम्पादयितृ, मुक्ति-भुक्ति-प्रदातृ, अशुभकर्मकारिप्राणिनिग्रहीतृ च। तदेव सगुणं ब्रह्म ईश्वर-विराट्-हिरण्य-गर्भ संज्ञाया व्यपदिश्यते। अस्य विश्वस्य सर्वेऽपि प्राणिनस्तस्यैव शरीरमिति कथ्यन्ते। सगुणत्वात् तत् पादाभ्यां चलति, हस्ताभ्यां कार्यं करोति, नेत्राभ्यां पश्यति।

उपनिषदां व्यवहारविषयकः पक्षो नितरां मनोऽभिरामः । दार्शनिकानि तत्त्वानि व्यवहारे प्रयुज्योपनिषद् विद्या मानवीय जीवनमतितरां रमयति इत्येतद्धि तदीयं ललितं वैशिष्ट्यम् । उन्नतं समृद्धञ्चाध्यात्मिकपथमारोढुं बहवः सद्गुणाः सत्यपेक्षिताः । अतः उपनिषदो मनोरमाख्यायिकाः निधाय जनसमुदायं तान् सद्गुणान् वरीतुमुपदिशन्ति । आत्मसंयम-तपोदानार्जवाहिंसासत्यादिसद्गुणा जीवनं निःसन्दिग्धतया समुन्नमयन्ति तस्मात् ते उत्तमा गुणा उपनिषद्भिस्तथा आलेखिताः यत् अलोक्यतान्, जन मानसं झटिति तान् स्वीकर्तुमुपक्रमते । तैत्तिरीयोपनिषत् "सत्यं वद, धर्मं चर" इत्यादिना, छान्दोग्योपनिषत् सत्यकामजाबालकथादिभिः, प्रश्नोपनिषद् अनृतनिन्दादिना, मुण्डकोपनिषत् सत्यश्लाघादिना संसारं सन्मार्गं दर्शयन्त्यो हि केन न प्राप्यन्ते ?

उपनिषदो वस्तुतो भारतीयाध्यात्मिकसाहित्यस्य परमभास्वराणि रत्नानि सन्ति । तेषां ह्युपनिषद्रत्नानां दिव्यया हि आभया को न भुवि मतिमान् आवर्जितो नु जातः । शाहजहाँसुतस्य दाराशिकोहस्योपनिषत्प्रेम जगति विदितमेव ।

वैदेशिकानां विपश्चितां समक्षे यदैवायमलौकिको विश्वाभिरामः प्रकाशः समागतस्तदा तत्क्षणमेव ते विद्वांसोऽमुह्यन् । एक्वेटिल डुपेरनो लैटिनभाषायामनूदितवानुपनिषदः । औपनिषत्के साहित्ये श्री जे. डी. लंजुईनासो यत्कार्यं श्रमञ्च चकार तत्स्तुत्यम् । वेबर महोदयस्योद्योगेन तु उपनिषद्ज्ञानस्य प्रचारः समग्रेऽपि पश्चिमेऽभवत् । उपनिषदामनुवादस्तेन जर्मनभाषायां कृतः । अन्ये च पालड्यूसन आर. ई. ह्यूम शोपेनहार-मैक्समूलरप्रभृतिविद्वांसोऽतितरामुपनिषत्सु भक्तिं प्रकटीचक्रुः ।

8

एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति । (1982)

अथवा

वैदिकवाङ्मये देवत्वम् । (1983)

वैदिकसाहित्यस्य देवतावादः नूनं विवादास्पदः । विषयेऽस्मिन् विभिन्नैः विचारकैः निजविचारजातानि प्रकटीकृतानि । केचिद्शौनकमतमङ्गीकृत्य देवतानाम् एकत्वं प्रतिपादयन्ति, इतरे तु आकार चिन्तने भेद दर्शनात् तासां बहुत्वमित्यपि वदन्ति । यास्कस्तु दैवतकाण्डे देवतानामाकार चिन्तनमादाय उक्तवान् यत् पुरुषविधा अपि देवता भवति ।

तत्र मुख्यायाः प्रतिपाद्याया देवतायाः किं स्वरूपमिति विचारे एकैव देवताऽऽत्मस्वरूपिणी वेद प्रतिपाद्या । तस्या एकस्या एवोपाधिभेदाद् भिन्नत्वम्, भिन्नताया नाना शब्दैराकारैर्वचनमित्यध्यात्मवादिनः ।

सम्प्रतिपद्यान्ये ब्रुवते—सत्यमेकैव देवता प्रतिपाद्यते, सत्यमेव चैकस्यास्तस्या उपाधिभेदेन भिन्नत्वम्, तत्प्रतिपादनार्थमपेक्षितोपाधेराश्रयणे शब्दद्वारक एव सर्वत्र

वाङ्‌भयेऽर्थे प्रत्यय इति प्रथमोपस्थितं शब्दमेवोपाधितयाऽऽश्रित्य तद्भेदेन देवताया भन्नत्वम् । अत एवेन्द्रचन्द्रादीनां नानाशब्दानामुपाधित्वेन नानादेवता वेदे प्रतिपाद्यन्ते । अत एव शब्दानां नित्यतया तदुपाधिकदेवानमपि नित्यत्वेन नित्यार्थप्रतिपादको वेद इति भवति । परिच्छिन्नार्थोपाधिग्रहणे सम्भवतां दोषाणामत्र कल्पेऽप्राप्तिः । न हि एकोऽर्थविशेषरूप-इन्द्ररूपो देवो युगपन्नाना देशेष्वनुष्ठीयमानेषु समानेषु यागेषु युगोपद्दत्वेन सम्बन्धभर्हति ।

माहात्म्यात्तत्कल्पनापेक्षया नित्यस्य विभोः शब्दस्यैव उपाधित्वेनाश्रयणे नित्यस्य विभोरपि शब्दस्य शैवालत्रोटनन्यायेन अभिव्यञ्जक-कण्ठताल्वाद्यभि घातरूप-प्रयत्नस्य तत्र तत्र भिन्नतया तद्वशतोऽभिव्यज्यमानस्य नित्यस्य विभोः शब्दस्य तद्नूपिष्या देवतायाश्च युगपत्सर्वदेशसम्बन्धे न किञ्चिद्बाधकमिति मीमांसकाः ।

अर्थबोधे प्राथम्येन शब्दप्राप्तावपि बोधरूपफले अर्थस्यैव सन्निकृष्टत्वं बोधक-शब्दस्य त्वर्थद्वारेत्यर्थस्यैवोपाधित्वम् ग्रहीतुमुचितम् । एवञ्चार्थरूपमुपाधि गृहीत्वा देवतातत्व निश्चयः । अर्थश्च नित्यो लोकरूपः लोकिनस्तु तत्र सम्बध्यन्ते इति लोक-स्यैवाधाररूपस्योपाधित्वेन ग्रहणम् । यद्यपि लोकोऽपि अविशेष भावेन ब्रह्माण्डात्मैक एव तथापि तत्र सविधवर्तित्व-विदूरवर्तित्ववशतो भेद कल्पनम् । ते च लोकास्मित्रिधा भूलोकान्तरिक्षलोकद्योलोकरूपतः । तदुपाधिवशतो वेदप्रतिपाद्या देवतास्त्रिविधा इति नैरुक्ताः ।

तदुक्तं यास्केन-तिस्त्रो देवता इति नैरुक्ता इति । ताश्चेमा अग्निवाय्वादित्य शब्दैरुच्यन्ते देवताः । एवं सति प्रतिपाद्यानां देवतानां भूलोकसम्बन्धित्वेऽग्नित्वम्, अन्तरिक्षलोकसम्बन्धित्वे वायुत्वम्, द्योलोकसम्बन्धित्वे आदित्यत्वमिति तत्प्रति-पादनं वेदे ।

ऋग्वेदीयानुक्रमणिकाकारेण शौनकेन तु पूर्वक्तान् पक्षान् प्रदर्श्य पूर्वाचार्या-णामभिमतः पक्षः प्रदर्श्यते । तत्र सत्यमेवाध्यात्मवाद एव वेदे । आत्मैव च वेदप्रति-पाद्यः । आत्मनश्चैक्येन भेदरादित्येन प्रतिपादनस्याशक्यतयोपाद्याश्रमणे विश्वजिन्न्यायेन सर्वसम्मतः प्राथमिकदृश्यविकाररूप आदित्य एवोपाधित्वेन ग्रहीतव्यः । तदुपाधित्वेनैव वेदे आत्मनः प्रतिपादनम् । अध्यात्मवाद एवासौ । तत्र शरीस्थानीयमादित्यरूपमुपाधिं गृहीत्वा वेदे प्रतिपादनमिति आदित्यरूपिण एवात्मनो वेदे प्रतिपादनम् । तदुक्तं तेन— "एक एव वा महानात्मा वेदे स्तूयते, स सूर्य इत्याचक्षते । सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुष-श्चेत्यपि निगमो भवती" ति ।

आदित्य एवैको देवो वेदे प्रतिपाद्य इति वचने इन्द्र-वरुण-मित्र-प्रभृतयो भिन्नैर्ना-मभिः प्रतिपाद्या अपि निमित्त-विशेषवशतः आदित्यभिन्नाः । आदित्यस्यैव तानि नामा-न्तराणि । आदित्य एवेन्द्रादिशब्दैः प्रतिपाद्यत इति भावः ।

वेदो मन्त्रब्राह्मणोभयात्मक इति मन्त्रभाग इव ब्राह्मणभागेऽपि आदित्यस्य प्रतिपादनम् । एवं सति ब्राह्मणगतानि कर्माणि आदित्यस्यैव अर्थवादा अपि तत्प्रति-पादका एव । एवं सति अर्थवाद विषये 'नित्यं कञ्चनार्थं गृहीत्वोपपत्तिर्वक्तव्ये' ति

(शा०भा० 1:2:10) शबरवचनमप्युपपद्यते । आदित्यकर्मानुकारेण मनुष्यैरनुष्ठीयमानानि कर्माणि भवन्ति । एवं सति देवताकृतिमनु मनुष्यैः कर्मानुष्ठानमिति ब्राह्मणे तत्र तत्र प्रतिपाद्यमानमुपपद्यते यथा हि मन्त्रः—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं
यमं मातरिश्वानमाहु रिति ॥ (ऋग्वेद 1:164:86)

9

षड्दर्शनानां संक्षिप्तपरिचयः ।

अथवा

भारतीयदर्शनेषु जगन्मिथ्यात्वम् । (1984)

प्रो० मैक्समूलरमहोदयानुसारं—"विभिन्नमतानि परस्परालोचन-पराण्यपि भारतीयदर्शनानि सामान्यतः समानलक्ष्याणि, भिन्नमुण्डसाधितान्यपि एकमत्यभूत्तीनि सन्ति, आत्मनः स्वरूपं प्रतिपादयन्ति, आत्मनः परब्रह्मणा सह सम्बन्धं दर्शयितुं स्थापयितुं च यतन्ते"। दर्शनं परब्रह्मस्वरूपसाधनं प्रस्तूय तज्ज्ञानेन च परमानन्दप्राप्तिपन्थानमुपदिशति । इदं धर्मपरकाण्यपि वैदिकबहुदेवतावादमतिशय्य परब्रह्मण्येव केवलं विश्वसन्ति । एतस्मिन्नेवार्थे तेषामास्तिक त्वाभिधानमन्यथा तथाकथितं निरीश्वरं प्रकृतिपुरुषात्मकं सांख्यदर्शनं नास्तिककोटिमभ्युपेयात् ।

श्रीजैमिनि-बादरायण-कपिल-पतञ्जलि-गोतम-कणादप्रणीतानि क्रमशः पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा-सांख्ययोग-न्याय-वैशेषिकाभिधानानि षड् दर्शनाति सन्ति ।

एषां कालकमनिश्चयो विवादास्पदः। नात्र विदुषामैकमत्यम्। तथापि खीष्टब्दात् प्राक् 600–300 शताब्दीषु सूत्रसाहित्यकाले एव एषामुद्भवविकासायित्यत्र प्रायो नास्ति वैमत्यत् । वैदिकनासदीयसूक्तादिषूपनिषत्सु च दर्शनबीज स्फुट मेव, परं निश्चितषड्दर्शनान्युपनिषदुत्तरकालीन्येव ।

1. पूर्वमीमांसा :

पूर्वमीमांसादर्शनवर्गस्य प्रवर्तकः मुनिर्जैमिनिः वर्तते । 'मीमांसासूत्रं' प्रमुखःग्रन्थो विद्यते । द्वादशाध्यायात्मकेऽस्मिन् शास्त्रे जैमिनिः वैदिकयज्ञानुष्ठान दिकर्मकाण्डसम्बन्धिनियमान् विवृण्वन्, विध्यर्थवाद-मन्त्र स्मृतिनामधेयार्थान् स्पष्टयन् प्रत्यक्षानुमानोपमानार्थापत्तिशब्दात्मकानि पञ्च (कुमारिलभट्टानुसारमयं संहितानि षट्) माणानि ज्ञानोपलब्धये समुपस्थापयन्, धर्मसाधनाय स्वमतं प्रस्तोतुं विषय-समस्या-पूर्वपक्षसिद्धान्त संगीतीति पञ्चधा स्वार्थं साधयति । एवं विधि-फलेऽभिधाय जनमनासि तत्र

प्रवर्तयत् दर्शनमिदं संसारसागरमज्जनदुःखबन्धमोक्षोपायं परमानन्दहेतुकमिति । अत्र उपवर्ष-शबर-स्वामिप्रभाकर कुमारिलमण्डनमिश्र वाचस्पतिप्रमुखाः व्याख्यातारः ।

2. उत्तरमीमांसा :

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चिन्', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'नैवात्र किञ्चित्प्राप्तियोग्यं', 'सुखाधायकं', 'ज्ञानार्ह वाऋतेः ब्रह्मणः', 'ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मैव भवति' इत्येवं वेदान्तिनां सिद्धान्तः । ब्रह्मजिज्ञासैव लक्ष्यम् । तत (ब्रह्म) त्वम् (आत्मा) असीति ज्ञानोपलब्धिः । सलिले लवणवत् शरीरे ब्रह्मणः स्थितिस्तत्साक्षात्कार एव मोक्षः । शंकराचार्यस्याद्वैतवादः संसारमिमं मायात्मकं मन्यते । मृत्तिकाभाण्डानि यथा निर्मीयन्ते त्रुट्यन्ति च परं मृत्तिका मृतिकैव तथैव जगदिदं मायैव । ब्रह्मैव केवलं सत्यम् । तत्र लय एव लक्ष्यमिति शाङ्कराणां मतम् । सन्दर्भेऽस्मिन् शंकराचार्येण एकस्मिन् श्लोकैव स्वमतमुद्घोषितम्—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।

ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या ब्रह्मजीवैव नापरः ॥

मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदराशिः कर्मकाण्डम्, उपनिषश्च ज्ञानकाण्डमिति भेदमुपपादयन् बादरायणः, ज्ञाने सति कर्मकाण्डस्यानुपादेयतामुपदर्शयति । गौडपदीयकारिकायां मायावादो विशेषेण प्रपञ्चितः । वाचस्पतिमिश्रस्य भामती बादरायणसूत्राणि व्याख्याति । रामानुजस्य श्रीभाष्ये विशिष्टाद्वैतवादश्शकंखादाद्भिन्नः । तदनुसारं जगत्सत्यम्, ईश्वरब्रह्मोरभेदः, अन्ते चात्मनः परब्रह्मणि लयः । आनन्दतीर्थस्य द्वैतवादः ब्रह्म-जीव-मायाभेदं प्रतिपाद यति । बल्लभाचार्यः शुद्धाद्वैववादं प्रस्तुवन् स्वीये 'अणुभाष्ये' मायाहीनं ब्रह्मेति मनुते ।

3. सांख्यम् :

शास्त्रमिदं पञ्चविंशति तत्त्वानि व्याचष्टे । तद् यथा—अव्यक्त प्रकृतिः, अष्टधा-बुद्धिः, वैकारिक तैजस-भूतादित्रिविधोऽहंकारः, शब्द-स्पर्श-रूपं-रसं-गन्धात्मका पञ्चतन्मात्रा, ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, मनः, पञ्चभूतानि पुरुषश्च । गुणत्रय (सत्वं रजस्तमः) विवेचनं सांख्यशास्त्रस्य मुख्या विशेषता । विषयश्च प्रकृति-पुरुषयोः व्याख्यानम् । वेदान्तिनां मते पुरुषः एक एव, सांख्यशास्त्रिणां मते तु अनेकै पुरुषाः । तथाहि यद्येक एव पुरुषाः स्यात्, तर्हि एकस्मिन् पुरुषे दुष्टे सज्जने वा, सुखिनि दुःखिनि वा सर्वेऽपि दृश्यमानाः पुरुषाः दुष्टाः सज्जनाः वा सुखिनो दुःखिनो वा स्युः, परं न तादृशं किञ्चिद् दृश्यते जगति । शास्त्रस्यास्य लक्ष्यं दुःखनिष्कृतिः । शरीराहंकारादिभ्यः पुरुषः भिन्न एव । तस्य ज्ञानेनैव दुःखमपैति । एवं ज्ञायते यत् पूर्वोक्तं वेदान्तदर्शनमद्वैतवादात्मकं सांख्यञ्च द्वैतवादात्मकम्, प्रकृतिपुरुषतोः द्वयोरपि सत्यत्वात् । प्रकृतिः जडाव्यक्तरूपा च वर्तते, सा पुरुषसंयोगमुपेत्यैव विकासमातनोति । पुरुषवत् साप्यनन्तादिरहिता चास्ति । पुरुषेण दृष्टा सा खलु पूर्वोक्तबुद्धयादिविवधि-पदार्थरूपतामभिव्यनक्ति वेदान्तिनां मतेऽविद्याकारणोऽयं संसारः । सांख्यवादिनां मते तु

प्रकृतिपुरुषसंयोग एव कारणम् । संयोगश्चाविवेककारणात् भवति । विवेके सति च पुरुषः पुनरपि स्वतन्त्रः, सानन्दः, आत्मपूर्णश्च सम्पद्यते ।

चित्रालये यथा रङ्गमञ्चोपरि विविधभावभङ्गिमायुक्तां नृत्यन्तीं नर्तकीं कश्चित् दर्शकः पश्यति तद्गतञ्चानुभवति, तद्वत् पुरुषोऽपि समोहं निरीक्षते प्रकृतिम् । नर्तकी दर्शककृत एव नृत्यति नृत्यान्ते च सर्वं पूर्वज्जायते । तथैवास्ति स्थिति पुरुषस्य प्रकृत्या सह संयोगे । प्रकृतिः नर्तकीय एकस्यानन्तरमन्यं जनं सम्मोहयितुं कामयते । परमन्ततः पुरुषः स्वातन्त्र्यं लभन्त एव ।

साँख्यशास्त्रं व्यक्तिगतदुःखापेक्षया जगद्दुःख विविनक्ति । दुःखं प्रकृतेरेवास्ते, न पुरुषस्य । प्रकृतिः पुरुषं सेवमाना तदुपकारायैव चेष्टते । दृश्यतां गते च विरतिमेति । पुरुषस्तु स्वतन्त्र एव सदा सर्वदा । केवलं प्रकृतिरेव भिन्नभिन्नपुरुषनिर्भरा सती अनेकजन्मस्वाविला भूत्वान्ते स्वतन्त्रा भवति । 60 तमकारिकायां स्पष्टमिदं यत्—उदात्तप्रकृतिका प्रकृतिः कृतघ्नस्य पुरुषस्योपकारायैव यतमाना न किञ्चिदीप तस्मादपेक्षते । विषयेऽस्मिन् ईश्वरकृष्णस्य सांख्यकारिका, वार्षगण्यस्य षष्ठीतन्त्रं वाचस्पतिश्रस्य सांख्यतत्त्वकौमुदीति मुख्याः ग्रन्थाः ।

4. योगदर्शनम् :

श्रीमद्भगवद्गीतानुसारं 'समत्वं योग', 'योगः कर्मसु कौशलम्', 'युज्यते' वेति व्युत्पत्त्या शारीरिक-मानसिक-क्रियाकलापानामेकस्मिन् वस्तुनि 'निदिध्यासन' मुद्योग एव इत्यर्थे, सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदद्वयात्मक—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

इत्यभ्यधायि मुनिना । महर्षिः पतञ्जलिः कापिलनयसिद्धान् पञ्चविंशतिपदार्थानभ्युपगम्यैव तदिपमपीश्वराख्यं तत्त्वमभ्युपजगाम । पाद चतुष्टयात्मके योगशास्त्रे सः ।

(1) समाधिपादे चित्तवृत्तिनिरोधात्मकं योगः ।

(2) साधनपादे तद्योगसिद्धये तप स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानादीनियम-नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यानसमाधिरूपाणि योगाङ्गानि ।

(3) विभूतिपादे तज्जन्यैश्वर्यालौकिकशक्तीः ।

(4) कैवल्यपादे च तच्छक्तिलालसानिरोधपूर्वकं परमानन्दमुपदिदेश ।

सांख्यदर्शनस्य याथार्थ्येऽपि मानसिकशारीरिकक्रियाकलापस्य विरोधोपायाभावे, स्वातन्त्र्यमुपगतेऽपि पुरुषे, पुनरपि इन्द्रियविकारसम्भावनाकारणानपूर्णमेव तच्छास्त्रमिति योगशास्त्रे यौगिकक्रियाः समुपदिष्टाः । कस्मिंश्चित्तत्वे मनो निधाय तत्त्वान्तरान्मनो निवर्तयन् जनः सफलतामधिगच्छति । अन्यथा 'चेतश्चञ्चलामिति' समाधिमेवाकलयितुं न स प्रभवति । 'प्रणव' नाम्नाभिहित 'ईश्वर' न केनचिदर्थेन संबध्नाति । एवं योगसाधनायाभ्युपगतोऽपीश्वरः न सृष्टिकर्तृतया प्रयोजनवानिति सिद्धम् । चित्तवृत्तिनिरोधे सम्पन्ने तु सर्वं सम्पन्नं भवति । अत्र व्यासवाचस्पतिमिश्र-विज्ञानभिक्षु-भोजप्रणीतानि भाष्याणि प्रामुख्येन परिगणितानि ।

5. न्यायदर्शनम् :

पूर्वोक्तदर्शनानामपेक्षया न्याय-वैशेषिकद्वयमतितरां पाण्डित्यपूर्णं शुष्कप्रायञ्च । प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त सिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभास-छलजातिनिग्रहस्थानाभिधानाः षोडशदार्थाः साधत्वेनाभ्युपगताः निःश्रयसे । अहकारेच्छाद्यपनोदेन मिथ्याज्ञाननाशपूर्वकं सत्यप्रतिष्ठा खलु दर्शनानां लक्ष्यं, विशेषतः नैयायिकानाम् । एषां मते जीवात्मपरमात्मभेदेन द्विविध आत्मा परमात्मैव चास्मत्कर्मप्रदाता । बौद्धानां शून्यवादं खण्डयितुमस्ति गौतमस्य तर्कः—न बीजेन विना वृक्षोत्पपत्तिस्तथैवेश्वरेण विनां कथं सृष्टिः संभवति । शून्यात् सृष्टिरसंभवा । अतः ईश्वर एव जगद्धेतुः ।

भिन्नदार्शनिकानां भिन्नानि सन्ति प्रमाणानि – यथा प्रत्यक्षं चार्वाकाणां, प्रत्यक्षानुमाने वैशेषिकबौद्धानाम्, प्रत्यक्षानुमानशब्दाः सांख्यमतानुयायिनां, प्रत्यानुमानोपमानशब्दाः न्यायविदां, प्रत्यक्षानुमानोपमानार्थपत्तिशब्दाः प्रभाकर मीमांसकस्य, प्रत्यक्षानुमानोपमानार्थापत्तिशब्दाभावाः मीमांसकानामिति । पूणसत्योपलब्धिः प्रमा गोतमस्य ज्ञानलक्ष्यम् । तदर्थमेव प्रमाणप्रमेयादिपदार्थानां व्युत्पत्तिः । पक्षिलस्वामि-उद्योतकर-दिङ्गनाग धर्मकीर्तिप्रमुखाः भाष्यकाराः सन्ति ।

6. वैशेषिकम् :

दर्शनमिद न्यायात् किञ्चिदेवभिद्यते । वैशेषिकशास्त्रिणामणुमपि न्यायविदो जानन्ति । तथापि विशेषविकासत्वात् भिन्ननामतश्च शास्त्रमिदं पृथक् परिगण्यते । शास्त्रेऽस्मिन् षण्णामेव पदार्थानां स्वीकारः । केषाञ्चिन्मते सप्त वा नव वा पदार्थाः । ते च द्रव्यगुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय-अभावरूपाः । सर्वमन्यदन्तर्गतमेवैषाम् । अत्रेत्थं विचार्यते—अणुरूपाः पदार्थाः नित्याः, विकसितरूपाश्चानित्याः । अणोर्नास्ति नाशः । सर्वनाशे जातेऽपि अणोः स्थितिः कुत्राप्यस्त्येव ।

10
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
(कर्मवादः)

श्रीमद्भगवद्गीता 'महाभारतम्' इत्येतेन नामधेयेन सुप्रथितस्य विशालकलेवरस्य महाग्रन्थस्य सारतमोंऽशः । सा श्लोकानां सप्तशतया निःश्रेयसाधिगमनस्योपायान् सुबोधायां भाषायामभिव्यनक्ति । तदीया वस्तुकथनप्रणाली सरलास्ति तस्मात् सामान्य ज्ञानसम्पन्नोऽपि जनोऽन्तरेणाधिकमायासं तामवबोधमर्हति किञ्च सकलमपि प्रपञ्च-परिच्छदमुपेक्ष्यानेन गीताराजमार्गेण स्वकीयं प्राप्तव्यमास्पदमासादयतुं शक्नोति ।

गीताया उद्देशः–स्वर्गो मुक्तिर्वा इत्येक संशयः गीता वेदविरोधिनी नो वा इति द्वितीयः संशयः । गीताया विषयः कर्म, ज्ञानं वा इति तृतीय संशयः ।

यदि गीताया उद्देश्यः स्वर्गः, तर्हि सा 'स्वर्गपराः' (2–43), 'क्षीणेपुण्ये मर्त्य-लोकं विशन्ति' (9–21), 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' (15–6) इति स्वर्ग कथमधिक्षिपति ? यदि गीताया उद्देश्यं मुक्तिरीति, तत् सा कर्मणि कथं प्रवर्त्तयति ? कर्मणा तु स्वर्गो नरको वा प्राप्यते न मुक्तिः । मुक्तिस्तु कर्मात्यन्ताभावेन भवति, ज्ञानेन वा । परमिद कर्मयोगशास्त्रं कथं ज्ञानं दापयेत् ? इतश्च मुक्त्युद्देश्यवती गीता 'हतो वा प्राप्स्यसि सर्गं' (2–37) इति स्वर्गमात्रदायकं युद्धाय अर्जुनं कुतो नाम प्रोत्साहयति ?

यदि गीताया विषयः कर्म्म, ततो गीतया मुक्तिः कथं प्राप्येत्, न हि कर्म्मणा मुक्तिर्भवति किन्तुज्ञानेन । कथं च सा 'कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिरता जनकादयः' (3–20) इत्यादौ जनकादीनां कर्मणा मुक्ति संकेतयति 'सिद्धि' शब्देन । यदि गीताया विषयो ज्ञानम्, तर्हि इदं कर्मयोगशास्त्रं कथं व्यपदिश्यते ? अर्जुनश्च कथमेतच्छ्रुत्वा युद्धकर्मणि प्रवृत्तः ?

एवं बहुविधाः प्रश्ना गीताविषये, उपतिष्ठन्ते । यदि एतेषां सर्वेषां सर्वाङ्गीण-समाधानाय प्रयतयेत; तर्हि स्वतन्त्र एको ग्रन्थः सज्जीभवेत् । परं तथावकाशो नास्त्यत्र एतद्विषये 'कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्व-कर्मणि' (2।47) इति पद्यमंशत उक्तप्रश्नानामुत्तरं प्रददाति । एतेन पद्येन सिध्यति यद् गीताया उद्देश्यं मुक्तिः, गीता वेद विरोधिनी, वेदोक्तकर्मकाण्डविरोधिनी, वेदोक्त-यज्ञविरोधिनी वा नास्ति, किन्तु तत्फलापसारिकैव केवलम् । गीताया विषयः कर्म ज्ञानं च । सा ज्ञानयुक्तकर्मणा मुक्तिमुद्दिशति । गीताया वैदिकयज्ञा इष्टाः, परं कामनावर्जमेव ।

एतत् सत्यं यद् मोक्ष एव सर्वेषां मते परमपुरुषार्थः, स्वर्ग कस्यापि कृते परम-पुरुषार्थो न भवितुमर्हति । एव गीतामतेऽपि मोक्ष एव परमपुरुषार्थः । यद्येवम्; तद् गीता कर्मार्थं कथं प्रोत्साहयति ? तत्रेदं ज्ञेयं यद्-यद्यपि कर्मणोऽत्यन्ताभावेनैन मुक्तिर्जायते; गीतातः प्राक् च तुरीयाश्रमे कर्मसंन्यासेनैव ज्ञानेन च मुक्तिप्राप्तिर्मन्यते-स्म; तथापि गीतया मुक्त्यर्थं सुन्दरतर उपाय उद्भावितः । तद्दिशागृहस्थोऽपि कर्मकर्त्ता वा संन्यासी भवितुमर्हति; मोक्षमधिगन्तुमर्हति । तदीय उपायोऽयमुद्भावितो गीताया यद्जनस्य कर्मण्येवाधिकारो न फले । अत एव स कर्मफलहेतुर्माभूत् । अकर्मापि च मा भूत् । एवं कर्मफले त्यक्ते सति जातमपि तत् कर्म अकर्मैव भवति 'कर्मण्यकर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः (4–18) इति दिशा ज्ञानरूपं च तद् अकर्म मोक्षदायकं भवति । अथवा कर्मसिद्धतायां जातायां तदा स्वयमेव ज्ञानमुत्पद्यते, यथा च 'तत्-ज्ञानं स्वयं (कर्म) योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति (4–38), ज्ञानेन च मुक्तिर्भवति 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति न्यायात् सर्वाणि कर्माणि किमपि फल-मुद्दिश्यैव क्रियन्ते । परं गीता प्रदर्शयति यत्-फलोद्देश्येन क्रियमाणं कर्म बन्धनजनकं भवति; अथवा पातकं भवति, मुक्तिदायकं न भवति; प्रत्युत फलाशायां सत्यां बाह्य-दृष्टौ अकर्मापि कर्मैव भवति ।

एतदुक्तं भवति—वेदे यानि कर्मफलानि प्रोक्तानि; तानि प्ररोचनार्थानि, कर्मणिप्रवर्तनार्थं सन्ति; न तत्प्राप्त्याकांक्षोत्पादनार्थम् । यथा च श्रीमद्भागवते प्रोक्तम्—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निस्सङ्गोऽपि तमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं राचनार्था फलश्रुतिः ।। (11/3/46)

परम ज्ञानिनो बाला इव जनास्तत्रत्यां प्ररोचनां कर्मप्रवर्तनसाधनभूतां न मत्वा तस्यां प्ररोचनायामेव निरता जायन्ते । तदीयं दुष्फलमिदं भवित यत् तत्र कर्मकरणं मुख्यं न तिष्ठति, किन्तु तत्र तदीयफलमेव अक्ष्णोरग्रे उद्देशरूपेण नरीनृत्यते । ततः कर्मवैगुण्येन वा फलविचारेण वा बन्धनं स्वाभाविकमेव ।

कश्चिज्जनोऽन्नपाकं कुर्वन् मनसि तदास्वादतत्फलप्रवणस्तच्चिन्तनपरस्तद्हृत-चित्तो भवेत् । तदीयं किं फलं जायेत ? एतदेव यद् अन्नपाके त्रुटिर्जायते । तद् अपक्वं वा तिष्ठति, ज्वलितं वा जायते, येन तत्फलमपि पूर्णतया न प्राप्यते । प्रत्युत तद् रोगजनकं भूत्वा बन्धनदायकं भवति । एवं रोगापनयनार्थं कटुकौषधाज्ञायां तदनुस्यूत-सितामात्रास्वादनप्रवणः कटुकौषधोपशमनीय रोगं तत्कटुकौषधपाने त्रुटिं कृत्वा वर्धयितुमेवेच्छत्यज्ञानी । बन्धनाद् मोक्तुं तामेव फलकामनां गीता तित्याजयिषति, न तु वैदिकयज्ञादिकर्म इति सूक्ष्मतत्त्वविदो विदुः, न खलु आपातदर्शिनो जनाः । तत एव तु प्रोक्तम्—कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

एवं भगवान् कर्म न तित्याजयिषति, किन्तु तत्फलम् । एवं सति तत् कर्मापि अकर्मैव भवति भगवान् वृश्चिकं न जिघांसति, किन्तु तदनुस्यूतं दंशकंटकमेव अपजि-हीर्षति । एवं दंशे अपहृते सति स वृश्चिकोऽपि वृश्चिको न तिष्ठति । वृश्चिकस्य वृश्चिकत्वं तद्दंशे एवास्ति; न तत्स्वरूपे । एवं सति फलत्यागोपेतेन कर्मणा वस्तुतश्च अकर्मणा इत्यादौ भगवता पिशुनिता । तदेव भगवान् वैदिकयज्ञादीनि न निराचिकीर्षति, किन्तु तत्फलकामनामेव'। 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' इत्यादौ 'स्वर्गपरा' इत्यादि लिङ्गात् कामनादूरीकारोऽनासक्तिरेव च भगवत इष्टा न वैदिककर्मदूरीकारः ।

एवं 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यादावपि गुणत्रयस्य कार्यरूपेषु ऐहिकामुष्मिक-समस्तभोगेषु तथा तत्साधनभूतसमस्तकर्मसु ममतासक्तिकामनादेरुच्छेद एव निस्त्रैगुण्य-भावः । अत्र स्वरूपतः समस्तकर्मणां त्यागो न नाम भगवतो मते निस्त्रैगुण्यम्, यतो हि स्वरूपेण समस्तकर्माणि समस्तविषयाँश्च कोऽपि जनो न जातु हातुमीष्टे (3/5), कर्ममात्रं च त्रिगुणमूलकम् तद् गुणातीतताऽभावात् किं भगवतो मते कर्म्ममात्रं त्याज्यं स्यात् ? यद्येवम्; तर्हि गीतायाः 'कर्मयोगशास्त्रम्' इति नाम कुतः ? यदि कर्म न त्याज्यं त्रिगुणात्मकमपि; किन्तु तत्फलमात्रम्, यथा च—"त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्य-तृप्तो निराश्रयः । कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः (4–20) इति तदेवं वैदिकज्ञादिकर्मापि भगवतेष्यते न त्याज्यतामापतति; किन्तु तत्फलमात्रम् ।

किञ्च-इदं शरीरमपि तु त्रिगुणस्य कार्यम् (18–40) तत् शरीरस्यापि त्यागं गीता कथं नोपदिशति ? प्रत्युत् स्वशरीरोपघातरूपात्महत्या पापप्रदा प्रोक्ता ।

परं निष्कामतत्कर्म तु आचरणीयमेव प्रोक्तम्। एवं त्रैगुण्यवैदिककर्मणामुतघातो पापम्; परं निष्कामतदाचरणं तु कर्त्तव्यमेव सर्वेषामधिकारिणाम्। अत एव शरीरेण तदद्वारा च क्रियमाणेषु कर्मसु तत्फलरूपसमस्तभोगेषु अहंता ममतासक्तिकामनादिराहितीभाव एवात्र निस्त्रैगुण्यं विवक्षितम् अर्थात् त्रयाणां गुणानां कार्यात् कर्मफलादे राहित्यमभिप्रेतमत्र, न तु वेदप्रोक्तकर्मतो राहित्यमिति। एतेन 'येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम्' इत्यादि गीताश्लोका अपि व्याख्याता एव।

अयमाशयः—देवा भगवतो विशिष्टाङ्गानि मन्यन्ते तद् अङ्गिनः पूजा अङ्गैर्विना कदापि न भवति। यदि अंगस्य अंगानां वा पूजा केवलमंगपूजा मन्येत; तत्पूजनेन केवलमङ्गस्य तृप्तिरभिप्रेयेत; न खल्वङ्गिनः, तत् सा केवलांगपूजा गीतामते अवश्यमेव अविधिपूर्विका। परन्तु यदि अङ्गपूजा अंगिनः पूजार्थं निमित्तमात्रं मन्येत; तत्र लक्ष्यमगिपूजास्याद्, अंगिप्रसादः स्यात् नाङ्गप्रसादः; एवमभेदो मन्येत; तत्पूजने च फलाकांक्षां न विधीयेत; तदा गीतामते तत्पूजनमविधिपूर्वकं न भवति; अज्ञानपूर्वकं न भवति।

फलतः वैदिकदेवपूजापि यदि परमात्मनोऽभेदबुद्ध्या क्रियेत, कर्मफलं चाऽनुद्दिश्य क्रियेत; सापि गीतासम्मता मुक्तिप्रदात्री च। फले उद्दिष्टे तु सैव स्वर्गादिबन्धनदात्री। एवं गीतास्थो यज्ञशब्दो वैदिककर्मपर एव। केवलं गीतामतेन ततः फलसम्बन्धस्त्याज्यः। यथा भगवता 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' (2–37) इति युद्धस्य फलं परत्र स्वर्गसुखभोगः, इहच राज्योपभोगो दर्शितः, तथापि कामोपभोगत्याजको भगवान् अर्जुनं तद्युद्धतो नापसिसारयिषति; किन्तु 'तत्फलमनभिसन्धायैव त्वं युध्यस्व' इति तत्र भगवतोऽभिप्रायः, तथैव वैदिकदेवयज्ञस्यापि फल परत्र स्वर्गः (9–20) इहलोके च इष्टभोगप्राप्तिरभिहिता (3–18); तथापि भगवतो न तन्निषेध इष्टः; किन्तु पूर्ववत् तदीयमिदमेवाभिप्रेतं तत् त्वं फलाकांक्षां मनसि न निधाय, तत्फलं मयि वा आधाय, तत्फलेन स्वकीयं सम्बन्धं विच्छिद्यदेवयज्ञान् कुरु। एवं ते सीमितं स्वर्गादिफलं बन्धनं वा न स्यात्, किन्तु असीमितं मुक्तिफलं स्यात्। 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न (कर्मफल) सन्यासिनां क्वचित्।' तत् स्पष्टं यद्-गीता वृश्चिकं न जिघांसति; किन्तु वृश्चिकदशकण्टकमेव दूरीचिकीर्षति युद्धमपि वैदिककर्मकाण्डवत् सकामत्वेन स्वर्गादिभोगरूपबन्धपीड़ादायकत्वाद् वृश्चिकरूपम्। गीता तद् वृश्चिकात्मकं युद्धं नापसिसारयिषति, किन्तु तद्दंशकण्टकरूपं तत्फलमेव। तथासति युद्धं युद्धं न तिष्ठति। ततः स्वर्गो न तत्फलं भवति अकर्मत्वाद् मुक्तिरेव। एवं वैदिकयज्ञविषये वैदिकदेवपूजादिकर्मविषयेऽपि संघटनीयो भगवदाशयः।

प्राग् वैदिककर्मभिः स्वर्गप्राप्तिर्मन्यते स्मः अकर्मणा ज्ञानेन वा मुक्तिर्मन्यते स्मः, परं भगवता तत्र सुधारः कृतो यद् वैदिककर्मणापि मुक्तिः प्राप्यते। तत्र केवलं तत्कर्मफलभोगासक्तिस्त्याज्या। तदैव यत्र तत्र प्रोक्तं यत् कर्म तु कुरु; परं तत्फलाकाक्षां

त्यज । तदेव बोधयति—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" (2-86) इति पद्यम् ।

अदसीयोऽर्थोऽयं यत्-- तव अथवा सर्वस्यापि जनस्य कर्मण्येव अधिकारोऽस्ति; यतः कर्म कर्तुं शक्तो भवति सः । तत्फलेषु तस्याधिकारोऽस्ति; यतः कर्म कर्तुं शक्तो भवति सः । तत्फलेषु तस्याधिकारो नास्ति; तदनायत्तत्वात् । कस्य कर्मणः किं फलं भविष्यति; कदा च भविष्यति इति स न जानाति; न च स स्वेच्छानुसारं तत् क्रमेण-अक्रमेण वा प्राप्तुं शक्तः । यतो हि "यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति; यच्चेतसा न निहितं तदिहाभ्युपेति' । पुत्रेष्टि यज्ञं पुरुषः कर्तुं शक्तः, तथापि तत्फलप्राप्तिस्तदधीना नास्ति; किन्तु दैवायत्ता । त्वम् अथवा कोऽपि जनः कर्मफलहेतुर्न भवेत् । कर्मफलासक्तो जन आत्मानमिष्टानिष्टफलहेतुं विधत्ते; तदनासक्तस्तु न (गीता 18–12) । सर्वस्यापि जनस्य अकर्मण्यपि आसक्तिर्न भवेद्; यतो हि विहित कर्मत्यागेऽपि सिद्धिर्न भवति, यथा 'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' (3-4) इतश्च मोह पूर्वकं कर्मत्यागस्तामसः, कायक्लेशभयात् कर्मत्यागश्च राजसः, इतश्च यः स्वरूपतः कर्मत्यागमिच्छेत् स तथा कर्तुं न शक्तः, ततश्च त्वं फलासक्तिं त्यक्त्वा कर्माणि कुरु इति तात्पर्यं फलति ।

लौकिकदृष्ट्यापि पद्यमिदमुपयोगि । वयं कर्मकर्त्तारः स्मः । तत्फलस्य दाता तु परमात्मैव तत्र जीवस्य नाधिकारः । अत एवास्माभिरुद्यमस्तु कार्यः; तत्फले दैवे नास्माकमधिकारः । यदि वयं फलदृष्टिं स्थापयिष्यामः तदा कर्माणि वैगुण्यमप्याशास्यते । इतश्च अस्मदिष्टफले चाऽप्राप्ते वयं निरुत्साहा भूत्वा अकर्मण्या अपि भवितुमीशाः । परं भगवता अस्मत्समक्षमीदृक्सुन्दरः प्रकारो विन्यस्तः, येन अस्माकमन्तः सन्तोषो भवति ।

ये परीक्षादित्सवश्छात्रा उत्तीर्णतारूपफलमुद्दिश्य परिश्रमरूपकर्म कुर्वन्ति, तत्फलेऽप्राप्ते ते इत्थं निराशा भवन्ति यत् तेषु कतिपये त्राप्ययानाद्यधस्ताद् आत्मानं पेपयन्ति । अपरे च तत्परीक्षातो निर्विण्णाः सन्तः सर्वथा निष्कार्या एव भवन्ति । अथवा अपरे उत्तीर्णतामात्रदृष्टयः प्राप्तोत्तीर्णता अपि यद् योग्यतां नासीदन्ति तत्कारणमेतदेव भवति यत् तत्र तैरुत्तीर्णतैव केवलमुद्दिष्टा । ततस्तत्फलदृष्टौ तेषां कर्मणि विगुणता जाजायते; येन तेषां परमपुरुषार्थरूपा योग्यता न जायते, किन्तु तैः सीमितफलमेव प्रमाणपत्रमात्ररूपेण प्राप्यते, असीमित फल योग्यता च न प्राप्यते या सर्वत्र तेषां लाभकारी ।

भगवान् कर्मणः फलमनुद्देश्यमभिधाय कर्मणो नैष्फल्यं न पिशुनयन्नस्ति किन्तु सीमितफलाद् दृष्टिमपसार्य कर्म पूर्णरूपेण कारयित्वा जनेभ्योऽसीमितफलप्राप्त्यवसरं दत्ते । तदेदद् वस्तुतो युक्तमेव यत्—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

इति । एतेन असफलानामपि नैराश्यमनुत्साहो वा न भवति, धैर्यं विगलितं न भवति, सफलानामपि अभिमानो न जायते । अथवा असफलतामनुनाय जनानामकर्मण्यतापि न

प्रवर्तते । कर्म च तत्पूर्णं भवति, विगुणं न भवति । एतेनैव पद्येन उपक्रमोपक्षिप्त-विषयेऽपि सिद्धान्तोऽयं सिद्धो यद्–गीता न वेदविरोधिनी, न वा वैदिकयज्ञदेवपूजादिकर्म-विरोधिनी । तस्याश्च परमपुरुषार्थो मुक्तिरेव न स्वर्गः । तस्या विषयो ज्ञानयुक्तं कर्म अर्थात् फलाशारहित कर्म ।

11

सांख्ये प्रकृतेः स्थानं सत्यकार्यवादश्च ।

अथवा

भ्रष्टचेतांसि प्रकृतिं यान्ति योगनिषेवया । (1985)

अथवा

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः । (1983)

संख्याप्रधानं हि सांख्यशास्त्रम् । शास्त्रेऽस्मिन् पञ्चविंशतितत्त्वानां सम्यक् विवेचनं वर्तते । तत्र कानिचित् तत्त्वानि केवलं कारणानि. कानिचित् च कारणानि कार्याणि, केवल कार्याणि च परं तत्र तत्त्वमेकम्, सर्वेषु यदस्ति विलक्षणम् । एषामेव तत्त्वानां सम्यक् विवेचनमधः क्रियते ।

प्रकृतिः केवलं कारणम् । अस्या अपरं नाम प्रधानम् । अनवस्थादोषभयादस्याः किमपि अन्यत्कारणं न मन्यते तत्त्वविद्भिः । अत एव इयं अन्यस्य कार्यमपि न । महदहंकारतत्त्वे पञ्चतन्मात्राणि तानि कार्याणि कारणानि वापि मन्यन्ते । महत्तत्त्वस्यांहकारस्य कारणं प्रकृते कार्यञ्च । अहंकारमिदं पञ्चतन्मात्राणामेका-दशेन्द्रियाणां च कारणं, परं महत्तत्त्वस्य कार्यम् । पञ्चतन्मात्राणि आकाशदिस्थूल-भूतानां कारणानि, अहङ्कारस्य कार्याणि च । आकाशादिपञ्चस्थूलभूतानि एकादशेन्द्रियाणां च केवलं कार्याणि न कारणानि खलु । पुरुषस्तु न कार्यं न च कारणम् । अतो हि युक्तमेवोच्यते —

"न प्रकृतिन विकृति पुरुषः"

सांख्यशास्त्रं सत्कार्यवादि वर्तते । मतेऽस्य कार्यं कारणे सन्निहितं भवति । कारण व्यापारेण तु तस्य केवलमभिव्यक्तिमात्रं भवति । सर्वथा नूतनं वस्तु न जायते । इत्थमेव कार्यस्य विनाशे सति तस्य स्वभूत कारणे केवलं तिरोभाव एव, न च तस्य विनाशः । तत्कार्यं स्वव्यक्तरूपं त्यक्त्वा सूक्ष्मरूपत्वेन अव्यक्तरूपे स्वकारणे एव तिष्ठति, अव्यक्ते सति तद् दृष्टिपथं नायाति । कार्यात् कारणमनुमीयते इत्यस्ति हि सांख्यमतम् । यथोक्तमिश्वरकृष्णेन सांख्यकारिकायाम्—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

जगति यत्किञ्चिदपि दृश्यते तत्सर्वं प्रकृते कार्यम् । तस्माद्धेतोर्हि सा मूल प्रकृतिरिति कथ्यते—

"मूल प्रकृति रविकृतिः"

प्रकृति सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था । यदा गुणास्ते तस्यां समत्वेन तिष्ठन्ति तावत्कालं तत्र कोऽपि विकारो न जायते । विकारस्तु तदैव सम्भवति यदा गुणेष्वेषु सक्षोभस्संजायते । गुणानां भावाभिभावात् कार्यस्योत्पत्तिर्भवति । गुणविकारावस्थायाम् एको गुणः प्रबलतमः संजायते, अन्यौ द्वौ च तस्य सहायकौ भवतः । सद्गुणप्रधाने सति सद्गुणप्रधाना सृष्टिर्भवति । रजोगुणप्रधाने सति रजोगुणप्रधाना सृष्टिः । अयमेव क्रमः अग्रेऽपि दृष्टव्यः । तदुक्तं भवति यत्प्रकृति गुणैरेभिः कार्यं व्याचरति । संसारेऽस्मिन् कोऽपि मानवः सत्वगुणोपपन्नः कोऽपि रजोगुणप्रधानः कोऽपि रजोगुणप्रवृत्तियुक्तश्च । किमत्र कारणम् ? सर्वोप्येष प्रकृते प्रभावः ।

अत्रैव एतद्व्यतिरिक्तमस्माभिर्व्यक्ताव्यक्तपुरुषेस्वन्तरमपि ज्ञातव्यम् । व्यक्तं कार्यं भवति । तत् खलु अव्यक्तस्यानुमाने हेतुः । यतो हि कार्यं सकारणं भवति । अथ च व्यक्तं विनाशि । यतस्तत् किञ्चित्कालाकन्तरं स्वरूपं त्यक्त्वा स्वकारणे विनश्यति । प्रकृतेरनुमितौ हेतुभूतत्वाद् व्यक्तं लिङ्गमपि कथ्यते । प्रकृतिः अतीव सूक्ष्मा अत एव अप्रत्यक्षो मता । कार्यं हि तस्य ज्ञानाय साधनम् । व्यक्तस्य निजास्तित्वं न भवति, हि तत्परतंत्रं पराश्रितं च । निजास्तित्वस्थापनार्थं व्यक्तं प्रकृतिमपेक्षते । अनेन हेतुना व्यक्ताव्यक्तयोराश्रयः सम्बन्धो वर्तते ।

प्रधानम् अचेतनम् । तत्केवलं पुरुषसंयोगाच्चेतनवद् दृश्यते । प्रसवधर्मयुक्तत्वादिदं प्रसवधर्मीति कथ्यते । प्रधानमविवेकि विषयि चापि मस्ति यत्प्रधानं केनापि हेतुना विपरीतत्वं न याति । सांख्यकारिकाकारेण प्रकृतिस्वरूपमित्थं प्रतिपादितम्—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥
विषयिभूत्वादिदं जनैः नानारूपेण ज्ञेयं भवति ।

पुरुषस्तु चेतन प्राणी परं यदा स प्रकृत्या सह संश्लिष्टो भवति तदा स प्रकृतेः सर्वान् गुणान् स्वात्मनि मन्यमान 'अहं कर्त्ता', 'अहं भोक्ता' इति मन्यते । परं परमार्थतः स न तु कर्त्ता न च भोक्ता । प्रकृतिः स्वगुणानां भावाभिभावाद् व्यक्तकार्यरूपं जगत्सर्वमभिव्यनक्ति तथा तत्सर्वं भोगार्थं भवति । सा स्वयमेव स्वकार्यं न भुङ्क्ते । अत एव सा भोक्तारं वाञ्छति । अनेनैव कारणेन पुरुषेण सह तस्याः सम्पर्को भवति । सा नायिका इव भोग्या । नायिका स्वरूपदर्शनार्थं यथा नायकमपेक्षते तथैव प्रकृतिनायिकापि स्वरूपं दर्शयितुं पुरुषमपेक्षते । पुरुषस्यापि कैवल्याय प्रकृतेरपेक्षा भवति । पुरुषस्य प्रकृतेश्च संयोगस्य अपरं कारणं अनाद्यविद्या अप्यस्ति । अयं संयोगः तावत्कालपर्यन्तं तिष्ठति यावत्कालं केवलं संयोगः भवति । अनादि संयोगविच्छेदनार्थं कैवल्यमपेक्षितं भवति । इदं पुरुषस्य प्रकृतेश्च विवेकेनैव सम्भवति । इत्थं यत्र प्रकृतेः स्वरूपं दर्शयितुं पुरुषस्यावश्यकतास्ति तत्रैव स्वकैवल्यार्थं प्रकृतेरपेक्षास्ति । एवं

पारस्परिकोपकाराय भोगार्थं च अनादि संयोगत्वात् कैवल्यार्थं पुनः संयोगः भवति । यथोक्तं सांख्यकारिकायाम्—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥

अत्रेदमुक्तं भवति यत्संयोगोऽयं द्विविधः । भोगाय संयोगः केवलं अविद्यया भवति । अपरः संयोगः केवलं कैवल्यार्थं भवति । यदा प्रकृतिः चिरकालं यावत् पुरुषस्य भोगेनोप्रकृता भवति तदा सा पुरुषस्योपकारायोत्सुका भवति अर्थात् कृतस्य कर्मणो भोगेन क्षयत्वात् पुरुषे कैवल्येच्छा जागरूका भवति अथ च तस्यां जागरूकायां सत्यां तदर्थमभिनवसंयोगपरम्परा प्रवर्तते या केवलं कैवल्यार्थं भवति । पुरुषस्तु प्रकृतेः संयोगमेत्य तस्याः गुणान् स्वात्मनि मन्यमानः 'अहं सुखी अस्मि', 'अहं दुःखी अस्मि', अहं कर्त्ता, भोक्ता चास्मि इति मन्यते । परन्तु यदा तस्य ज्ञानं भवति तदा स प्रकृत्या आत्मनः पृथकत्वमनुभवति । सैव दशा—कैवल्यशेति कथ्यते । अत एव प्रकृतेः पुरुषस्य च स्वरूपविषये सत्यमेवाह—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते,
जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः ॥

अर्थात् प्रकृतिरेकास्ति, जन्मरहिता तथा महदादितत्त्वानामुत्पादकत्वात् कारणरूपास्ति । एका भवत्यपि रजस्सत्त्वतमोरूपत्रिगुणात्मिका तथा मूलञ्चासौ इति मूलप्रकृतिरिति कथ्यते । पुरुषः सुखादिभोगेन तामनुसरति तथा भोग सम्पादनानन्तरं अनात्मवस्तु इति मत्वा तां जहाति ।

12

दुःखात्यन्तनि ृत्तिः कथं संभ ेत् ।

अथवा

दुःखत्रयाभिधाताज्जिज्ञासातदभिधातके हेतौ । (1982)

अथवा

सुखं हि दुःखान्यनुभूये शोभते । (1982)

इह खलु सुधाविषपरिपूर्णे जगदर्णवे नैसर्गिक जन्मवतां जनुकूल प्रतिकूलतया वेदनीयसाधनग्रहणप्रहणाभिमुखी प्रत्यहं प्रवृत्ति । सा च कदाचित्कथंचिदांशिक वैशिष्ट्यभाग् भवन्त्यपि नैकात्यन्ततः कस्यापि सुखं सम्पादयितुं दुखञ्चोत्सादायितुमिति तत्त्वातत्त्वविवेकौपकायिक व्याप्त्याऽनुमीयते । यद्यप्याध्यात्मिकाविदैविकाधि भौतिकादि-नामात्मकं दुःखं रसायनीतिशास्त्र वैदिकतान्त्रिकोपायैः निवर्तयन्तिः सुखञ्च

कामिनीस्रक्कस्तूरिकामोदचन्दनांलकार रमणीयवास प्रभृतिभिरावर्तयन्ति बुद्धि-वैभवाधरीकृत वाचस्पतयस्तथापि नावश्यं प्रागुक्तोपायैःतत्तद्दुःखहानं तत्तत्सुखोपायानञ्च संभवति—तदुक्तमीश्वरकृष्णेन—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।
दृष्टे सापार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।।

दुखत्रयाभिघातात् तदभिघातके हेतौ जिज्ञासा भवति, दृष्टे सा अपार्था चेत् । न एकान्तात्यन्ततोऽभावात् इत्यन्वयः । दुःखत्रयाभिघातात् न्यायमते अभिघातो नाम शब्दजनकसंयोगः, सांख्यमते अभिघातो नाम बाधजनकसंयोगः दुःखं बुद्धितत्त्वे वर्तते, आत्मापि प्रतिबिम्बतासम्बन्धेन बुद्धितत्त्वे वर्तते, तत्रात्मप्रतिबिम्बे दुखं संक्रामति, तद्दुःख आत्मनः प्रतिकूलवेदनीयं भवति अतः प्रतिकूलवेदनीयत्वाऽपराभिधान बाधजनकसंयोगः दुखत्रयेण सह आत्मनः सम्बन्धः, तथा च दुखत्रयाभिघातात्-दुखत्रयेण सह आत्मनः प्रतिकूलवेदनीयत्वारव्थाऽनिष्टसंयोगात् हेतोः त्रिविधदुखात्यन्ततो छेदात्मकमोक्षस्य जनकहेतो—निमित्तकारणमिति । त्रिविधदुखनाशात्मक मोक्षकारणं ज्ञातुं समेषां जिज्ञासा जायते । दृष्टे-प्रत्यक्षसिद्धे औषधिसेवनादिकप्राप्ते सति तत्रैव जिज्ञासायाः प्रशमनात् सांख्यशास्त्रज्ञाने या जिज्ञासा अपार्था-अपगतार्थ, निरर्थिका इत्यर्थः । प्रत्यक्षसिद्धमौषधादिकमेव दुःखत्रयनाशहेतुर्भवति न तदतिरिक्तं किञ्चिदपि कारणं विद्यते तदर्थं जिज्ञासा भवेत् इत्यतो जिज्ञासा प्रदर्शन व्यर्थमिति चेन्न शंकनीयम्-एकान्तात्यन्ततोऽभावादिति ।

'एकान्तात्यन्तत' अभावात् पदद्वयं वर्तते । तत्र 'एकान्तान्त्यन्ततः' इत्यस्य एकान्तात्यन्तयोरित्यर्थः । एकान्तात्यन्तत इत्यत्र आद्यादिभ्यः उपसंख्यानम् (5।4।54) इत्यनेन एकान्तात्यन्तयोरिति षष्ठ्यन्तात्सार्वविभक्तिक तासि प्रत्ययकरणात् अभावादित्यनेन सन्धिकरणाच्च एकान्तात्यन्ततोऽभावादित्यस्य निष्पत्तिः ।

त्रिविधं दुःखं कीदृशमिति जिज्ञासायाम्-आध्यात्मिकाः-आत्मानं देहमधिकृत्य जायमानं स्वाभाविकं अशनपिपासादिकं वातपित्तकफादिप्रकोपज्वरादिकं, तथा आत्मानं अन्तःकरणम् मनोप्रभृतिमधिकृत्य जायमानं कामादिविषयकं दुखम्-तत्सर्वमाध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्-भूतानि-चौर वैरि सिंह-सर्व-वृक्ष-शिलाप्रभृति चराचरजातीयानि अधिकृत्य-निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखम् । आधिदैविकम्-देवान्-यक्षभूतराक्षसदैत्यादीन देवकृतान्चातिवृष्टिवातातापादीन् अधिकृत्य जायमानं दुःखम् तत्राध्यात्मिकदुःखमपि द्विविधं शारीरं मानसञ्च । तत्र शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्, मानसञ्च कामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याविषादजन्यम् ।

दुःखत्रायम्, परञ्च तेषां दूरीकरणस्य दृष्टोपायो विद्यमानत्वेन सांख्यस्य जिज्ञासा निष्फलेति । यतोहि अर्के चेन्मधुविन्देत किमर्थ पर्वतं व्रजेत्, इष्टस्यार्थ संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेदित्याभाणेन दृष्टोपायस्य महत्त्वप्रतिपादनात् । सन्ति च शतशोपायाः शारीरदुखस्य दूरीकरणायानेकैरूपाया भिषजां वरैः समुपदिष्टाः । मानसेस्यादिसन्तापस्य दूरीकरणाय मनो पानभोजनविलेपनवस्त्रालंकारादिपदार्थानां

सम्प्रयोगः । एवमाधिभौतिकस्यापि दुखस्य नीतिशास्त्राभ्यामकुल निरत्ययंस्थाना-ध्यवसादि प्रतीक हेतुः संभवत्येव । तथाधिदैविकस्यापि दुःखस्य मणिमन्त्रौषधयोपायः सम्प्राप्नोत्येव, एवञ्च त्रिविधस्य दुखस्य दृष्टोपाये विद्यमाने सांख्यशास्त्रस्य जिज्ञासा निष्फला इति न विचारणीया, यतो हि-एभिरूपायैरात्यन्तिक निश्चयेन च दु खनिवृत्त्यदर्शनात् सांख्यशास्त्रस्य जिज्ञासा सप्रयोजना । एतदुक्तं भवति-यथाविधि रसायनकामिनीनीतिशास्त्राभ्यासमंत्राद्यु पयोगिनापि आध्यात्मिकदुखनिवृत्तिरदर्शनात् अनात्यन्तिकम्, इति सुकरस्य दृष्टोपायस्य ऐकान्तिकाऽत्यन्तिकत्वादर्शनात् न दृष्टोपायः सार्थक इति सांख्यशास्त्राध्ययनेन तत्प्रयोगपरिशीलनेनैव दुखस्यात्यन्तनिवृत्ति निश्चयेन संभवेदिति सांख्यशास्त्रमवश्यमेव अध्येतव्यमिति सिद्धयति ।

न च वैदिकोपायस्य यागस्याचरणेन दुःखनिवृत्तिर्भविष्यतीति पुनरपि सांख्यशास्त्रजिज्ञासा निष्फलेति न विचारणीयम्—

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥2॥

गुरुमुखादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः । एतदुक्तं भवति श्रूयते एव न केनापि क्रीयते इति श्रुतिः । तत्र भव आनुश्रविकः वेददृष्टकार्यकलापः सोऽपि दृष्टवत्—वैदिक-ज्योतिष्टोमादिकार्यकलापोऽपि लौकिकोपायनैव तुल्यो वर्तते । एकान्तिकात्यन्तिकदुःख-निवृत्तिरदर्शनात् । अन्यच्च स वैदिकोपाय अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तत्वेन दुःखत्रयनिवृत्तौ न हेतुर्भवितुमर्हति । अविशुद्धि-सोमादियागस्य पशुवधकरणेन तत्र साधनता न भवितु शक्या ।

तस्मात् आनुश्रविकस्य दुःखापधातकोपायात् सोमपानस्य अविशुद्धत्वात् अनित्यसातिशयफलत्वात्तद् विपरीतो विशुद्धः कश्चनोपायोऽऽवश्यको वर्तते । तद्विपरीतश्च व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानमेव, तेषां ज्ञानन्तु सांख्यशास्त्रैणैव प्रभवेदिति सांख्यशास्त्रं श्रेयस्करत्वेनाध्येतव्यमिति ।

अत एव ईश्वरकृष्णेन सांख्यकारिकायाम्—

'व्यक्ताव्यक्तविज्ञानादिति' ।

अयमभिप्रायः—व्यक्तम्—विविच्यते प्रकृतितः कार्यरूपेण भिद्यते इति व्यक्तम्-बुद्धयादिस्थूलभूतपर्यन्तम्, अव्यक्तं-मूलकारणं प्रकृतिः । ज्ञः-चेतनः, तेषां प्रकृतिविकृति-भूतानां पञ्चविंशतितत्त्वानां विवेकेन यथार्थज्ञानं तस्मिन् सत्येव समेषां दुःखानां निश्चयेन आत्यन्तिकी निवृत्तिः नान्येन केनचिदिति सांख्यशास्त्रे जिज्ञासा साधीयसी । अतएव भगवता वेदव्यासेन श्रीमद्भागवतमहापुराणे—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

विवेक प्रकारश्च—व्यक्तज्ञानपूर्वकमव्यक्तस्य तत्कारणस्य ज्ञानम् । तयोश्च पारार्थ्येनात्मा परो ज्ञायते इति ज्ञानक्रमेणाभिधानम् । एतदुक्तं भवति—श्रुतिस्मृती-तिहासपुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा शास्त्र युक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकाला-दनैरन्तर्यसत्कारसेवितात् भावनामयात् विज्ञानम् ।

14

दर्शनेषु मोक्षस्वरूपम् ।

अथवा

भारतीय दर्शनशास्त्रेषु मोक्षस्य परिकल्पना । (1983)

अथवा

मरणोत्पत्तियो तु गरीयो मरणंभ त् । (1983)

अथवा

दग्धेन्धनानलवदुपशमो मोक्षः । (1985)

इह खलु जगत्येशेषा अपि पुरुषा वपुषा वचसा चेतसा चानवरतं धर्मार्थकाममोक्षाणामेवैकतमं कमप्यर्थयमाना प्रतीतिपथमवतरन्तीति पुरुषैरर्थ्यमानत्वात् त एव (धर्मार्थकाममोक्षा) पुरुषार्था इति जागर्ति तैर्थिकानां निर्णय । तेषु चतुर्ष, पुरुषार्थेषु पुरुषैरर्थ्यमानत्वाविशेषेऽपिनिरपायत्वान्निरूपमनिर्वृ ति–रूपत्वात् 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुतिशतोपगीतत्वाच्च मोक्ष एव परमं सत्वं श्रयतीति इत्यत्र नास्त्यत्र संशय ।

दर्शनशास्त्रं हि भारतवर्षस्य सर्वोत्तमो निधि । दर्शनानाञ्च नास्तिकास्तिकत्वाभ्यां द्वैविध्यं वर्तते । वेदप्रामाण्यानभ्युपगन्तृभि चार्वाकबुद्धजिनै प्रवर्तितानि षड्दर्शनानि नास्तिकानि, वेदबद्धादरै गौत्तमकणाद-कपिल-पतञ्जलि बादरायणैः विरचितानि षड्दर्शनान्यास्तिकानीति व्यवह्रियते । आस्तिकदर्शनेषु पूर्णप्रज्ञ-पाशुपत-शैव-प्रत्यभिज्ञा रसेश्वर-पाणिनीयप्रभृतीनां समावेशेऽपि ततो न्यायादिदर्शनानां अतिप्रसिद्धतया भूयस्त्वेन श्रुत्यनुरोधितया च तेषां तद् द्वारकं षाड्विध्यं विशेषतश्च श्रद्धीयते ।

अन्यञ्च इह संसारे आबालवृद्ध सर्वे जना बुभुत्सवो वर्तन्ते, तेषु केचनाधिभौतिकम्, केचनाध्यात्मिकं केचनाधिभौतिकं वस्तु जिज्ञासितु चेष्टन्ते । भगवती श्रुतिरप्युपदिशति मुक्ति स्यादिति समुपस्थितायां जिज्ञासायाम्—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
विश्वम्भरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मिन्
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ।।

इत्यभियुक्तानां प्रतिपादनेन ब्रह्मसाक्षात्कार एव पुरुषार्थज्ञानमिति निश्चप्रचम् । तच्च ज्ञानं वेदान्तोक्तचतुष्टयमहावाक्यश्रवणमनननिदिध्यासन-परिबृंहितसंप्रज्ञातासंप्रज्ञातसमाधिलीनतया समुद्भवति । असंप्रज्ञ तसमाधिशीलानां प्रथमं कल्पिकमधुभूमिक प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयानां चतुर्णां योगिनां प्रथमकल्पिकामधुमती-ज्योतिष्मती विशोकानाम्भ्यश्चतस्रोऽवस्था परिस्फुरन्ति ।

अयञ्च असंप्रज्ञातसमाधिरकृतब्रह्मसाक्षात्काराणां ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुरिति सर्वदोपयोगी ।

समेषां दर्शनानां रीति मोक्षस्वरूपं विविच्यते—

1. काणाददर्शनम्—

कणादेन महर्षिणा प्रणीतं दर्शनं काणादमिति निगद्यते । एतदेव च विशेषनामकमेकं पदार्थमधिकृत्य कृतमिति वैशेषिकमित्यपि व्यपदिश्यते । अथ कथमिदं दर्शनमौलूक्यदर्शनमिति नाम्ना व्यपदिश्यते इति चेदत्र केचित् 'उलूक' इति कणादस्य कौतिकमुपनाम आसीदिति तदाघृन्यैवौलूक्य नाम्ना दर्शनमिति व्यपदेशि माधवाचार्येण । अपरे तु उलूको यथा दिवाकरकरप्रकरभास्वरेऽपि वासरे भासमानानापि पदार्थान् नाक्षिलक्षी—कर्तुं प्रभवति तथा कणादोऽपि निखिलप्रमाणप्रकाशे देदीप्यमानमपि वेदं प्रमाणतया नावलोकयितुमशक्नोदिति स उलूक इति व्यपदिश्यते, सादृश्येनोपचारात् । तदीयञ्च दर्शनमौलूक्यदर्शनमिति सोपहासं संगिरन्ते वैदिकपक्षपातिनः प्रेक्षावन्त ।

दर्शनेऽस्मिन् महर्षि कणभक्षो द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यान् षट्पदार्थानभ्युपगम्य तेषामेव सविशेषज्ञानात् उपगम्यतेऽपवर्गो जनिमद्भिरित्युररीकरोति। अत एवासौ धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसमिति सूत्रयांचकार ।

2. गौत्तमदर्शनम्—

गोतमेन महर्षिणा प्रणीतं दर्शनं गौत्तमदर्शनामित्युदीर्यते । एतदेव दर्शन-माक्षपददर्शनमपि भणते । अक्षपाद इति भगवतो गोतमस्यैवान्वर्थमभिधानान्तरम् । एवं तत्राख्यानकं प्रचरति यद् गुरुकुले विधाध्ययनाय निवसन् निरतिशय तीक्ष्ण धीषणोऽतितरां वस्तुतत्वभावनशीलश्च गोतमो जातु मार्गे गच्छन् भावनापरायणतया पुरः समापतितमपि कूपमश्यतत्रैव निपपात । शीतर्तो शीतेनातितरां बाध्यमानोऽप्य-नागत्याधि कूपमेवाहोरात्रं निनाय । प्रात कूपादुदकं उद्धर्तुमागतवत्या कयाचिदुदक-हारिण्या व्यधमानसया मन्दक्रन्दन तथा चाहूतजनै कथंचन कूपादुदधारि । आनायि च तदानागमनेनातिचिन्तितस्य गुरो सकाशम् । तदा तदीय क्लेशेनातितरां दयमानो गुरुस्तस्मै 'अधप्रभृति तव पादावपि चक्षुषो इव चाक्षुषं ज्ञानं जनयितु प्रभबेताम् 'त्वं यथेच्छं पदार्थान् भावयन् व्रज' इति वरं प्रादात् । तदाप्रभृत्यैवासौ अन्वथनाक्षपाद इति पप्रथे ।

दर्शनेऽस्मिन् तार्किकतल्लजो भगवानक्षपाद प्रमाणादीन् षोडश पदार्थानभ्युप-गच्छति । तांश्च षोडशापिद्रव्यादिषु सप्तष्वेवान्तर्भावयान्त्यर्वाचीनाः । एष च भूम्ना कणाददर्शनमनुसरन्नपि तद्वैलक्ष्यणेन प्रमाणद्वयमधिकमुररीकृत्य वेदमपि प्रमानं मन्वान स्वीयामास्तिकतां द्रढयाञ्चकार । जगत सृष्टिचायमपि कणभक्ष इवैव परमाणू पादानत्वेन परमेश्वरस्य निमित्तत्वेन चाभ्युपगच्छति । जगत्कर्तुत्वेनैव परमेश्वर-मनुभिनोति । अपवर्गञ्च दुखात्यन्तविमोक्षमेव मनुते । तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग इति सूत्रेण लक्षितवान् । आत्मानञ्चायं ज्ञानाधिकरणं मन्यते न तु वेदान्तीव ज्ञानस्वरूपम् ।

सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिज्ञानात्म-भेद-प्रतिपादिका श्रुती: अभेदभावनयैव यतितव्यमिति श्रुतय संगच्छन्ते । अत एव निरञ्जन परमं साम्यमुपैति इत्यादय: साम्यप्रतिपादिका: श्रुतय संगच्छन्ते । मोक्षदशायामपि न जीवपरमेश्वरयोरैक्यं संभवति भेदस्य नित्यत्वात् । वेदाश्च पौरुषेयं गम्यते छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् इति श्रुतेरेव छन्दसां ततः परमेश्वरात् जन्यत्वसिद्धे ।

(3) सांख्यदर्शनम्—

कपिलेन महर्षिणा प्रणीतं दर्शनं कापिलमित्युच्यते । एतदेव दर्शनमन्वर्थतया सांख्यमिति संगीर्यन्ते । तथाहि-सम्यक्ख्यानं संख्या । आतश्चोसर्गेइत्यङ् ।

तत्त्वज्ञानविधानसमर्थं दर्शनमित्यर्थ: । अथवा संख्या पदार्थानां गणना तत्प्रधानं दर्शनं सांख्यम् । भवति चात्र व्यक्ताव्यक्तज्ञसंख्यानां महदहंकारैकादशेन्द्रिय तन्मात्र महाभूतेति त्रयोविशंतेर्व्यक्तानां अव्यक्तनाम्न्या प्रकृते एकस्य ज्ञस्य पुरुषस्य चेति तत्त्वानां निखिलदशनान्तरापेक्षया अधिकानां गणना प्राधान्येनेति । सास्त्यस्मिन्निति सांख्यम् । दर्शनेऽस्मिन् सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थास्वरूपाया: प्रकृतेरेवप्रपञ्चकर्तृत्वम्, पुरुषस्य तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपस्यापि चेतनतया जडाभूतायां प्रकृत्यां चैतन्याभिमान-सम्पादकत्वम् । अचेतनां भोग्यानां भोक्तृत्वञ्चेति द्वयमेवक्रुत्यम् । जगत आरंभस्तु प्रकृतेरेव । ततश्च प्रकृतेरेव जगदुत्पतौ सिद्धायामीश्वरो नावश्यक उत्याचष्टे ।

आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकेति दु:खत्रयात्यन्तिकनिवृत्तिमेवापवर्गमङ्गी-करोति । स चापवर्गो व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् सत्वपुरुषान्यताख्यातिरूप: परिणमते । सति चापवर्गे सप्तरूप–विनिवृत्तिः पर्यवस्यति ।

(4) पातञ्जलदर्शनम्—

योगिनो हि सांख्याभिमतमिव सृष्टिप्रक्रियां तदभिमतान्येव तत्त्वानि त्रीणि प्रमाणानि चाभ्युपगच्छन्त: तद् वैलक्ष्यण्येन 'क्लेशकर्मकर्शविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष-विशेष: ईश्वर' इति लक्षणलक्षितमीश्वरमुररीकृत्य स्वायं दर्शनं नास्तिकताकलङ्क-पङ्कत क्षालयित्वा निस्सारितम । चित्तवृत्तिनिरोधरूपं समाधिं संप्रज्ञातासंप्रज्ञत्वाभ्यां सविकल्पकनिर्विकल्पत्वापर पर्यायं द्विधाभिद्यमान कैवल्यं मन्वते । चित्तवृत्तिनिरोध-रूपस्य योगस्य यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि स्वीकुर्वते । निरुक्तयोगस्य प्राधान्येन कैवल्यफलकत्वेऽपि अत्रान्तरफलानि निरुपमप्रसिद्धि-रूपा विभूतयो विजृम्भन्ते । अत एव समाधिसाधनविभूतिकैवल्याख्यान् चतुर: पादान् प्राणिनाय भगवान् पतञ्जलि: ।

(5) मीमांसादर्शनम्—

अथातो धर्मजिज्ञासेत्यादि द्वादशलक्षणीं मीमांसां निर्म्मिमाणो भगवान् जैमिनीस्तु स्वानुष्ठितादखिलानभीष्टं सिद्धयतीति स्वीचकार । तत एव च निष्काम-रूपेणानुष्ठितादपवर्ग इति नावश्यमिश्वरोपासनादेरिति मुधा तदभ्युगम इत्यातिष्ठते । यागादिमेव च धर्मं मनुते—चोदना लक्षणो लक्षणोऽर्थो धर्म इति तल्लक्षणात् । चोदना

च विधिवाक्यमेव। चोदनापदस्य वेदमात्रपरत्वमभ्युपगम्य विधिमंत्रनामधेय निषेधार्थवादानां पञ्चनामपि वेदभागानामविशेषेण यागादि धर्मार्थकतां ब्रूते। उत्पत्तिनियोगप्रयोगाधिकारभेदेन विधेश्चातुर्विध्यमूरीकुर्वते। तत्र विनियोगविधेरङ्गत्वेन श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यासञ्ज्ञानि षट् प्रमाणानि। प्रयोगविधेरंगत्वेन श्रुत्यर्थपाठादीनि षट् क्रमबोधकानि च प्रमाणानीति संगिरते। मीमांसाशब्दस्यविचारे लक्षणया धर्मविचारशास्त्रमेतदिति व्यवस्थापयति।

(6) वैयासिकदर्शनम्—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादिना चतुर्भिरध्यायैः शारीरिकं मीमांसमानो भगवान् व्यासश्च सकलानां वेदान्तानां (उपनिषत्प्रमाणानां) श्रद्धये ब्रह्मणि तात्पर्यं संगिरमाणो ब्रह्म वाद्वितीयं वस्तु तद्भिन्नं सर्वं मिथ्येति प्रतिजानीते। संसारावस्था पारमार्थिकावस्था चेति अवस्थाद्वयं भावानामुगपगच्छति; पारमार्थिकी व्यावहारिकी प्रातिभासिकी चेति सत्तात्रयं पदार्थानामुररीकरोति। प्रत्यक्षानुमानागमार्थापत्तिअनुपलब्धिसंज्ञानि षट् प्रमाणानि मनुते। पारमार्थिकावस्थायां तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डमेवाखण्डब्रह्म प्रतिपादयति। व्यवहारावस्थायां व्यवहारभट्टनय इति सिद्धान्तात् भट्टमीमांसकवदेव पदार्थजातमभ्युपगच्छति। जीवब्रह्मणश्चाविद्याकृतमेव भेदं सगिरते। तत्त्वमस्यादिमहावाक्यैर्ब्रह्मसाक्षात्कारे जाते जीवब्रह्मणोरैक्यं सम्पद्यते। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्यते इतिश्रुते।

इत्थञ्च समेषां दर्शनानां मोक्षोद्देश्यकत्वेऽपि पारस्परिको विरोधो जागर्तितराम्। तथाहि वैशेषिक शब्दप्रमाणमेव नोररीकरोति, दूरे तन्मते तत्त्वमस्यादिवाक्यैर्ब्रह्मसाक्षात्कारस्य वार्ता। अथ चासौ निःश्रेयसेऽपि जीवेश्वरयोर्भेदमभ्युपगच्छन् द्वैतमेव डिण्डिमघोषमुद्घोषयति। परमणोश्च सृष्टिं कुर्वाणो जडादेव। जगदुत्पत्तिमभ्युपगच्छति। नैयायिकाश्च शब्दप्रमाणमभ्युपगच्छन्नपि ईश्वरोच्चरित त्वेन वेदस्य प्रामाण्यमनुमनुते। वैशेषिक इवैष च मोक्षेऽप्याचष्टे जीश्वरयोर्भेदम्। परमात्मनश्च ज्ञानाधिकरणं स्वीकरोति न तु ज्ञानस्वरूपम् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतिसिद्धं ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिमवधूय परमाणोस्तामुररीकुर्वन् सुतरामेव अवैदिकीं सृष्टिप्रक्रियामाकलयति।

'एतस्मादात्मन आकाशं सम्भूतं' इत्यादि श्रुतिसिद्धमाकाशस्योत्पन्नत्वमवधूय तस्य नित्यत्वं प्रतिजानीते। सांख्यस्तु 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय', 'सोऽसृजत्' इत्यादि श्रुतिसिद्धं चेतनकर्तृत्वं जगतोऽनाहत्या चेतनात् प्रधानाज्जगत उत्पत्तिमङ्गीकुरुते। 'विज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिषु जाग्रतीष्वपि बुद्धेरचेतनत्वमातिष्ठते।

इदञ्चाद्वैतदर्शनं सर्वाण्यपि अतिशेते। यथा सिंहं वने दृष्टवा शृंगालाः पलान्यते तथैव वेदान्तकेशरिण गर्जने जाते सर्वे अन्ये दार्शनिका हतोत्साहा जायन्ते। इत्थञ्च समेषां दार्शनिकां मोक्षपदार्थोऽतिसंक्षेपण विरुपित।

15

धर्मशास्त्रं राष्ट्रोन्नतिश्च ।

अथवा

न हि धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः । (1984)

अथवा

धर्मोनित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये । (1985)

सुकृतेषु प्रवर्तयन् दुष्कृतेभ्यश्च निवर्तयन् धर्म एव निखिलं जगद् राष्ट्रं च धारयतीति धर्मशब्दस्य नापार्थकं प्रवृत्तिनिमित्तम् । यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धिः स धर्मः इति धर्मं परिभाषस्य दर्शनास्यापि अयमेवाभिप्राय । एवं च राष्ट्राभ्युदयहेतोर्धर्मस्य प्रकाशत्वाद् धर्मशास्त्राणाम् प्रयोजनीयतापि सिद्धा भवति ।

अत्रेदमवधेयम्—अनादिप्रवृत्तेऽस्मिन् सततसंसरणशीले संसृतिप्रवाहे अनिर्वचनीयाविद्यया प्रवाह्यमानानां प्राणिनां पुण्यपरंपरार्जितस्य दुर्लभस्य देवैरपि प्रार्थनीयस्य भारतेऽत्र मानवजन्मन किं प्रयोजनं किं वा तदुद्देश्यमिति विचारे सति धर्मार्थकाममोक्षाख्यं पुरुषार्थचतुष्टयमेव तत्प्रयोजनं सद्भिराप्तपुरुषैराख्यायते । तेष्वपि सर्वेषां मूर्धनि स्थितत्वात् इतरेषां त्रयाणां अर्थकाममोक्षाणां पुरुषार्थानां निदानभूतत्वाच्च धर्मस्यैव प्राधान्यं स्मृतं भवति ।

धर्मस्यस्थानम्—स्थानज्ञानं विना लोके न कश्चित् कस्यचिदपि सान्निध्यमाप्नोति । ततो धर्मस्य स्थानजिज्ञासायां—

पुराण न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।।

इत्युक्तम् । एतेन विद्यानां धर्मस्य च समानाधिकरण्यमपि प्रदर्शितं भवति । विद्या ज्ञानमयस्तरु तस्य पुष्पं धर्म । अर्थकाममोक्षाश्च धर्मकुसुमजातानि फलानि इति भाव । एवं चत्वारो वेदाः धर्मस्य स्थानं भवन्ति, किन्तु ते पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिलिता सन्त एव ।

तत्र भागवतादिपुराणानि । न्यायपदेन प्रोक्तानि तर्कप्रधानानि न्यायवैशेषिकसांख्ययोगदर्शनानि धर्मजिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा चेति मीमांसे । मनुव्यासविष्णुहारीत गौतमापस्तम्बवसिष्ठ-पराशर-शंखलिखित प्रमृतिस्मृतिकारैरुक्तं धर्मशास्त्रं, षट् च वेदाङ्गानि शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तछन्दोज्योतिषाणि । एतानि चतुर्दश समुदितानि धर्मस्याधारभूतत्वात् स्थानपदेनोच्यन्ते ।

एषु चतुर्दशसु स्थानेषु द्विविधो धर्मः समुपदिश्यते प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च । अहरह सन्ध्यामुपासीत इत्येवमादिः प्रवर्तयति इति प्रवृत्तिलक्षण उच्यते । मा हिंस्यात् सर्वभूतानि इत्यादिः हिंसादिपापेभ्यो निवर्तयति ततो निवृत्तिलक्षण उच्यते ।

अत्र कश्चिदाशंकते—किं धर्मो द्रव्यरूपः ? आहोस्वित् गुणरूपः ? उत क्रियारूप ?

तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालादिगात्मनोभ्यो भिन्नत्वात् धर्मो न द्रव्यम् किन्तु आत्मनो विशेषगुणः स इति तार्किकाः । मीमांसकास्तु क्रियाव्यतिरिक्तो न गुणपदार्थ । अतो धर्म क्रियास्वरूप एव इति वदन्ति । 'धर्म चर' इत्यादि श्रुत्या, आचारः प्रथमो धर्म इति स्मृत्या च तस्य आचरणीयताविधानात् आचरणक्रिया एव धर्म इति सिध्यति ।

किं सर्वा क्रिया धर्मः । नेति । तथा सति जलताडनादेरपि धर्मतापत्ते । तस्मात्-श्रुतिस्मृतिसदाचारप्रतिपादितः नित्यमद्वेषरागिभिर्विद्वद्भिर्महर्षिभिः समाचरितः क्रियालक्षणो धर्म इति निष्कृष्टं धर्मलक्षणम् । प्रमाणं चात्र—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचार
स्वस्य च प्रियमात्मन ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः
साक्षात् धर्मस्य लक्षणम् ।। इति मनु० ।।
विद्वद्भिः सेवितः सम्यक्
नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो
धर्मस्तं निबोधत ।। इति याज्ञवल्क्य० ।।

अस्यायमाशयः—स्वतः प्रमाणत्वात् श्रुतिः यदाह स धर्म । श्रुत्यविरुद्ध स्मृतिर्यदाह सोऽपि धर्म —

यस्मिन् देशे य आचार पारम्पर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ।।

इति मनुनोक्तः श्रुतिस्मृत्यविरुद्धश्चेत् सदाचारो धर्म । श्रुतिस्मृतिसदाचाराविरुद्धं स्वात्मनः प्रियं कर्मापि धर्मः । अत्रैव सम्प्रदायमात्रशरणानामन्तर्भाव ।

राष्ट्रोन्नतेर्मूलम्—प्रत्येकमानवस्य सन्मार्गप्रवर्तकं धर्मशास्त्रं स्वे स्वे कर्मण्यभिरतिं जनयति । धर्मानुष्ठानेन च शुद्धचरित्राभिः प्रजाभि सर्वत समेधमानवैभवं स्वयमेव राष्ट्रं चौरादिरहितं संजायते । अपापे च संजाते सर्वोपद्रवरहिते राष्ट्रे सुखेन लोकानां लोकयात्रा प्रवर्तते इति तस्योन्नतेर्मूलम् धर्म एवेति नास्त्यत्र संदेहः । यथा चाशास्ते यजमानस्य राष्ट्रस्याभ्युदयाय भगवान वेद —

आ ब्रह्मन् ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजस्य शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढा नड्वानाशु सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा सभेयो युवास्य यजमानस्य जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्योऽभिवर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो न कल्पताम् ।।

यज्ञादधर्माचरणेनैव राष्ट्रे राष्ट्रोन्नति हेतवो ब्राह्मणाः ब्रह्मववर्चस्विनो जायन्ते । क्षत्रिया महारथाः गावः प्रभूतदुग्धाः । वृषभा वोढार । अश्वा शीघ्रगामिन नार्यः

सौभाग्यवत्य । युवान सभ्या । समये वृष्टिः । भूमयश्च प्रभूतान्नफलाः । ततः किमवशिष्यतेऽधिकं राष्ट्रसंवर्धनकरम् ?

किं धर्मशास्त्रं देवोपासनार्चनमेवोपदिशति ?

नहि । तदस्माकं त्रिधा धर्मं व्यवस्थापयति । आचारं, व्यवहारं प्रायश्चितं च ।

नित्यं सन्ध्योपासनादि कर्म । नैमित्तिकं ग्रहणस्नानादिकं काम्यं च पुत्रेष्टिप्रभृति कर्म निषेकादि श्मशानान्तं संस्कारविधानं च आचार ।

कीदृशो राजा भवेत् ? क मन्त्री ? कीदृशी राजसभा ? दण्ड्यानां को दण्ड ? कथं व्यवहारा निर्णेतव्या ? कियान् करो ग्राह्य ? अभिलेखानां के नियमा ? के केऽधिकारिणो नियोक्तव्या ? षड्गुणा राजनीति कथं प्रयोज्या इति सर्वराज्यविधानं व्यवहार ।

जानताजानता वा कृतानां पातकानां प्रक्षालनाय दानं तपोव्रतादिकं प्रायश्चितम् । एवं सर्वत्र धर्मस्य व्यापकता न केवलं देवार्चनादाविति सिद्धम् ।

धर्मशास्त्रं किमार्याणामेव कृते ? उतान्येषामपि ? उच्यते—

निषेकादिश्मशान्तो मंत्रैर्यस्योदितो विधि ।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयोनान्यस्यकस्यचित् ।।

इति मनुवचनात् यद्यपि तत्राधिकारिण आर्या एव प्रोक्ता किन्तु 'वर्णाश्रमैतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषत' इति याज्ञवल्क्येन इतरपदोपादानात् सर्वेषां कृते हिताभिलाषि धर्मशास्त्रमिति सिध्यति ।

अत्रायं निष्कर्ष —धर्मशास्त्रे विशेष सामान्यश्चेति द्विधा धर्मो निरूपित । विशेष यजनयाजनादि वर्णाश्रमवतां कृते सामान्यं धृत्यादिकं सर्वेषां भगवानां कृते । तथा च मनु —

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

जनोऽयं धार्मिकोऽधार्मिको वेति संशयश्चेद् उक्तैरेभिर्दशभिर्धर्मलक्षणैः निर्णय कर्तुं शक्यते । धृतिक्षमादिभिरन्वितश्चेद् धार्मिक तै विरहित, शून्यश्चेदधार्मिकः ।

सत्यं शौचं दया दानमिति च धर्मस्य चत्वारः पादा भवन्ति । कृतयुगे सर्वैरेभिर्युक्तो धर्म चतुष्पात् विद्यते । त्रेताद्वापरकलियुगेषु एकैकयाद क्रमेण ह्रस्यति । अतः इदानीं पापबहुलेऽस्मिन् कलौ दानमेव धर्मोऽवशिष्यते । उक्तं च दानमेकं कलौयुगे इति ।

राष्ट्रश्रेयस्करस्य सनातनस्य धर्मस्य पूर्तिः इष्टेन आपूर्तेन च संपद्यते । यज्ञार्चाहवनादि इष्टम् । आपूर्तं च सर्वेषां हिताय राष्ट्रे जलाशयारामकूपादिनिर्माणं द्विधा विभक्तेनानेन धर्मशास्त्रविधानेन धर्मशास्त्रं भारतीयविधानं राष्ट्रहिताय कल्पते । तद्विपरीतैर्धर्ममूल्यैर्मानवै रचितेन धर्मशून्येन विधानेन तु उन्नतिर्दूरे तिष्ठतु समस्तं राष्ट्रमेव विपत्स्यतेऽत्र न संदेह । हतो धर्मः धर्महन्तारं हन्ति । इति स्वयं मनुः प्राह—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।
तस्माद्धर्मो न हातव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ।।

तस्मात् उतिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान् स्वधर्मं निबोधत इति श्रुतेराज्ञां पालयन्तो भयावहं परधर्मविधानमपहाय स्वधर्मानुष्ठाने भवन्तु भवन्त सावधाना इति अद्यापि धर्मशास्त्रमुद्घोषयति ।

यस्य धर्मस्य संस्थापनाय युगे युगेऽवतीर्णस्य भगवतश्चरणेनांकितेयं भारती तेन धर्मेण दूरीकृतनिखिलोपप्लवेऽस्मिन् भारते राष्ट्रे भव्यानां सदैव भव्यं विदधातु भूतभव्य भवत्प्रभुर्भूतभावनो भगवानिति ।

16

धर्मशास्त्रस्यानुशासनम् ।

अथवा

अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तुहतोहतः । (1985)

अथवा

धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः । (1986)

कीटपतङ्ग-पशु-पक्ष्यादियोनीर्लक्षणोऽतिक्रम्य मानवं जन्म लभते जन्तुः । अत्रायं प्राप्नोति स्वतन्त्रता-प्राप्त्यवरम्, स्वस्वरूप-भूतं परमानन्दं चाधिगन्तुम् । देवादियोनयोऽपि भोगयोनय एवेति दिव्यभोगासक्तमनस्कतया नास्ति तत्रापि परमकल्याणाय प्रयत्नमाचरितुं जन्तोरवसरः । मानवजन्मैवास्ति सर्वोत्तमोवसरो यत्र समस्तमपि कल्याणम्-अभ्युदयं निःश्रेयसं वा साधयितुं शक्यते, मानवो हि कर्मणि स्वतन्त्रः शुभमशुभं वा यथेच्छं कर्तुं पारयति । मानव एव च विधिनिषेधगोचरः सर्वाणि शास्त्राणि मानवमेवशासति । यथा—'इदं कुरु', 'इदं च मा कार्षीः' इति । तत्रायं साधु कृत्वाऽभ्युदयं निःश्रेयसं वाधिगन्तुं क्षमते, अन्यथा कृत्वा च नीचान्नीचतरं जडभावमपि प्रयाति । सर्वशास्त्रेषु च मूलभूतं मूर्धन्यतम शास्त्रं वेद, स एव च मानवकर्त्तव्यम—आचरणीयं सर्वतोभावेन शिक्षयति । अत एव च ब्रह्मचर्याश्रमे चतुर्विंशतिवर्षाणि यावद् ब्रह्मचर्यव्रत पालनपुरःसरं पुरा नियमेनाधीयते स्म वेद, येन मानवोऽयं कर्तव्यमाचरणीयं वाऽऽत्मनः सर्वतोभावेनाधिगच्छेत् । अनेकैः प्रकारैर्विविधैश्च विधिभिः सर्वं शिक्षयित्वाऽन्ते आचार्यकुलात् प्रतिनिवर्तमानं ब्रह्मचारिणं प्रति संक्षिप्य सर्वसारभूतोऽयमाचरणीयोपदेश आचार्यस्य यथा—वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—'धर्मं चर' इति ।

अनुशासनमिदं धर्ममेव मानवमात्रस्य कृते एकमात्रमाचरणीयं प्रतिपादयति, सिद्धं चैतत् पुरुषार्थचतुष्टये धर्मार्थकाममोक्षाख्ये सर्वप्रथमो धर्म चरमश्च मोक्षः । मोक्षो हि मानवजीवनस्य परमं लक्ष्यं ध्येयं प्रापणीय वा, अयमेव पर्यायान्तरैः परमानन्द

ईश्वरप्राप्तिरात्मपदलाभश्चेति व्यवह्रियते। तस्यैतस्य परमपुरुषार्थस्य मानवजीवन-चरमलक्ष्यस्य मोक्षस्यैकमात्र साधनं धर्म एव। अर्थकामौ हि सर्वप्राणिसाधारणौ मध्यमौ पुरुषार्थौ, धर्मानुकूल्येन साधितौ च तौ न भवत प्रतिकूलौ परमपुरुषार्थसाधने, भवतश्च प्रत्युताऽनुकूलावेव। परमपुरुषार्थं मोक्षमधिगतवतो नावशिष्यते पुन. प्रापणीयं किञ्चिद्, तत्साधनतया धर्ममाचरतश्च नास्ति किमप्यन्यदाचरणीयम्, यदवशिष्येत। शब्दान्तरेषु—मोक्षमवाप्य 'नानवाप्तमवाप्तव्यम्' धर्मं च कृत्वा 'कर्तव्यं नावशिष्यते'।

साम्प्रतं च विचारणीयं कोऽयं धर्मो नामेति—'ध्रियतेऽनेन, धरति असौ' वेति धर्मपदनिर्वचनम्। 'धारणाद्धर्ममित्याहु' इतिशास्त्र—वचनं च। येन मानवो ध्रियते यो मानवं धरति स 'धर्म' इति। अर्थात् येन मानवो मानवोऽस्ति स धर्म, धर्म एव मानवता, मानवतैव च धर्मः। यदि मानवे मानवतैव नास्ति, तदा नास्ति स मानवः, धर्महीनो हि मानव. पशुर्मन्यते एव। आहारनिद्रादयस्तु भावा. पशौ मानवे च समाना। अस्ति खलु कश्चिद् विशिष्टो भाव यो हि मानवः पशोर्विशिनष्टि; सोऽयं धर्म एव, यस्य चेदं लक्षणं सर्वतोभद्रं सार्वभौमं च मान्येन मुनिना कणादेन वैशेषिक-दर्शने समुदघोषि—'यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धि स धर्म' इति। येनाचरणेन अभ्यु-दय—लौकिकपारलौकिक-सुखसमृद्धि लाभ; निःश्रेयसं = परमानन्दपदलाभश्च भवति स धर्म इति लक्षणसूत्रार्थ। अर्थकिं तत्कर्म आचरणं वा यद् अभ्युदयनि. श्रेयसयोः करणीभूतं स्यादिति चेत्-श्रुतिस्मृति-सदाचारात्मसन्तुष्टि प्राप्तमेव कर्म आचरणं वा तथेति गृहाण। उक्तं च धर्मे प्रमाणमुद्धोषिता धर्मशास्त्रेण—

"वेद स्मृति सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन।
एतच्चतुर्विध प्राहु साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥"

तत्र धर्मे मुख्यं प्रमाण वेद एव, वेदार्थमेव विशकलयन्ती स्मृति, तदुभय-समर्थितश्चाचार. तदनुकूलैव चात्मसन्तुष्टिर्धर्मे प्रमाणम्। तथा चोक्तम्—"धर्मं जिज्ञासामानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। तत एव च वेदविहितोऽर्थो धर्म इति धर्मलक्षणं करोति मीमांसाशास्त्रम्"। स चायं धर्मो दशाङ्ग संगृह्य प्रादर्शि मनुस्मृतौ—

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

दशाङ्गोऽयं धर्मो विश्वजनीन सार्वभौमश्च। आर्यो वाऽनार्यो वा भारतीयो यूरोपीयो वा गौराङ्ग कृष्णाङ्गो वा यवनो वा यहूदी वा मानवशब्दभाक् प्राणी एतेन दशाङ्गेन धर्मेण यदि सम्पन्नस्तदा भवितुमर्हति स मानवः, नोचेन्न मानव इति शक्यते वक्तुम्। एषैव खलु मानवता, या तत्तत्सम्प्रदायाचार्यैर्यत्किञ्चिदन्तरेण पर्यायान्तरैः स्वस्वनियमेषु धर्मत्वेन प्रतिपादिता। आर्यशास्त्रेषु च समासव्यासाभ्यां क्वचिद् यम-नियमरूपेण, अन्यत्र सामान्यधर्मनाम्ना, अपरत्र सनातनधर्माभिधानेन वा प्रपञ्चिता। विचार्यतां च स्वयम्-धृतिक्षमाऽस्तेय-सत्य-शौचेन्द्रियनिग्रह-विद्यादिभिर्धर्मलक्षणैर्हीनोऽपि कश्चित्किं मानवो भवितुमर्हति? पर्यायान्तरे पशुरेव सः। तत्सिद्धमिदं धर्म एव मानवता मानवतैव च धर्म इति।

मानवो हि सामाजिकः प्राणी, समाजाश्रितं च तस्य जीवनम्। समाजश्च बुद्धिबलम्; बाहुबलम्; आर्थिकबलम्; शिल्पकलादिबलम् चाधारीकृत्य भवति साधु-संघटित, अतस्तदावश्यकतां पूरयति चातुर्वर्ण्यम्, बुद्धिबलप्रधानो ब्राह्मण, बाहुबल प्रधानः क्षत्रियः, आर्थिकबलप्रधानो वैश्य, शिल्पकलादिप्रधान शूद्र। तेषामेतेषां चतुर्णामपि वर्णानां समष्टि सुसंघटितो मानवसमाज एव विराट् पुरुषत्वेन समुपवर्ण्यते वेदे—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राज्यन्यकृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्य पदभ्यां शूद्रोऽजायत'।

वर्णानामेतेषां धर्मा अति स्वस्वभावानुसारं शास्त्रैरूपदिष्टा, वृतयश्च पृथगेवोपकल्पिताः। ससारे विद्यमान समस्तोऽपि मानवसमाज चतुर्षावर्णेषु विभक्त स्यात्, स्वस्वधर्मे च पूर्णतया तत्परो भवेत्, क. कं तदा किमितिपीडयेत् सर्वासमस्या स्वमेव समाहिता भवेयु।

एवं मानवीय-वैयक्तिकजीवनस्यापि समाजस्येव चत्वार एव कृता विभागा— ब्रह्मचर्यं, गार्हस्थ्यं, वानप्रस्थ्यं, संन्यासश्चेति यैरेतै परिपूर्णतां लभमाना मानवताऽन्ते परमपुरुषार्थं मोक्षमधिगच्छन्ती सम्पद्यते सफला। तत्र वीर्यविज्ञान-शौर्यादिलाभाय ब्रह्मचर्यम्, नैतिकजीवन-समाजसम्पर्कमर्यादितजागतकसुखभोगाप्तये गार्हस्थ्यम्, गृह परित्यज्याध्य मिकोन्नत्यै अत्युच्चसमाजसेवारूप-दैवसम्पत्सम्पादनार्थं च जप-तप-ईश्वर-भजनादिपुर सरं परमपुरुषार्थपथाग्रेसरणाय वानप्रस्थाश्रम, समग्रसांसारिकसुखेभ्यो विरज्य परमपुरुषार्थभूत परमानन्दप्राप्तये संन्यास, ते एते प्रत्येक चत्वारोऽपि वर्णाश्रम-धर्मा वैयक्तिकरूपे मानवतां परिपूर्य समष्टिरूपे समाजं च परिपोष्य मानवजीवन चरम-लक्ष्यं मोक्षमधिगमयन्ति। एवं चायं सामान्यविशेषादिभेदैरनेकतां गत एको धर्म एव समस्तकल्याणसाधनाय सवतोभावेन मानवैराचरणीय इति निश्चितं भवति।

वस्तुतो धर्म एव वैयक्तिकं सामाजिक लौकिकं परलौकिकं वा कल्याणं साधयितुं क्षमते। धर्माचरणेनैव शुद्धं जायतेऽन्तःकरणम्। येन पुरुषो देवो भूत्वा देवान् यष्टुमधिकारी भवति देवोपासनया च विविधानि लौकिकान्यलौकिकानि च सुखानि भुक्ते। अन्ते धर्माचरणद्वारा शुद्धान्तःकरण एव पुरुष परमानन्दं मोक्षमपि लभतेऽनायासम्। लोके सामाजिकी व्यवस्थापि धर्मेणैव कष्टमन्तरा सिद्धयति। यद्धि राजकीय-विधान सहस्त्रैरपि साधयितुं काठिन्येनांशत एव पार्यते तद्धर्मेणाऽनायासमेव साधयितुं शक्यते। धर्मस्यास्ति आदेश 'परद्रव्याणि लोष्ठवत्', मातृवत् परदारेषु', 'आत्मवत्सर्वभूतेषु'। अय खलु धर्म एव सर्वेषामुद्दण्डानां नियामक, किम्बहुना, उद्दण्डस्य राज्ञोऽपि नियामको धर्म एव। धर्म एव जगत प्रतिष्ठा, धार्मिक एव सर्वेषां पूज्य, धर्म एव सर्वेषां पापानां निवारक, सर्वं चेदं धर्मे प्रतिष्ठितम्, यथाहुस्तैत्तिरीया— "धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति।"

धर्म एव च ब्राह्मणस्य ब्राह्मणत्व स एव क्षत्रियस्य क्षत्रियत्वं, वैश्यस्य वैश्यत्वं शूद्रस्य शूद्रत्वं पुरुषस्य पुरुषत्वं स्त्रियः स्त्रीत्व च। किम्बहुना! सर्वेषामपि तत्वं धर्म

एव । धर्म विना मानवो नास्ति मानवः किन्तुदानवः । मणिहीनो नागो, दाहहीनो वह्निश्चन्द्रहीना निशा च यथा निस्सारा निश्शोभा च विद्यते तथैव धर्महीनो मानवः । सुखशान्तिमूलं धर्म एव यदा जगति धार्मिका भावा जागरिता अभूवन्, गेहे गेहे देशे राष्ट्रे विश्वस्मिन् विश्वे च तदासीत् शान्तेः साम्राज्यम् । वर्तमान युगीनास्तु सुधारकं मन्या नेतारो धर्म दूरतो निक्षिप्य सुखं शान्तिं च नीत्या साधयितुं कामयन्ते धर्मं चाभ्युदय साधने प्रत्युत् बाधकं मन्यन्ते, दयनीयाः खलु ते वराका यतो भ्रान्तास्ते धर्मस्य वास्तविकं तत्त्वमजानन्तः परम्परा प्रचलिताः काश्चिद् विकृता रूढीरेव धर्म मन्यमानाः सन्ति । समस्तानां सुखानां शान्तीनामन्ततः परमानन्द प्राप्तेरपि साधनं धर्म एव । धर्मे अविश्वासस्य पारस्परिककलहस्य प्रवञ्चनायाः प्रतारणस्य च कृते स्थानमेव नास्ति । धार्मिको हि मानवः सर्वान् सुहृद एव वाञ्छति ।

धर्म कस्मिन्नपि अत्याचारं कर्तुं नैव वाञ्छति प्रत्युत, सर्वत्रापि आत्मीयता-भावनामेव जागरितां द्रष्टुमभिलषति । अयं चास्ति धर्माचार्याणां डिण्डिमघोषः—

'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।।'

किन्न दृष्टमेतदितिहासग्रन्थेषु विपश्चिद्भिर्यत धर्मपरायणा व्यासवसिष्ठादयो महर्षयः, शुक वामदेव-प्रभृतयो विज्ञानिनः, जनकयुधिष्ठिरादयो राजर्षयश्च केवलस्य धर्मस्याश्रयेणैव समस्तमभ्युदयं निःश्रेयसं चाधिजग्मु । अहो धर्ममूर्तेर्मर्यादापुरुषोत्तमस्य भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य धर्ममर्यादामये राज्ये कीदृशी परमा शान्तिर्बभूव, राजा वा प्रजा वा सर्वे सन्तुष्टाः प्रसन्नाः, नासीत् कोऽपि दु खी, असन्तुष्टो वा, अद्यापि शान्तिमयं तत् शासनं स्मरन्तो नरा रामराज्यमानेतुं कामयन्ते । धर्ममतिक्रम्य निर्मर्यादं प्रवर्त-मानानां महामहतामपि साम्राज्यानि धूलिधूलितानि बभूवः । प्रसंगेऽस्मिन् सत्यमेव कथितंकेनचित् सत्पुरुषेण—"ये पापमाश्रित्यसमुन्नतास्ते पतन्तिनूनं शिखराधिरूढा । हिटलर-मूसोलिनी—रावणानां निपात एवाऽत्र परं प्रमाणम् ।।" अतो धर्मनिष्ठत्व-मेवाऽस्माकजीवनं श्रेयस्करमिति कृतं संदेहेन ।

17

सनातक-धर्माः । (1983)

अथवा

चतुर्विधंप्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् । (1983)

वेदशास्त्रप्रतिपादितं सम्यगाचरणं जनस्य कर्तव्य इति को न जानाति । आचारहीनं जनं देवा अपि पुनातु नैव शक्ता इति 'आचार हीनं न पुनन्ति देवाः' इति वाक्याद्विदितमेव । तस्मादाचारस्य पालनं सर्वदा करणीयम्, तथोक्तम्—

'श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यग्नित्यमाचारमाचरेत'

यथा शरीरे बाल्यं, शैशवं वार्द्धक्यञ्चेति अवस्था चतुष्टयं प्रकृत्या भवति तथैव वैदिकमार्गमनुसृत्य मानवजीवनेऽपि स्मृतिकारैः चत्वार आश्रमा ब्रह्मचर्याश्रमपूर्वा निर्दिष्टाः। एषु समेषां मूलभूतो ब्रह्मचर्याश्रमः अयमेवाश्रमो जीवनस्य सुदृढतमः स्तम्भः। इममाश्रमं यश्च जनो यावत्सम्यक् यापयिष्यति तावानेव स पुरुषो दीर्घजीवो बलबुद्धिसम्पन्न आरोग्यवाँश्च भविष्यतीति निश्चप्रचम्। यस्य वस्तुनो निर्मितः प्रारम्भादेव दृढ़ा भवति तस्यायतिरपि दृढ़ा भवति। यश्च प्रथमत एव जीवने क्षीणतामादाय प्रवर्तते स जीवनस्यायतो कथमपि बलवीर्यसम्पन्नो भवितुं नैव शक्नोति। जीवनस्येमानि सूक्ष्माणि प्राकृतिकरहस्याण्यङ्गीकृत्य भारतीय साहित्ये संस्कृतौ च विद्याध्ययनसम्बन्धिनो नियमा उपनियमाश्च विज्ञानमन्विता सत्यशिवसुन्दरस्वरूपा-निर्दिष्टा येषामंशाशमात्ररूपेणैव स्वीकारात् मानवः यावज्जीवं सुखसम्पन्नो भवितुर्महति।

शिष्यक्षेत्रं गुरोर्विद्याबीजमादाय तदैव तद्बीजमंकुरितं पल्लवितं पुष्पितञ्च कर्तुं शक्नोति यदा स शीतलं निर्मलं मधुरं ब्रह्मचर्यसलिलं सञ्चयेत्। अत एव शास्त्रेषु विद्याध्ययनेन सह विद्यार्थी व्रतीभवेदिति निर्दिश्यते। तथा च वीर्यरक्षार्थं कृतो नियम एव ब्रह्मचर्यमस्ति।

शास्त्रेषु गुरु कुलुषु च निवसतां छात्राणां कृते ये नियमाः सन्ति समेऽपि ब्रह्मचर्यव्रतपालनपूर्वकं विद्याध्ययनायैव निर्दिष्टाः सन्ति, तद्यथासूर्योदयकालपर्यन्तं ये विद्यार्थिनः शेरते तेषां कृते शास्त्रःप्रायश्चितं विहितम्। स्मृतिषु च वर्णिनां कृते उपानद्धारणं, छत्रधारणं, गन्धमाल्यमधुमद्यमांसादिसेवनं, स्त्रीणामवलोकनं शृंगार चेष्टाः, पर्युषिताम्लादि भक्ष्याणि सर्वाणि वर्जितानि सन्ति। अस्य निषेधे इदमेव कारणं यज्जनः प्रागवस्थायामेव स्वात्मानं सुखादित्याग पुरस्सरं शीतवातातपसहिष्णु कुर्यात् येन जीवने कदापि विषमांवस्थायामपत्रायां स मनागपि द्वन्द्वाभिर्विचलितो न भवेत् इति। एतदर्थमेव विद्याग्रहणकाले ब्रह्मचर्येण सह बहव उपयोगिन नियमाश्छात्राणां कृते निर्दिष्टाः सन्ति। इत्थं व्रतसहितं विद्याभ्यासं समाप्य समंत्रं स्नात्वा शिक्षालयादनुज्ञामधिगम्य गृहस्थाश्रमे प्रवेष्टुमिच्छुको विद्यार्थी शास्त्रेषु स्नातकपदवाच्यो भवति।

यदा विद्याव्रतादिगुणैः समन्वितो ब्रह्मचारी गुरोः कुलाद् गृहमागच्छति तदा गृहागमनप्रयुक्तसंस्कारयुतमेव जनं स्नातकसंज्ञया बोधयन्ति। यतो हि कालेऽस्मिन् मन्त्रप्रयुक्तोऽभिषेकः क्रियते। इत्थं विद्यापूर्तिप्रयुक्तस्नानकरणादेव विद्यार्थी स्नातकपदेन बोध्यते। स्नातकोऽपि विद्यास्नातकः विद्याव्रतस्नातक इति त्रिधाभिद्यते। नियमपालन पुरस्सरं व्रतमपूरयित्वा केवलं ब्रह्मचर्यव्रतपालयन् यो विद्यां पूरयति स विद्यास्नातको भवति। व्रतं सनियमं पालयन्नपि विद्यापूर्णाङ्कर्तुं यो न पारयति स व्रतस्नातको भवति। विद्याव्रतं च य उभयमेव पूरयति स विद्याव्रतस्नातको भवति।

गृहस्थस्य समाजस्य देशस्य चाभ्युत्थानं तदैव संभाव्यते यदा तेषु वर्तमाना युवकाः सर्वविधया शिक्षया शिक्षिताः भवन्ति। सर्वविधा च शिक्षा तदैव लभ्या यदा

जीवनं सरलं नियमितं सात्विकगुणोपपन्नं स्यात् । गुरूणां कुलेषु विद्याया एव नियमो राजपुत्रेभ्य आदाय सर्वसाधारणजनानां पुत्राणां कृतेऽपि समान आसीत् । अस्याः शिक्षायाः एवैष प्रभाव आसीद यद् विद्याग्रहणकाले राजपुत्रेषु साधारणविद्यार्थिषु च मनागपि बाह्यभेदो नैव भवति स्म । सर्वेषां वेषभूषाभोजनादिक्रमश्च समान आसीत् । परस्परं सहानुभूतिः सर्वषु वर्ततेस्म । ईदृगादर्शस्यैवैष परिणामो यद् भगवतः श्रीकृष्णस्य सुदामा सदृशोऽकिञ्चनो सुहृत्तम आसीत् । तयोर्यादृग् विद्यार्थीजीवनं सममासीत्तदनुसारमेव तयोः पारस्परिकं प्रेम उत्तरे जीवनेऽपि अवर्तत इति केन न ज्ञायते । गुरुकुलवासे विद्यार्थी सद्गृहस्थे प्रवेशार्थं ब्रह्मचर्यादि नियमानां पालनपूर्वकं देशस्य समाजस्य जातेश्चोन्नत्यैः शारीरिकमानसिकबौद्धिकोन्नत्यै च स्वात्मानं योग्यं कुर्वन् सर्वदा यततेस्म । अस्यां दशायां स सामाजिकसांसारिकव्यवहारेभ्योऽनभिज्ञतया केवलं विद्याध्ययने एव संलग्नो वर्तते स्म । किन्तु यदा समग्रविद्यामभ्यस्य ब्रह्मचर्यादिनियम पालनतया शक्तिसम्पन्नो भूत्वा गृहस्थाश्रमे प्रविविक्षुः सन् जीवनक्षेत्रे प्रविशति तदा स शिरोवेष्टनोपानच्छत्रादि धारणाधिकारी भूत्वा सामाजिक वेषेण गार्हस्थ्यजीवनमभिलषति तदा आचार्यः समावर्तन संस्कारानन्तरं गृहगमनात प्राक् एनमेवमुपदिशति येनायं समाजस्य देशस्य च कार्येषु सर्वदा अग्रणी भवेत् ।

आचार्यस्यैते उपदेशा एतादृशा भवन्ति यैरुपदिष्टः स्नातकः जनसमूहेषु ग्रामेषु देशेषु शिष्टव्यवहारे च कदापि स्खलनं नैव विदन्ति । स्नातकमुद्दिस्य आचार्य मुखेभ्यो निसृतास्त उपदेशाः वेदेस्मृतौ धर्मग्रन्थेषु चोपलभ्यन्ते । तेषु कतिपये उपदेशास्तैत्तिरीयोपनिषदि विस्तृतरूपेण लभ्यन्ते । आचार्यप्रदत्तोपदेशाः श्रुत्यादिषु एवं विधा उक्ता, यथा—

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धमं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमद । आचार्याय धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छोत्सीः । सत्यान्नप्रमदितव्ययम् । धर्मान्न प्रमदितव्ययम् । कुशलात्र प्रमदितव्यन् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्ययम् । मातृ देवो । पितृ देवो भव । आचार्य देवो भव । अतिथि देवो भव ।

स्नातको म्लेच्छवेषं न धारयेत्, मुखं विवृत्य सर्वेषां पुरो न हसेत् जृम्भेच्च अनयोः क्रिययोर्व्यवधानं कुर्यात् । मङ्गलकामो रात्रौ जल क्रीडां न कुर्यात्, यथोक्तं मार्कण्डेयेन—

स्त्रिया सह न भुञ्जीत, भुञ्जभानां क्षुभतीं जृम्भमाणां मुखमुपविष्टाञ्च नेक्षेत ।

स्नातकः सदा स्वाध्याय निरतः स्यात्, माला वस्त्राद्बहिर्न धारयेत्, पुष्पादिभिः सुगन्धिवान् विनयादिभिश्च प्रियदर्शनः स्यात् । द्रव्ये सति जीर्णं मलिनं वस्त्रं न धारेत्, रक्तमुल्बणं चापि वस्त्रं न प्रयोजयेत इति कूर्मे पुराणे वर्णितम् ।

वसिष्ठानुसारं स्नातकः स्वकीयमाहारविहारं निहारञ्च गोपयेत् । व्यर्थं नालपेत्, अशुभं न चित्तयेत् वित्तमायुषी च न प्रकटयेत् ।

याज्ञवल्क्येनोपदिष्टम्—यत् प्राणसंशयकारकं कृत्यं न कुर्यात् । अकारणं अकस्माच्चाप्रियं न ब्रूयात्, मिथ्या न वदेत्, अहितंनाचरेत्, तस्करकर्म न कुर्यात्, कुसीदं चापि न गृह्णीयात् । जले मलमूत्रनिष्ठीवनादिकं न त्यजेत्, हस्तयोरञ्जलिना च जलं पिबेत्, वृद्धान् स्वापात्र प्रबोधयेत्, अक्षैर्नदीव्येत्, रुग्णस्य धर्मधातकस्यान्तिकं नोपविशेत् ।

उत्तमैः पुरुषैर्नीचैश्च सह न कदापि विरुध्येत । विरोधो विवादो विवाहश्च समैरेव कार्यः सुधीः कलहं निरर्थकं वैरं च त्यजेत्, स्वीकार्यां हानिं लभमानोऽपि वैर पूर्विकां धनवृद्धिं परित्यजेत्, यथोक्तं विष्णुपुराणे—

विरोधं नोत्तमैगच्छेन्नाधमैश्च सदाबुधः ।
विवादश्च विवाहश्च तुल्यरूपैर्नृपेष्यते ॥
नारभेत कलिं प्राज्ञः शुष्कवैरञ्च वर्जयेत् ।
अप्यल्पहानिः सोढव्या वैरेणार्थागमं त्यजेत् ॥

इत्थमनेके उपदेशाः शास्त्रेषु स्नातकविषये निर्दिष्टाः स्वल्पव्यवहारेषु च स्नातकविहितेषु पूर्णतया विवेचनं कृतम्, एतादृशोपदेशयुता एव तरुणा प्राक् काले गुरोः कुलात्पठित्वा बहिः समागता एव गृहेषु, समाजे देशे च धर्ममुन्नमय्य संसारे नक्षत्रवत् प्रकाशन्ते स्म ।

भारतीयप्राचीन शिक्षया सम्बद्धाः प्राक् व्यवहृतिः सम्प्रति स्मृतिमात्ररूपेणै-वास्माकं पुरतोऽवशिष्टा न च क्वापि क्रियारूपेण प्राप्यते । न चाधुना गुरोः कुलानि न च गुरवः, आचार्याः स्नातकाश्च सन्ति । प्राचीनशिक्षायां केचन एतादृशाः सिद्धान्ताः विद्यन्ते स्म ये सर्वास्वपि शिक्षाऽप्रणालीषु सर्वं दैव लाभप्रदा भवितुं शक्नुवन्ति । ते च सन्ति स्नातकान्तप्रति गमनकाले उपदेशाः ये चाधुनापि विश्वविद्यालयेषु कन्वोकेश-नावसरे कस्मिन्नपि रूपे दृश्यन्ते एवं प्रत्येकोऽपि विश्वविद्यालय उपाधिप्रदानकाले उपदिशति छात्रान् । इत्थमेवाचार्या प्राक् कालेऽपि स्नातकान् संसारे गन्तुकामान्, उपदिशन्ति स्म । उभयोरप्युपदेशयोः पर्याप्तं प्राप्यते साम्यम्, यथा—"असत्यं मा वद, सत्यं वद, स्वालम्बीभूयाः स्वाध्यायः सदाकरणीयः, स्वात्मानमावमंस्थाः, देशस्य जातेर्धर्मस्य च रक्षा विधातव्या, कर्तव्य करणीयः, गुरोराचार्यस्य शिक्षालयानाञ्च विस्मरणं न कार्यम् अपितु एते सर्वदा सेव्याः इत्यादि बहुविधोपदेशस्तथैव सम्प्रत्यपि प्रदीयत एव यथा प्राक्काले । एषु पूर्वोपदेशेषु 'श्रद्धयादेयम्, ह्रिया देयम्' इत्यादि-वाक्यान्यपि सन्ति ।

स्नातकानामेष परमः कर्तव्य अस्ति यद् यत्र तै शिक्षालब्धा तेषां शिक्षालयानां ते यावज्जीवं सेवायै तत्पराभवेयुरिति । अद्यापि स्नातकस्तादृश एव व्यवहारोऽपेक्ष्यते । शिक्षाप्रदायिकानां शिक्षासंस्थानां ते स्वजीवने कदापि मा विस्मरेयुरिति तेषां प्रमुखः कर्तव्य । देशस्य जातेः, धर्मस्य च ते सर्वदा रक्षणं कुर्युः प्राचीनभारतीयमर्यादाञ्च पालयेयुरित्येव शास्त्राणामाचार्याणाञ्चोपदेशः ।

18
भारतीयसंस्कृतौ संस्काराः ।

व्यक्तित्वस्य विकसनमेव संस्कृतिः । संस्कृतेः समारम्भो भारते प्रारम्भ एव संस्कारेभ्यो भवति । यत्कञ्चिदपि प्रागाकलितं विकाससौरभ्यं मानवतायां विद्यते, तस्य भावेन भावनमेव संस्कारः । संस्कारेणैव शिशौ मानवतायाः प्रथमोद्बोधो भवति । गर्भाधानात् प्रभृति मरणपर्यन्तं संस्कारविधिना पुरुषस्य शरीरतः मनसश्च शुद्धिर्जायते समक्षं च तस्य भाविजीवनस्योत्थानमयी परम्पराविष्क्रियते । व्यक्तित्वस्य विकासाय तत्सम्बन्धितत्त्वानुशीलनम्, उपदेशश्रवणम्, गुरुजनानां वैदिकमन्त्रैः शुभाशंसा चावश्यमेव प्रभावोत्पादकानीति भारतीयानां धारणा ।

एषु संस्कारेषु षोडश एव प्रायशो धर्म-ग्रन्थेषु संगृहीताः । तेषां प्रमुखसंस्काराणां नामानि गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन-विष्णुबलि-जातकर्म-नामकरण-निष्क्रमणान्न-प्राशन-चौलोपनयन-चतुर्वेदव्रत-समापवर्तनविवाहाः सन्ति । व्यक्तित्वस्य विकासदृष्ट्या ब्रह्मचर्यमतिशयं महत्त्वपूर्णं विद्यते । ब्रह्मचर्यस्यारम्भ उपनयनविधेरनन्तरं भवति । प्रायशः संस्काराः शैशवे सम्पाद्यन्ते ।

संस्काराणां सर्वजनीनत्वं प्रत्यक्षमेव वर्तते । शूद्राणां स्त्रीणां च संस्कारा मन्त्रविहीनाः कृता । प्राचीनयुगे संस्कारा अपरिहार्या आसन् । अकृतसंस्कारा जना जातच्युताश्चाण्डालशूद्राणां समकक्षत्वं प्राप्ताश्चेति प्रमाणितम् । उपनयनं तु द्वितीयं जन्मैव येनार्यो द्विजो भवति ।

प्राचीनयुगे पितॄणामत्यधिका चिन्ता पुत्रस्य व्यक्तित्वविकासनाय बभूव । 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इति शास्त्रवचनानुसारं पितास्वयमेव पुत्ररूपेणजायते । अस्यां दशायां पिता स्वकीयाभावानपि पुत्रसमृद्ध्या परिपूर्यात्मानं बहु मन्यते स्म । प्राचीनयुगस्य धर्म-परायणतापि संस्कारं सर्वजनग्राह्यं विदधाति स्म ।

अत्र प्रमुखसंस्काराणां संक्षेपतः वर्णनं क्रियते—

गर्भाधानम्—

शिशोर्मातुर्गर्भे बीजरूपेण प्रतिष्ठापनं हि गर्भाधानम् । वैदिककालेऽस्मिन्नवसरे विष्णु-त्वष्ट्र-प्रजापति-सरस्वतीनां स्तवनं कृतम् । बृहदारण्यकोपनिषदि विशिष्टगुणैः समन्वितान् पुत्रान् प्राप्तुं विशिष्टभोजनानां विधानं वर्तते । परवर्तियुगे गर्भाधानाय तिथीनां नक्षत्राणां च शुभाशुभत्वं पर्यालोचितम् । विज्ञानसम्मतं प्रतिभाति विधान-मिदम् ।

मातुः पितुश्चोदात्त विचाराणां संकल्पनम्, तेजस्विपुत्रप्राप्तिकामना, दिव्य-शक्तीनां सान्निध्यं चास्य संस्कारस्य वैशिष्ट्यानि ।

पुंसवनम्—

गर्भस्थशिशोः पुत्रत्वं विधातुं पुंसवनं क्रियते । प्रथमं तावत् देवानां स्तुतयः कृताः, तेभ्यश्च देवेभ्यः पुत्रप्राप्तये वरो याचितः । अस्मिन्नवसरे गर्भरक्षणार्थं पुत्रोत्पत्तये

चायुर्वेदोक्तौषधीनां प्रयोगश्च कृतः। वैष्णवसंस्कृतौ पुंसवनार्थं वर्षपर्यन्तं विष्णोः स्तुतिः तस्याराधना पूजा च कर्तव्या इति विहितम्।

सीमन्तोन्नयनम्—

सीमन्तोन्नयनमुत्सवप्रायमभवत्। संस्कारेऽस्मिन् पतिः पत्न्या केशपासमलंकुर्वन् तस्मिन् सीमन्तमरचयत्। गौणतो गर्भभारक्लान्ता माता प्रमोदिताभूत्। वैदिकयुगे सीमन्तोन्नयनावसरे वीणागाथिनो वीणावाद्यपूर्वकं सोमराजस्य स्तुतिमकुर्वन्। सीमन्तोन्नयनं गर्भाधानात् चतुर्थे मासे सम्पादितम्, यदा शुक्लपक्षे पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमायुक्तोऽभवत्।

विष्णुबलिः—

गर्भाधानादष्टमे मासे विष्णुबलिसंस्कारेण विष्णवे चतुष्षष्टिबलयः समर्पिता वैदिकसूक्तैश्च तस्य देवस्य स्तुतिः कृताः। प्रभावेणास्य संस्कारस्य गर्भस्थशिशोः संरक्षणं निरापद् प्रसूतिश्चामन्येताम्।

जातकर्म—

शिशौ जाते महान् हर्षो जायते। प्रथमं तावत् वैश्वानरस्य परितुष्टिः सम्पाद्यते। नाभिवर्धनात्प्रागेव पंचभिर्ब्राह्मणैः शिशोरनुप्राणनमक्रियत। अनेन विधानेन तस्य पूर्णजीवनस्याभ्युदयस्य चाशा सम्भाविता। ब्राह्मणानां संसर्गो रहस्यविधिना शिशोर्ब्राह्मणत्वविधायक इति धारणासीत्।

आश्वलायनानुसारं दधिमधुभृतं प्राशयन् पिता शिशवे शतवर्षाणां पूर्णायुरकामयत। ततः शिशोर्मेधाजननं कुर्वन् तस्यश्रवणसमीप मुखमानीयागायत्—

मेधां त्वे देवः सविता मेधां देवी सरस्वती।
मेधां त्वे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ॥

नामकरणम्—

नाम्नोऽतिमहत्त्वमिति विदितं सर्वेषाम्। नाम्नो महत्त्वमधिकृत्य बृहदारण्यकोपनिषदि संवादो यं प्राप्यते—

"यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति। नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति।"

जातकर्मसंस्कारे गुह्यं नाम कृतम्। जन्मनो दशमे द्वादशे वा दिने पुण्ये मुहुर्त्ते नक्षत्रे वा सर्वजनप्रकाशनीय नामाक्रियत।

बृहस्पतिमतं नामाधिकृत्य प्रमाणितम्—

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म॥

निष्क्रमणम्—

जन्मनश्चतुर्थे मासे शिशोर्गृहान्निष्क्रमणमभवत्। निष्क्रमणदिवसे तत्र सूर्यस्य दर्शनं प्रथमं विधातव्यम्। सूर्यस्तु भारतीयदृष्ट्या ज्ञानविज्ञानयोः परमं निधानमेव।

आचार्य एव सूर्य सविता वा दिव्यज्ञानाय । रात्रौ निष्क्रमणविधौ चन्द्रदर्शनं कर्तव्यम् । एताषां दिव्यविभूतीनां दर्शनस्य शिशोः सर्वतः संवर्धने हितकरः प्रभावो भवति ।

अन्नप्राशनम् —

शिशोर्जन्मकाले दधिमधुघृतानां प्राशनमभूत् । पश्चात् शिशोः षष्ठमासेऽन्न-प्राशनं कृतम् । आयुर्वेदानुसारं लघुहितमन्नं शिशवे दातव्यम् । अन्नस्य न केवलं जीवन-धारणायैव महत्त्वमपितु व्यक्तित्व विकासायान्नस्योपयोगिताभिमता ।

भारतीयधारणानुसारमन्नं देवतारूपं वर्तते । अस्मिन् संस्कारे पदे पदेऽन्नदेवस्य स्तुतिर्विहिता ।

चूडाकरणम्—

चूडाकरणं शिशोः प्रथमेऽब्दे तृतीये वा सम्पादितम् । केशानां कर्तनं विधाय शिरसि चूडा कृता । केशकर्तनस्य लाभा आयुर्वेदानुसारं सन्ति । यथा—

"पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम् ।
हर्षलाघवसौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम् ॥"
"केशश्मश्रु नखादीनां कर्तनं संप्रसाधनम् ।"

चूडाकरणात्प्रभृति शिखाग्रहणं भवति ।

उपनयनम् —

आचार्येण ब्रह्मविद्याया अध्यापनाय विद्यार्थिनः शिष्यभावेन स्वीकरणमुप-नयनम् । ततः पंचविंशतिवर्षपर्यन्तं ब्रह्मचर्याश्रमस्य विधानम् । पितास्वयमेव स्वपुत्रमा-चार्यसमीपं नीत्वा तस्योपनयनाय प्रार्थयति । वैदिककाले विद्यार्थी स्वयमेवाचार्यसमीपं गत्वान्यवेदयत्-ब्रह्मचर्य-मागामिति ।

परिवर्तियुगे विस्तृतोपनयनविधेः प्रमुखांगान्यधोलिखितानि—विद्यार्थिन उत्तरीयवासोधारणम, मुण्डनम्, मेखलादण्डधारणम्, हवनम्, समिदाधानम् सावित्री-शिक्षणं च । वैदिककाले विद्यार्थिनीनां कन्यकानामुपनयनविधानं सुप्रचलितमासीत् । ईदृशीनां कन्यकानां संख्या तदानीमपि निःसंशयमेव नासीदधिका ।

समावर्तनम्—

आचार्याश्रमेऽध्ययनं परिसमाप्य प्रायशो विद्यार्थिनः स्वगृहमागच्छन् । आश्रमाद् गृहागमनं समापवर्तनम् अस्मिन्नवसरे । समावर्तन संस्कारसम्पादितः । समावर्तनसंस्कारे विद्यासम्पन्नस्य ब्रह्मचारिणो विधिवत्स्नानमभूत् समावर्तनसम्बन्धि स्नानमिदं कृत्वैव स स्नातकोऽभवत् । समावर्तनमनु स्नातकस्य गृहस्थाश्रमपरिपालनाय गृहिण्या अपेक्षा-भूत् । सा तु विवाहसंस्कारेण लभ्यासीत् ।

विवाहः—

विवाहस्तु सन्तानकामाय, प्राकृतिकसुखाय, धर्मसम्पादनाय चाभवत् । संस्कार-स्यास्य सातिशयं महत्त्वमस्ति ।

पुरा विवाहस्याष्ट भेदा आसन्—ब्राह्मः, दैवः, आर्षः, प्राजापत्यः, आसुरः, गान्धर्वः, राक्षसः, पैशाचश्च । एष्वष्टवर्गेषु चत्वार आद्या आर्या बभूवुः । अपरे आर्येतरा आसन् ।

सज्जीवनयापनाय समुपवर्णिताश्च ये कतिपयप्रमुखसंस्कारा न केवलं भारतीयानां कृते धर्मार्थकाममोक्षप्रदायकाः, किन्तु निखिलजगति जीवनसरणौ लोकोपकारका इति कृतं सन्देहेन। अपरे शेषास्तु ये नात्र समुवर्णिता संस्कारास्ते तु मृत्युपर्यन्तमवलम्बनीयत्वात् नाऽस्माभिर्विवेचिताः इति कृत्वा विरम्यते मयका।

19

मलमासः, तद्वर्ज्यानि।

अथवा

मलमासः। (1982)

प्रवृत्तिरेषाभूतानां निवृत्तिस्तु महाफला इति वचने प्रवृत्तिनिवृत्तिनिर्णायकं शास्त्रं धर्मशास्त्रम्। कालनिर्णये कार्याकार्यविवेचने चास्य महती समुपादेयता वर्तते। किमपि शुभं कार्यं धर्मशासकानामनुमतिं विना निष्पादितं न श्रेयस्कराय प्रभवति। धर्मशास्त्रे मलमासस्य निन्दनीयत्वं निर्दिष्टम्, नात्र किंचिदपि शुभकार्यं विधीयते। कोऽयं मलमास इति जिज्ञासायम्—

यस्मिन् मासे न संक्रान्तिः संक्रान्तिद्वयमेव च।
मलमासः स विज्ञेयो मासः स्यात्तु त्रयोदशः॥

न संक्रान्तिरित्यनेनाधिमासस्य ग्रहणम्। मलमासमधिकृत्य सत्यव्रतोऽपि—

राशिद्वयं यत्र मासे संक्रमेत दिवाकरः।
नाधिमासो भवेदेष मलमासस्तु केवलम्॥

अयञ्च मासश्चान्द्र एव। अतश्च यत्रामावस्याद्वयमध्ये संक्रान्तिर्नस्यात्, संक्रान्तिद्वयं वा भवेत् स मलमासो भवतीति कारिकार्थः। अस्यैवमलिम्लुच इत्यपि संज्ञा प्रसिद्धावर्तते। तदुक्तञ्च—

रविणा लंघितो मासश्चान्द्रः ख्यातो मलिम्लुचः।

अत्रकारिकायां चान्द्रोऽपि शुक्रप्रति पदादिरेवविवेचितम्, अस्मिन् प्रसंगे लघुहारीतेन्—

इन्द्राग्नी यत्र हूयेते मासादिः स प्रकीर्तितः।
अग्निसोमौ स्मृतौ मध्ये समाप्तौ पितृसोमकौ॥
तमतिक्रम्य तु यदा रविर्गच्छेत्कदाचन।
आद्यो मलिम्लुचो ज्ञेयो द्वितीयः प्राकृतः स्मृतः॥

मालमासस्य पापमयत्वं निन्दनीयत्वञ्च प्रत्यपादि धर्मशास्त्राचार्यैः। अयञ्च मासः सर्वकर्मणां कृते पापमयत्वेनवर्ज्योवर्तते। यथा विष्णुधर्मोत्तरेग्रन्थकारेण—

सौरेणाब्दस्तु मासेन यदा भवति भार्गवा।
सावने तु तदा माने दिन षट्कं न पूर्यते॥

दिनरात्र्याश्च ते राम प्रोक्ताः संवत्सरेण षट् ।
सौर संवत्सरान्ते मानेन शशिजेन तु ॥
एकादशातिरिच्यन्ते दिनानि भृगुनन्दन ॥
समामासे साष्टमासे तस्मान्मासोऽतिरिच्यते ।
स चाधिमासकः प्रोक्तः काम्यकर्मसु गर्हितः ॥

एवमेवास्य मासस्य मन्द प्रयोजनत्वेन नपुंसकत्वमपि प्रतिपादितम् । यतोहि यथा नपुंसको न कदाचिदपि सन्तानोत्पादने कयारीत्यासमर्थो भवितुमर्हति एवमेव अस्मिन्मलमासे कृता धार्मिकी प्रक्रिया सर्वथाफलशून्येति तस्य नपुंसकत्वंसंसाधितम् ।

ज्योतिः शास्त्रे—

असक्रान्तोहि यो मास कदाचित् तिथिवृद्धितः ।
कालान्तरात्समायाति स नपुंसक उच्यते ॥

अस्य मलमासस्य मलिम्लुंचत्वाभिधानं कर्मफलचौरैः राक्षसादिभिराक्रान्तत्वात् मलिम्लुचंविजानीयात् गर्हितं सर्वकर्मसु इत्यनेन नामान्तरगतस्यापितस्य निन्दनीयत्वम् । मलमासे वर्ज्यावर्ज्यनिर्णयः—

यथा सत्यव्रतेन—

मलिम्लुचस्तु यो मास समासः पापसंज्ञितः ।
वर्जितः पितृदेवाभ्यां सर्वकर्मसु तं त्यजेत् ॥

शातातपः—

वत्सरान्तरगतः पापो यज्ञानां फलनाशकृत् + एतेन स्पष्टतयैवात्रविवेचितं यदत्र मलमासे निष्पादितोयागादिः निष्फलो जायते । अत एव कालमाधवेनाचार्येण विवेचितं यत् कस्यापि कर्मण समीचीनत्वं धर्मशास्त्ररीत्याविवेचनीयम् । तदनन्तरं कृतस्य कार्यस्य फलप्राप्तिः शुभावहा भवति नान्यथा ।

पैठिनतिः—

श्रौतस्मार्तक्रियाः सर्वा द्वादशे मासे कीर्तिताः ।
त्रयोदशे तु सर्वास्ता निष्फला इति कीर्तिताः ॥
तस्मात् त्रयोदशे मासे कुर्यास्ता न कथञ्चन ।
कुर्वन्ननर्थमेवाशु कुर्यादात्मविनाशनम् ॥

अत्र त्रयोदशस्वञ्च संक्रान्तियुक्तप्राकृतद्वादशमासापेक्षया कुर्यादात्मविनाशनमित्यनेन सर्वथा निषिद्धमिति पर्यालोचितम् । अत्र निष्फला इत्यमिधानात् फलकामनया प्रवृतं कर्म निषिध्यते, यानि नित्यानि कार्याणि सन्ति तेषामनुष्ठानन्तु मलमासेन न निषिध्यते । नित्यकर्मणां संध्योपासनानां अनाचरणे प्रत्यवायो भवतीत्यपि अनेन संसाधितम् ।

मलमासे काम्यकर्मवर्ज्यं हि स्मृत्यन्तरेष्वपि यथा—

इष्टादिसर्वकाम्यं हि मलमासे विवर्जयेत् ।

यद्यपि पूर्वप्रतिपादनेन मलमासे सर्वकर्मणः निषेधो निरूपितः, अत्र च काम्य-कर्मण एव निषेधनीयमिति कथं निर्णय इति शंकनीयम् ।

अन्ते— मुक्त्या नैमित्तिकं नित्यं इत्यादिना समाहितम् ।

एवमेवकाठकेन—

अनन्यगतिकं नित्यं कुर्यान्नैमित्तिकं तथा इतिस्मृत्या, मलेऽनन्यगत्ति नित्यां कुर्यान्नैमित्तिकीं क्रियाम् । इति काठकवचनाच्च । अनन्य गतिदशाप्राप्तस्य कर्मणो न निषेधः ।

तत्र कारणम्—

अनन्यगतिकं च यस्य नित्यस्य मुख्यकालातिक्रमे जघन्यस्य कालान्तरस्य अननुज्ञातत्वात् अत्यन्तलोपे प्रायश्चित्तं प्रसज्यते तत् । मालमासे काम्यनिषेधोऽपि आरम्भ-समाप्तिविषय एव, न तु मध्यत्वाक्रान्तकाले । अत एव ब्राह्मसिद्धान्तः—

असूया नाम ये मासा न तेषु मम सम्मतः ।
वृतानाञ्चैव यज्ञानामारंभश्च समापनम् ।।

प्रारब्धा परिसमाप्तं तु काम्यं कर्म मलसासेऽपि भवत्येव, यथा तत्रैव—'प्रारब्धं कर्म यत् किञ्चित् तत्तु कार्यं मलिम्लुचे ।' एवमेव मरीचि—'रोगे चालम्पयोगे च सीमन्ते पुंसवने तथा । यद्दानादिसमुदिष्टं पूर्वन्नापि न दूष्यति ।' पूर्वन्नापीत्यस्य मल-माऽसेपि इत्यर्थो बोधव्यः ।

एवमेव स्मृतिसंग्रहे—

जातकर्म प्रसूतिश्च सोमन्तोन्नयनं व्रतम् ।
मलिम्लुचेऽपि कुर्वीत निमित्तं यदिजायते ।।

व्रतशब्देन अलम्पयोगादिनिनिमित्तक व्रतानामावश्यक प्रायश्चित्तरूपकृच्छ्रचान्द्रा-यणादीनां ग्रहणम् । श्राद्धकार्यस्यानिवार्यत्वं विवेचयता स्मृतिकारेण तत्कारणं मलमासस्य न प्रतिबन्धकत्वमितिविवेचितम्, यथा—

श्राद्धतातकनामानि—ये संस्कार संवृत्ताः ।
मलिम्लुचेऽपि कर्तव्या इष्टीकाम्यांश्च वर्जयेत् ।।

अत्र संस्कारशब्देन अन्नप्राशननिष्क्रमणाः विवक्षिताः। जनार्दनशयनादारभ्योत्थानं यावत् धृत्वाग्निं धारणपारणादिकं करिष्यामीति संकल्पसंहिताः सव्रताः काम्या अपि । इष्टिग्रहणं काम्यपशुबन्धादिकर्मोपलक्षम् । सर्वेषामपि काम्यानामनावश्यकत्वेन वर्जनी-यत्वात् । यज्ञोपवीतसंस्कारस्य वर्जनीयत्वं विवेचितम्—

अस्तं गते गुरौ शुक्रे वृद्धे बाले मलिम्लुचे ।
व्रतारंभापवर्गञ्च न कुर्यात् मौञ्जिबन्धनम् ।।

पराशरेण प्रतिष्ठादिकर्मणामपि मलमासे वर्ज्यत्वं समादिष्टम्, यथा—

आग्न्याधेयं प्रतिष्ठा च यज्ञदान व्रतानि च ।
वेदव्रतवृषोत्सर्गः चूडाकरणमेव च ।।
माङ्गल्यमभिवेकञ्च मलमासे विबर्जयेत् ।।

अस्यापवादो दृश्यते शास्त्रेषु—

चन्द्रसूर्यग्रहे चैव मरणे पुत्रजन्मनि ।
मलमासेऽपि देयं स्याद्दत्तमक्षय्यकारणम् ॥

20
धर्मशास्त्रानुसारेण दायभागः।
(सम्पत्ति विभाजनम्)

दायशब्दो हि प्राचीन वैदिक साहित्येऽपि प्रयुज्यमानो दृश्यते। यथाहि, प्राचीनतमे ऋग्वेदे—'ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्' । अत्र शतदायशब्दस्य प्रयोगः प्रभृतभावेऽर्थे सायणाचार्येण प्रयुक्तः । लोके व्यवहारप्रचलितवसीयतस्यार्थे तेषामभिप्रायः । ऋग्वेदस्य 'यस्यदायं विभजन्त्येभ्यः' (10/114/10) अस्मिन् मंत्रे दायशब्द प्रयोगो भागेऽर्थे प्रयुक्त इति सम्भाव्यते । तैत्तिरीय सहितायां, ब्राह्मणग्रन्थेषु च दायशब्दस्य पैतृकसम्पत्ति इत्यर्थः कृतो वर्तते । नामानेदिष्टस्य गाथायां समायाति यत् मनुना स्वकीयो दायः पुत्रेभ्यः प्रदात्, अत्रदायशब्देन धनं दायशब्दस्यार्थ इति प्रतीयते । ताण्ड्यब्राह्मणस्य मन्त्रेषु समुपवर्णितो वर्तते पुत्रास्ते एव भवन्तिये धनस्याधिकभागं श्रेष्ठतमं भागं स्वीकुर्वन्ति । यथा—

'तस्यधः पुत्राणां दायं धनतममिवोपैति तं मन्यन्ते यमेवेदं भविष्यतीति'
(96–413–4)

सूत्रग्रन्थेषु स्मृतिषु च दायशब्दार्थक रिक्थशब्दोऽपि प्रायुक्तः । यथा अत्र ऋग्वेदस्य मंत्रे—

"न जामये तान्वो रिक्थभारैक् चकारगर्भं सवितुर्निधानम् ।"
(ऋग्वेद 3–31–1)

अथर्ववेदे—"न ब्राह्मणो हिंसितव्योग्निः प्रयतनोरिव । सोमो ह्यस्य दायादः इन्द्रो अस्याभिशक्तिपाः ॥" (अथर्ववेदे 5–18–6)

अत्र मंत्रे सोमरस पाने ब्राह्मणानां भाग आसीदिति सोमपानस्य निष्पत्तिः कया रीत्या भवतीतिपिंगक्ष्यैकदायन्या सोमं क्रीणाति इत्यनेनान्यत्र ग्रन्थेषु विवेचिता । दायदानशब्दयोर्मध्ये धातुसाम्येऽपि अर्थे महान् विक्षेपोवर्तते । दानशब्दस्यकस्मिन्नपि वस्तुनि सम्प्राप्त स्वतःपरित्यागः, तस्मिन्नेवान्यस्य कस्यापि अधिकारकरणमेवार्थः । अतो दा धातु विवेचनप्रसंगे—स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरसत्वोत्पादनमेव दाधात्वर्थ इति समालोचितं व्याकरणे दायशब्दार्थश्च—कश्चन दिवंगतो मानवः कस्याप्यन्यस्य स्वामित्वोपपादनाय स्वस्य स्वत्वं त्यजति । एवं विधार्थभेदेऽपिदान दायादशब्दोः स्वामित्वभागाङ्गो उभयत्र विद्यते एतदेवानयो साम्यम् । एतदेव विचारितं शास्त्रकारैः—"दीयते इति व्युत्पत्या दायशब्दो ददाति प्रयोगश्च गौणः मृत प्रव्रजातादिवस्तुसत्व

निवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पत्तिफलसाम्यात्। न तु मृतादीनां तत्र त्यागोस्ति। ततश्च पूर्वस्वामिसम्बन्धाधीन तत्स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्वं तत्र निरूढो क्षयशब्दः।"

(दायभागः 1–4–5)

दायस्य भेदद्वयं वर्तते—अप्रतिन्धात्मोदायः, सप्रतिबन्धात्मकश्च। प्रथम भेदे — पुत्रपौत्रप्रपौत्राः स्वकीयेन सहजसम्बन्धेनैव पितृपितामह प्रपितामहादीनां वंशपरम्परया प्राप्तं धनं गृहीतुं अधिकारप्राप्ताः सन्ति, अत्र पितामहादीनां अभिरुचि उपस्थितिर्वा न अपेक्षते, स्वत एव अधिकारप्राप्ति भवत्येव। न कश्चन तेषां धनप्राप्तिकरणे प्रतिबन्धो वर्तते, अतएवास्याभिधानमप्रतिबन्धो इति प्रथितं वर्तते। परञ्चस्वपितृव्ये मृते अथवा संतानहीने स्वस्यकुलीने मृते सति यद् धनाधिकं केनापि कृताधिकारेण प्राप्यते स दाय भागः सप्रतिबन्धात्मको वर्तते, यतो हि स्वकीय पुत्राभावे केनापि कुलजातेन तत्राधिकारं प्रकटयितुं शक्यते, अतोऽस्मिन् दायभागे शत्रुकृतप्रतिबन्धस्य विद्यमानत्वेन अस्य नाम सप्रतिबन्धात्मकदाय इत्यभिधानमन्वर्थं विद्यते।

मिताक्षरायां दायभागोऽयं विशेषेणनिरूपितो वर्तते, मिताक्षराकारेण स्वत्व-स्यार्थो न केवलं शास्त्रीय एव गृहीतव्यः, सामान्येऽर्थेऽपि अस्य प्रयोगो विधेयः यथा-तण्डुलानि भौतिकोपयोगस्य साधनानि वर्तन्ते, तेनैवप्रकारेण स्वत्वस्यापि साधारणा-दानप्रदानविषयेऽर्थे उपयोगोविधेय इतितेषां तर्कः। आहवनीयअग्नेः समुपयोगः शास्त्रीयकार्ये एव भवति न तु लौकिक कार्येषु। तन्दुलौदननिर्माणाय आहवनीयाग्ने. समुपयोगः कर्तुं शक्यते। शास्त्रज्ञानशून्येषुम्लेच्छेषु क्रमेण प्राप्ते दायभागे स्वामित्वाधि-कास्य धारणा नितरां प्रसिद्धावर्तते।

अयमिभ्रायो वर्तते—स्वामित्वप्राप्तिसाधनविषयकानां भावानां न केवलं शास्त्रादेवोद्गमो जातः, परञ्च मानवनां धारणा अति प्राचीनतमेयं व्यवस्था वर्तते। केवलं शास्त्रकारैः व्यवस्थेयं विशेषेण सुव्यवस्थिता कृता। अत एव गौत्तमस्मृतौ दायादविभागविवेचनप्रसङ्गे दायभागोऽयमौचित्यसीमया प्रतिबद्धः कृतो दरीदृश्यते। तत्र पञ्च सर्वेषां कृते समानानि सन्ति दायञ्च केवलं ब्राह्मणानां कृते नियतं वर्तते। अस्मिन् रूपे व्यवस्थेयं पाणिनीया वर्तते। भगवता पाणिनिना न नवीनशब्दाः प्रणीताः न च तेषामुत्पत्तिःकृता, यतोहि पाणिनिमते शब्दस्य नित्यत्वेनोत्पादविनाशाभावात्, एवञ्च केवलं पाणिनिना एतदेव कृतं यत् भाषायां प्रयोक्तृभिः प्रयुक्ता शब्दा कया रीत्या साधुत्व विशिष्टा इत्येव विवेचितम्, एवमेव दायभागेऽपिलोकपरम्परामाश्रित्वेव व्यवस्था विधेयेति मिताक्षराणां मतं विद्यते।

अनेकैर्विद्वद्भिस्तर्कोऽयं प्रस्तूयते यदेषा स्वामित्व निर्धारणा न शास्त्रीया अपितु लौकिका वर्तते, अर्थादियं व्यवस्था सांसारिकप्रयोगमनुसृत्यैव प्रचाल्यते, अत एव इमां लोकसिद्धां व्यवस्थां प्रतिपादयन्ति नवीनाचार्याः। सर्वसाधारणस्य कृते इयं धारणां यत् पुत्रो जन्मत एव स्वस्य पितृधनस्याधिकारीति। एतदतिरिक्तमत्र गौत्तमवचनमपि प्रामाणिकम्। आचार्यवरैस्समुद्घोषितं यत् य कश्चनोऽपि स्वामित्वं जन्मत एव प्राप्यते। अत्र गौतमवचने अन्येषां स्मृतिकाराणामपि सम्मति वरीवर्ति, यथा याज्ञवल्क्य—

बृहस्पतिव्यासप्रभृतिभिः स्पष्टमेव विवेचितं यत् पितामहस्य सम्पत्तौ पिता पुत्रस्य संतानरूपेणाधिकारवान् वर्तते, ये मानवा एतादृशीं व्यवस्थां मन्यन्ते तेषां निराकरणाय निम्नरूपेण तर्काः प्रस्तूयन्ते—

वैदिकाग्निनां स्थापनायां वैदिकैः स्पष्टमेव जोघुष्यतेयदत्रदायभागे निश्चित-व्यवस्थया एवं सर्वं विधेयम् । यथा पुत्रोत्पत्यनतरमपि धार्मिकसंस्काराणां सम्पादनाय पिता पैतिकसम्पत्तितः किञ्चिदुधृत्य व्ययं कर्तुं शक्नोति । एवमेव कुलपति कुलव्यवस्थापका वेदेन स्मृतिजातैः निर्धारितनियमानुसारेण अपरिहार्यधार्मिककृत्यानां सम्पन्नकरणाय अचलां सम्पत्तिं परित्यज्य अन्यस्य पैतृकसम्पतेः व्ययं कर्तुं सक्षमा सन्ति । एतावदेव नहि अपितु कुलव्यवस्थापकः स्नेहोपहाररूपेण सम्पत्तिं दातुं शक्नोति । कुटुम्बपालनाय, कुले समागतविपत्तिनिराकरणाय अथवा स्वकीयकुलरक्षार्थं पैतृकसम्पत्तिं उपयोगकर्तुं प्रभवति । आवश्यकं श्राद्धादिसम्पादनाय अचलसम्पत्तिं कस्यापि अधीनां विधाय ऋणप्राप्तिं कर्तुं शक्नोति, अचल सम्पत्तिं विक्रेतुमपि विपत्तिकाले कुलाध्यक्षः सर्वथा सक्षमो वर्तते ।

शास्त्रानुसारेण व्ययकरणस्य नियंत्रणमपि सम्प्राप्यते—कौटुम्बिकीं परिस्थितिं पर्यालोच्यैव दानपुण्यकार्याणि कर्तुं शक्नोति नान्यथा, एतादृशी पद्धतिः न वर्तते यत् कुलाध्यक्षः स्वेच्छया समेषां वस्तूनां दानं कुर्यात्, कुटुम्बजनाश्च बुभुक्षिताः सन्तः पीडां प्राप्नुयुः । अत एव याज्ञवल्क्या शिक्षायां याज्ञवल्क्येन स्वकुटम्बाविरोधेन देयमिति, एतेन स्पष्टमेव भासते यत् नैषा सम्पत्तिः वर्तते यस्या आदानप्रदाने स्वेच्छया कुर्यात्, परञ्चादानप्रदाने समुचित व्यवस्थां ज्ञात्वैव विधेये । आदानप्रदानयोः करणाय योग्यतैव सर्वाधिको मापदण्डः । मदनरत्नेन दृष्टान्तमेकं दत्त्वा विषयोऽयं स्पष्टीकृतो वर्तते यथा—अन्नागारे सुरक्षितबीजानि न स्वत एव अंकुरितानि भवितुं शक्नुवन्ति परञ्च अंकुरितकरणस्य बीजेषु योग्यता अवश्यमेव वर्तते एवमेवात्र दायभागेऽपि विविच्य एव समुचिता व्यवस्थायामेव योग्यतया व्ययो संभवेत् नान्यथा । एवमेव यो मानवो यत् धनं समुपार्जति तस्य व्ययकरणस्य तस्याधिकारो न्यायप्राप्तो वर्तते, यतो हि सा तस्य अर्जिता सम्पत्तिः वर्तते । परन्तु मनुनारदादीनां मतानुसारं सम्पत्तिवन्तोऽपि त्रयः सम्पत्तिहीना परिगणिता, के तेत्रय इति जिज्ञासायां—पत्नीपुत्रदासाः । एते हि यत् किञ्चिदपि अर्जयन्ति तत्सर्वं पतेः, स्वामिन एव समधिकृतम्, न च तत्र स्वातन्त्र्येण अधिकारः । मनुव्यवस्थायां शबरस्वामिनाभिप्रायो भिन्न एव समादिष्टः । शबरस्वामिना विवेचितं यत् न मनोरिदं तात्पर्यं यत् पत्नी पुत्रदासैः समार्जितराशिस्तेषां नेति अपितु समुपार्जितस्य धनस्योपयोगं व्ययं वा पतिपितास्वामिनिर्देशमन्तरा न कर्तुं शक्यते इति । मनोर्व्यवस्थेयं दायभागेन मिताक्षराकारेण च समर्थिता ।

दायस्य विभाजनकालः—

अतिप्राचीन काले यदा कुलपतिसत्तात्मपरिवारः प्रचलितः आसीत् तस्मिन् समये पितुःपुत्रस्योपरि एकसत्तात्मकपूर्णाधिकार आसीत्, पितुरादेशपालनं पुत्रस्य परमं कर्तव्यमासीत्, कुले सम्पत्या विघटनं नाभीष्टमासीत्, अर्जितसम्पतेरधिकारः

पितुरेव स्त्रीणाञ्च सम्पत्तिसंरक्षणे नाधिकारः । मान्यतेयं वैदिकसाहित्ये धूंधलाजीवनेन प्रमाणिता भवति । ऐतेरेयब्राह्मणे— शुनःशेपस्य कथायां अजीगर्तेणस्वं पुत्रं वरुणाय क्रयणं कृतम्, विश्वामित्रेण च स्वस्य एकोत्तरशतेषु आत्मजेषु विद्यमानेष्वपि शुनःशेषं दत्तकत्वेनाङ्गीकृतः । एकोत्तरशतपुत्रेषु अनेकैः पुत्रैः स्वपितुराज्ञोलंधिताः, विश्वामित्रेषु न दायभागः कृतः, दायभागेन वंचिताः खलु ।

अनेन प्रसंगजातेन स्पष्टमवभासत यद् ऐतरेय ब्राह्मणस्य युगे पुत्रस्योपरि पितुः सर्वथा पूर्णाधिकार आसीत् । इत्थञ्च दायभागस्य विभाजनं पितुः भृत्योः पूर्वमेव यथाशास्त्रेण प्रतिपादितं तथा विधेयम् ।

दायविषये विद्यमानेष्वपि अनेकेषु मन्त्रेषु मनुवचनं सर्वथा प्रामाणिकमिति कृतं संदेहेन । यतोहि अस्य मानव धर्मशास्त्रस्याति प्राचीनकालादेव सर्वत्र विशिष्टादरोऽवर्तत, अत एव मनुस्मृतौ सर्वत प्राक्—

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥'

भारते समुत्पन्ना स्वकीयाचरणस्य शिक्षा सर्वैगृहीतव्या इत्यनेन भारतीयानां चारित्र्यबलं कियत्प्रचलनमासीदिति अनुमानुं शक्यते । विशेषेण याज्ञवल्क्येनापि दायभागमश्रित्य या व्यवस्था कृता, सा सर्वथा समीचीनेति नात्र विवादावसरः । यतोहि योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन्, अत्र याज्ञवल्क्यस्य योगीश्वरत्वमभिधाय आदरातिशयः प्रकटितः, अतो दायभागेऽपि तन्निर्दिष्ट पन्था एव श्रेयान् इति अलं विस्तरेण ।

21

कोऽयं श्राद्धः कति विधश्च ।

अथवा

श्राद्धं पञ्चविधं प्राहुर्विप्राः शास्त्रस्य वेदिनः । (1982)

भारतीयानां संस्कृतो श्राद्धस्य विशिष्टं स्थानमासीत् मनीषिणः अस्य महत्त्वमुररीकृत्यास्य कृत्यमाचरन्ति स्म । श्रद्धया दीयते यत् श्राद्धमिति मन्तव्यम्, श्राद्धमहिमाशयस्य महिमान समुपवर्णयता स्मृतिचन्द्रिकाकारेण—

श्राद्धात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्कर मुदाहृतम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्यात् विचक्षणः ॥

अत्र कारिकायां श्राद्धादधिकश्रेयस्करत्वं नान्योऽस्ति इति विविच्य सर्वप्रयत्नेन अस्य सम्पादनेऽपरिहार्यत्वं समालोचितम् । अस्मिन् विषये देवलेनापि—

अरोगः प्रकृतिस्थश्च चिरायुः पुत्रपौत्रवान् ।
अर्थवानर्थकामी च श्राद्धकामो भवेदिह ॥

परत्र च परां तुष्टिं लोकांश्च विविधान् शुभान् ।
श्राद्धकृत्यसमवाप्नोति यशश्च विपुलं नरः ॥

श्राद्धसम्पादनेन रोगरहितः पुत्रपौत्रवान् सन् मानव संसारे सर्वत्र यशः प्राप्नोति इति प्रमादमकुर्वता विवेकिना श्राद्धविधौ नालस्यं कर्तव्यमिति ।
योगीश्वरो याज्ञवल्क्योऽपि—

आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षंसुखानि च ।
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहः ॥

अयमभिप्रायः—मनुष्याणां पितरः श्राद्धकरणेन सन्तुष्टाः सन्तः आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सर्वविधानि च प्रयच्छन्ति । यमराजेनापि श्राद्धकरणं विष्णुपूजन सममिति प्रत्यपादि । यथा—

ये यजन्ति पितृन् देवान् ब्राह्मणान् सहुताशनान् ।
सर्वभूतान्तरात्मानं विष्णुमेव यजन्ति ते ॥
आयुः पुत्रान् यशस्स्वर्गं कीर्तिं पुष्टिं बलं श्रियम् ।
पशून् सुखं धनं धान्यं प्राप्नुयात्पितृपूजनात् ॥

पितृणां पूजनं किं विदधाति, सर्वं खलु प्रयच्छति, अत एव "पितरि प्रीयमाणे तु प्रीयन्ते सर्वदेवता" इत्यनेन पितृणां सर्वदेवमयत्वंविवेचितम् । एवमेव मार्कण्डेय-पुराणेऽपि वेदव्यासेन—

पिता पितामहश्चैव तथैव प्रपितामहः ।
पिण्डसम्बन्धिनो ह्येते विज्ञेयाः पुरुषास्त्रयः ॥
प्रयान्त्याप्यायनं वत्स सम्यक् श्राद्ध विधानतः ॥

अत्र श्राद्धे सम्यक् विधानञ्च नामशास्त्रानुसारेण विधानमेव । वृहस्तपतिरपि—

य एवं वेत्ति मतिमांस्तस्य श्राद्धफलं भवेत् ।
उपदेष्टानुमन्ता च लोके तुल्यफलौ स्मृतौ ॥

तथाऽकरणेऽपि दोषस्तेनैव दर्शितः—

न तत्र वीरा जायन्ते नारोगा न शतायुषः ।
न च श्रेयोऽधिगच्छन्ति यत्रश्राद्धं विवर्जितम् ॥

एवञ्च यदि कश्चनो मानवो जनिमवाप्यापि यदि श्राद्धं नाचरति तर्हि स न श्रेयोऽधिगच्छति, न च तस्य पुत्रा वीराः जायन्ते, न वा स शतायुर्भवति । एवञ्च श्राद्धस्यापीहार्थत्वं श्राद्धस्य प्रतिपादितम् । आदित्यपुराणेऽपि—

न सन्ति पितरश्चेति मनसि यो नरः ।
श्राद्धं न कुरुते तत्र तस्य रक्तं पिबन्ति ते ॥

एवमेव मार्कण्डेयपुराणे धनाशुद्धावपि दोषो वर्णितः । यथा—

अन्यायोपार्जितैर्द्रव्यैर्यच्छ्राद्धं क्रियते नरैः ।
तृप्यन्ति तेन चण्डालाः पुल्कसाद्याश्च योनयः ॥

एवं विधशास्त्रकाराणां श्राद्धमहिमावर्णनेन श्राद्धस्यापरिहार्यत्वं नितरां सिद्धयतीति नाविदितं प्रेक्षावताम् । विविधाचार्यैर्लक्षितलक्षणोऽयं श्राद्धःकतिविधिः इति जिज्ञासायां वृहस्पतिः—

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं सपिण्डकम् ।
पार्वणं चेति विज्ञेयं गोष्ठयं शुद्धयर्थमष्टमम् ।।
कर्माङ्गं नवमं प्रोक्तं दैविकं दशमं स्मृतम् ।
यात्रास्वेकादशं प्रोक्तं पुष्ट्यर्थं द्वादशं स्मृतम् ।।

नित्य नैमित्तिकयोर्लक्षणं पारस्करेणोक्तम्—

अहन्यहनि यच्छ्राद्धं तन्नित्यमिति कीर्तितम् ।
वैश्वदेवविहीनं तु अशक्तोप्युदकेन तु ।।
एकोद्दिष्टं तु यच्छ्राद्धं तन्निमित्तिकमुच्यते ।
तदप्यदैवं कर्तव्यमयुक्तानाशयेद्विजान् ।।

यत् अहनिअहनि निष्पाद्यते तत् नित्यमुच्यते, यदि कश्चन श्राद्धीयवस्तु संकलने कर्तुमशक्तो भवेत्तर्हि तादृश्यामवस्थायां वैश्वदेवविहीनं केवलंनोदकेनापि कर्तुं प्रभवति । एकोद्दिष्टश्राद्धे एकमेवोद्दिश्यविधानात् आयुष्मान् ब्राह्मणान् भोजयेत् न युग्मान् । काम्यादीनां लक्षणं वृद्धवशिष्ठेनोक्तम्—

अभिप्रेतार्थसिद्धयर्थं काम्यं पार्वणवत्स्मृतम् ।
पुत्रजन्मविवाहादौ वृद्धिश्राद्धमुदाहृतम् ।।
नवानीतार्घ्यपात्रं च पिण्डश्च परिकीर्यते ।
पितृपात्रेषु पिण्डेषु सपिण्डीकरणं तु तत् ।।
गोष्ठयां यत्क्रियते श्राद्धं गोष्ठीश्राद्धं तदुच्यते ।
बहूनां विदुषां प्राप्तौ सुखार्थं पितृ तृप्तये ।।

स्वस्याभीष्टसिद्धिकामनया पार्वणश्राद्धं विधीयते श्रद्धालुभिः । एवमेवात्मज जन्मप्रसंगे वैवाहिकमाँगलिक कार्ये च न वृद्धिश्राद्धं निष्पाद्यते ।
शुद्धयर्थस्य लक्षणं प्रचेतसोक्तम्—

क्रियते शुद्धये यत्तु ब्रह्मणानां तु भोजनम् ।
शुद्धयर्थमिति तत्प्रोक्तं श्राद्धं पार्वणवत्कृतम् ।।

अस्याभिधेयेनैव ज्ञायते यदिदं शुद्धिकरणायैव विधीयते, अथा च पार्वणवत् ब्राह्मणानां भोजनमेव क्रियते ।

कर्माङ्गादीनां लक्षणं हि पारस्करेणोक्तम्—

निषेककाले सोमे च सीमन्तोन्नयने तथा ।
ज्ञेयं पुंसवने श्राद्धं कर्माङ्गं विधिवत्कृतम् ।।
देवानुद्दिश्य क्रियते यत्तद्दैविकमुच्यते ।
तन्नित्यश्राद्धवत्कुर्याद् द्वादश्यादिषु यत्नतः ।।

गच्छन् देशान्तरं यद्धि श्राद्धं कुर्यान्तु सर्पिषा ।
तद्यात्रार्थमिति प्रोक्तं प्रवेशे च न संशयः ।।

श्राद्धभेदान् निरुप्येदानीं श्राद्धाधिकाराः के भवन्तीति जिज्ञासायाम्—

प्रमीतस्य पितुः पुत्रैः श्राद्धं देयं प्रयत्नतः ।
ज्ञातिबन्धुसुहृच्छिष्य ऋत्विग्भृत्यपुरोहितैः ।।

दिवंगतस्य पितुपुत्रेण महता यत्नेनन श्राद्धं विधेयम्, पुत्राभावे च ज्ञातिबन्धु सुहृच्छिश्यभृत्यपुरौहितैरपि श्राद्धं कर्तुं शक्यते । अत्र करिकायां पितृशब्देन मातुरति पुत्रैः श्राद्धं विधेयमिति विवेचितम । अत एव सुमन्तुः—

मातुः पितुः प्रकुर्वीत संस्थितस्यौरसस्सुतः ।।

अनुप नीतेनापि पुत्रेण श्राद्धाधिकारो वर्तते, अत्र सुमन्तुवचनं प्रमाणं यथा—

श्राद्धं कुर्यादवश्यं तु प्रमीतपितृको हि यः ।
व्रतस्थो वाऽव्रतस्थो वा एक एव भवेद्यदि ।।

अत्र अव्रतस्थ शब्देनानुपनीतो विवक्षितः । अनुपनीतस्याधिकारे वृद्धमनुरपि—

कुर्यादनुपनीतोपि श्राद्धमेको हि यस्सुतः ।
पितृयज्ञाहुतिं पाणौ जुहुयाद्ब्राह्मणस्य सः ।।

अत्र विषये व्याघ्रेण वैशिष्टयं प्रतिपादितं, तेषामिदमाकूतं यत्, अनुपनीतेन पुत्रेण वेदोच्चारं विना श्राद्धं विधेयम्, अनुपनीतस्य वेदानाधिकारात् । यथा व्याघ्रः—

कृतचौलस्तु कुर्वीत उदकं पिण्डमेव च ।
स्वधाकारं प्रयुञ्जीत वेदोच्चारं न कारयेत् ।।

पुत्राभावे पत्नी अपि पिण्डोदकक्रियां कर्तुं प्रभवति । यथा शंखोक्तम्—

पितुः पुत्रेण कर्तव्याः पिण्डदानोदकक्रियाः ।
पुत्राभावे तु पत्नीस्यात् पत्न्यभावे तु सोदरः ।।

पितामहस्य यदि पुत्रो विद्यते तर्हि पुत्रेणैव कर्तव्य न पौत्रेण व्यवस्था धर्म-शास्त्राचार्याणाम् । यथा ऋश्यशृङ्गेण—

नैतत्पौत्रेण कर्तव्यं पुत्रवांश्चेत्पितामहः ।

कदा श्राद्धं विधेयमिति कालनिर्णयप्रसंगे याज्ञवल्क्यः—

अमावश्याष्टका वृद्धिः कृष्णपक्षोऽयनद्वयम् ।
द्रव्यं ब्राह्मणसम्पत्तिः विषुवत्सूर्यसंक्रमः ।।
व्यतीपातो गजच्छाया ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः ।
श्राद्धं प्रति रुचिश्चैव श्राद्धकालाः प्रकीर्तिताः ।।

चतुर्दश्यां श्राद्धं न विधेयमिति मनुना—

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः ।।

अस्मिन् गर्गाचार्येण विवेचितं यत् पितृपितामहादीनां श्राद्धं न विधेयं, परञ्च-शस्त्रेणाहतस्य चतुर्दश्यां श्राद्धं विधेयमेवेति यथा—

चतुर्दश्यां तु यच्छ्राद्धं सपिण्डीकरणात्परम् ।
एकोद्दिष्टविधानेन तत्कार्यं शस्त्रघातिने ।।

एवञ्चैतावता एतत् सिध्यति यत् पुत्रस्य कुते स्वस्य पितुः श्राद्धविधानमावश्यकम् । यस्यकुले विद्यमानेऽपि कुलस्य जना श्राद्धे नाचरन्ति ते पापभागिनो भवन्तीति कृतं संदेहेन । अत्र श्राद्धे पवित्रायाः परमावश्यकता वर्तते, यदि पुत्रे महता समारोहेण श्राद्धमिदं निष्पाद्यते परञ्च पवित्रताया वातावरणं न विद्यते एतादृश्यां स्थितौ श्राद्धकरणाय पर्युत्सुका अपि पितरस्तद्युतं श्राद्धं न स्वीकुर्वन्ति, अतएव भागवते भगवता वेदव्यासेनास्य संक्षेपणाचरणमेव हितावहं विवेचितम् । यथा श्राद्धे कुर्यान्नविस्तरमिति भागवते ।

भगवता पाणिनिना तु अपत्य शब्दस्य व्याख्यानप्रसंगे विवेचितम् यत् अपत्य शब्दो हि नात्मनपर्याय किन्तु पुत्र पौत्रादिसंतति पर्यायः न पतन्ति नरके पितरो येन तदपत्यमिति पंक्तिविंशति सूत्र भाष्येऽपत्यशब्दव्युत्पादनात् तथा च पौत्रादयोऽपि पितामहादीनां नरकादुद्धर्तारस्तेषाममपिपौत्रत्वेन पुत्रत्वं संसाधितम् । एवञ्च महाभारतादौ जरत्कार्वाद्युपाख्यानेषु प्रसिद्धमेव । महाभारते-जरत्कारुर्नैष्ठिक-ब्रह्मचर्यपरायणो बभूव, एवञ्चास्य मातृ-पित्रोः न केनापि श्राद्धमाचरितम्, तस्याननुष्ठानेन नरके तस्य पितराविति विस्तारेण निरूपितम् । अतः श्राद्धकरणमावश्वकमिति स्थिति । भगवता रामेण तु सीतागवेषणप्रसंगे मध्यमार्गे मृतस्य जटायोः न केवलं दाहरेव कृत, अपितु श्राद्धमप्यनुष्ठितमिति वाल्मीकिरामायणे विवेचितम् ।

एवमेव गयायां पिण्डदानस्य वैशिष्ट्यं प्रतिपादितम्, मृतस्य पितुः पुत्रो यदा श्राद्धकरणाय फल्गूनदीमवतरन्ति, तस्मिन् पितरो नितान्तं समुत्सुकाः सन्तो नृत्यमाचरन्तीति न केवलं शास्त्रेष्वेव विवेचितम्, परञ्च गयानिवासिनः श्रद्धालवोऽपि पारम्पर्येण श्रुतमिदं तथ्यं प्रकटयन्ति अत एव शास्त्रकारैः—

"गयायां पिण्डदानाञ्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता । इत्युक्तम् ।"

श्रूतयते वाराणस्यां प्रेतशिलाख्यस्थाने पुत्रेण पिण्डप्रदानात् प्रेतत्वं प्राप्तस्यापि पितुर्मोक्षो जायते । एवमेव बदरीकारण्येऽपि ब्रह्मकपालीति नाम्निस्थानेऽपि स्वस्य पितृणां प्रीत्यर्थं पिण्डदानेन श्राद्धं विधीयते । तेन च पुत्रः सर्वमभवाप्नोति ।

22

भारतीं भारतीयानां देववाणीमुपास्महे ।

अथवा

संस्कृतभाषायाः संस्कृतिपोषकत्वम् । (1983)

अथवा

संस्कृतभाषायाः अभ्युत्थानोपायाः । (1988)

इतिहासस्य महदाश्चर्यं हि संस्कृतं नाम । संस्कृतं देशस्य शक्तिस्रोतः, जनभावनाया उदात्तीकरणस्य त्रिपथगा, राष्ट्रैक्यस्य सनातनं सूत्रम्, सुसंस्कृतानामाचार्याणां जीवनसर्वस्वं च वरीवर्ति । भारतवर्षस्य यत्किमपि वैशिष्ट्यम्, श्रेष्ठम्, सर्वोत्तमञ्च तन्निखिलमेव अस्यां महाभाषायां सञ्चितं विद्यते । संस्कृताध्ययनस्य तात्पर्यम् तासां सर्वासां मान्यतानां स्वीकरणं, याः मनुष्येभ्यः पूर्णतमं न्यायसिद्धं जीवनञ्च प्रयच्छन्ति ।

यदि वयं मनुष्यमवगन्तुं वाञ्छामः, यन्न केवलं दर्शनशास्त्रस्य प्रत्युत् ज्ञानमात्रस्योद्देश्यम्, तर्हि संस्कृत-साहित्यस्याध्ययनं कर्तव्यमेव । संस्कृतसाहित्ये मानवजीवनस्य तेषां स्थायितत्त्वानां विवेचनं विद्यते, यानि आधारीकृत्यं सभ्यता संस्कृतिश्च निर्मीयते, मानव जातेरितिहासस्य परम्पराश्च संस्थाप्यन्ते । मनुष्यत्वस्य पूर्णतायै संस्कृताध्ययन तथावश्यकम् यथाद्यत्वे आधुनिकविषयाणमवगमनाय वैदेशिकभाषाणां परिज्ञानम् । संस्कृते तादृशाः लेखका विचारकाः साधकाश्चाभूवन् यैर्न केवलं भारतवर्षं प्रत्युत निखिलमेव जगत् धन्यमात्मानं मन्यते ।

संस्कृतं न केवलं भारतस्य अपितु निखिलस्यापि विश्वस्य प्राचीनतमा परिष्कृता च भाषा, या मानव-संस्कृतेः सभ्यतायाश्च सृष्टौ सर्वाधिकं सहयोगं प्रायच्छत् । इयमेव केवला भाषा, या भूतले मानवस्य प्रादुर्भावादारभ्य अद्ययावदपि सुरक्षिता समागच्छति । मनुष्यजीवनस्यादिमध्यावसानेषु सदा समपेक्षितेयं वाणी मानव-जातेरितिहासस्य मानसिकविकासस्य क्रमाणां चाध्येतृभिः सर्वदा पठनीया वाञ्छनीया च । संस्कृतसाहित्ये निहितविचारधाराभिः संसारस्य असंख्यपुरुषाः प्रेरिताः प्रभाविताश्च । तेषां कल्पनाः समान्दोलिताः जीवनस्य अर्थानां रहस्यानां च नवीनाः पक्षाः समुद्घाटिता । सा याथार्थ्येन विश्वव्यापिनी । इदमेव तत साहित्यम्, यस्मात् अद्ययात्रदपि परिदृश्यमाना महापुरुषा उत्साहं चालभत्त, परिपूर्णतां चाध्यगच्छन् । परितन्त्रेऽपि देशेऽस्माभिः नष्टा प्रतिष्ठा, तेषामेव नेतृणां प्रयत्नेन प्राप्ता, येषां दृष्टि संस्कृतज्ञानेन समृद्धा आसीत् । देश संस्कृतेकत्थानपतनयोः इतिहासोऽपि अस्मिन्नेव साहित्ये निलीनो वर्तते । अस्यैव ग्रन्थेषु विगतपरः सहस्रवर्षाणामनुभवः सञ्चितो विद्यते, येषु मानव-जीवनं सहस्त्रशो व्याख्यातम्, यदधीत्य विश्वस्यापि विश्वस्य चेतश्चमत्कृति लभते ।

अद्यापि भारत-वासिनां समूह-चेतना संस्कृतसभ्यतयैव प्रभाविता। संचारिणी दीपशिखेव भारतीयमस्तिस्कस्य सर्वोत्कृष्टं प्रकाशयन्ती अतुलनीयेयं भाषा। अस्याः सम्यगाश्रयं विना भारतवर्षस्यात्मा कदापि तृप्तिं न गच्छेत्। भारतस्य तु समग्रप्रकृतौ अद्यापि अस्या एव एकच्छत्रं साम्राज्यम्। अस्माकं वैयक्तिकानां सामाजिकानां चाचार-विचारादिकानामधिष्ठानभूमिरियमेव भाषा। अस्माकं जीवने यत् किमपि सारभूतम्, यैरादर्शगुणैश्च भारतीयजीवनं प्रगुणितम्, ते सर्वे संस्कृतभाषायामेव प्रत्यक्षीकर्तुं शक्यन्ते। "संस्कृत विना हिन्दुजीवनं त्वसंस्कृतमेव। अद्यापि वयं संसारे संस्कृत-कारणादेव जीवामो जीविष्यामश्च"। "संस्कृतं भव्यं उदात्त च न पितृधनं यावच्चेदं तिष्ठेत् जनजीवनं च प्रभावयेत्, तावदेहि भारतस्य भारतत्वम्" इति गाँधी-राजेन्द्र-नेहरूप्रभृति-राष्ट्रनेतारः अवोचन्। भारते संस्कृतस्यैव सभ्यता प्रसरति। वेदोपनिषद, मनु-वाल्मीकि-व्यासप्रभृतयोऽद्यापि अस्माकं जीवनं शासति। संस्कृते भारतं वैदिक-कालादेव चिन्तयदास्ते हिन्द्यां तु चिन्तनस्य अधुना प्रारम्भ एव। भारतस्य एकैकोऽपि नागरिकः संस्कृतेन सम्बद्धः। प्रायः त्रिशत्कोटिभारतीयानां जन्म-विवाह-प्रार्थनादिशुभाव-सरेषु च संस्कृतमन्त्रा एव श्रूयन्ते।

मृतानामपि सञ्जीविन्याः संस्कृत-भागीरथ्या अखण्डः प्रवाहः पालिप्राकृत-अपभ्रंश-भाषासु वहन् अद्ययावदपि सर्वासु भारतीयभाषासु प्रवहति। सूत्रे मणिगणा इवं संस्कृतेऽनुस्यूताः समस्तभारतीय भाषाः संस्कृतसौरभेणैव सुरभिताः। राजभाषा-त्वोपयुक्तं हिन्द्या निर्माणं संस्कृतशब्दाधीनम्। संस्कृतशब्दावलिं विहाय हिन्द्याः राष्ट्रियसंवेदनापि समाप्तिमेव गमिष्यति। संस्कृतभाषाया शब्दाः येन केन प्रकारेण प्रायः सर्वासु भाषासु उपलभ्यन्ते। हिमालयान्निर्गच्छन्ती गङ्गेव संस्कृतशब्दावलिः सर्वत्रापि प्रोक्षणकर्म कुर्वाणा राजते। अद्यापि भारतीय-भाषाणां विकासः संस्कृत-परतन्त्र एवास्ति। आसां भाषाणां शब्दकोशः साहित्यस्वरूपम्, कल्पनाः पारिभाषिक-वाक्यानि, अलङ्कारशास्त्रञ्च सर्वं संस्कृताश्रितमेव। संस्कृतप्राणा सर्वा इमाः संस्कृतं विना अन्धाः बधिराश्च भविष्यन्ति। अस्मादेव कारणात् संस्कृतसाहाय्येन कश्चिद-प्युत्तर भारतीयः तमिल-तेलगू-कन्नड़-मलयालम-उड़िया-आसामीत्यादिभाषाभिज्ञो भवि-तुमर्हति, एवमेव दक्षिणपूर्वोत्तरभारतीय हिन्द्यादिभाषाभिज्ञ।

किन्नाम तत् साहित्यं, येन साहित्यशब्दव्याञ्जितानां समेषामर्थानामाश्रयभूतस्य संस्कृतवाङ्मयस्य उपमोत्प्रेक्षाव्यञ्जनाभिः सूक्तिभिश्च आत्मा न सज्जीकृतः। संस्कृत-मेघमालाया वृष्टिं विना भारतीयभाषासु साहित्यशस्योत्पत्तिरेव सुदुर्लभा स्यात्। संस्कृतस्य शाश्वतीं जीवनधारां च परिहाय भारतस्य काचिदपि भाषां भारतं भारत-रूपेण स्थैर्यमपि प्रदातुं न शक्नोति। संसारस्येदं महदाश्चर्यम्, यद् वेदानां भाषा अद्ययावदपि अपरिवर्तिता वर्तते। अयं प्रश्न न केवलं भाषयैव सह सम्बध्यते, प्रत्युत् अस्य सम्बन्धः अस्माकं सम्पूर्ण भारतीय संस्कृत्या, जीवनप्रणाल्या, राष्ट्रिय-स्वाभिमानेन च वरीवर्ति। संस्कृतभाषा तादृश्याः राष्ट्रीयचेननायाः राष्ट्रीय स्वाभिमानस्य च जन्मदात्री यत् कैश्चित् स्वार्थपूर्णतत्त्वैः वैदेशिकभाषायाः कठोरलौहपाशे निगदितम्।

संस्कृतं हि नाम भारतीयसंस्कृतिसभ्यतायारविभाज्यमङ्गम् । अनेकसहस्त्रवर्षेभ्यो भारतीय आत्मा अस्यामेव भाषायां परिस्फुरति, समभिव्यज्यते च । परसहस्त्रवर्षेभ्यो दिव्येयं वाक् महतो भूभागस्य आध्यात्मिकसांस्कृतिकसामाजिकं-संवेदनां वाहनं वर्तते । न केवल दार्शनिकैः कविभिर्महर्षिभिः प्रत्युत वैज्ञानिकैः चिकित्कैर्गणितज्ञैश्चापि संस्कृत-भाषायामेव स्वीया विचाराः समुपनिबद्धाः । संस्कृतभाषायाः परिचयेन विना भारतस्य व्यक्तित्वं हार्दं हृदयं वा अवलोकयितुमशक्यम् । संस्कृतसाहित्याद् वयं भारतीय-धर्मस्य दर्शनस्य च धारान्तर्धाराणाम्, बौद्धिकान्तर्द्वन्द्वानाम्, आध्यात्मकोद्वेगानां च मध्ये सततं प्रवाहितायाः भारतीय संस्कृतेरविच्छिनतां भारतीयमनीषायाः समाहारशक्ति च ज्ञातुं शक्नुमः । यैर्विचारैः भारतीयसंस्कृतेर्महनीयता विश्वे प्रतिष्ठापिता, संस्कृत-साहित्यं तस्या एव कलेवरम् । संस्कृतं विना भारतीयसंस्कृतिरनाथैव । संस्कृतभाषायां भारतराष्ट्रस्य तपश्चर्या सत्यदर्शनम्, गौरवं चाभिव्यक्तिमभजन्त । अस्माकं सर्वाणि वस्तूनि सर्वश्रेष्ठविचाराः, भावनाः कविताश्च संस्कृत भाषयैव वेष्टिताः । भारतीय-संस्कृतेस्तानि तत्त्वानि निर्गच्छेयुर्येषां जन्मसंस्कृताद् जातम्, तर्हि भारतीयसंस्कृतिनाम्ना किमपि वस्तु नावशिष्यते ।

उद्देश्यस्य एकरूपताया अभावे राष्ट्रियताया विकासोऽसम्भव एव । बाह्यदृष्ट्या ऐक्यं प्रदर्शयदपि राष्ट्रं सकटसमये बहुधा विभज्य स्वाधीनभावं स्वातन्त्र्यं च नाशयति । संस्कृतभाषाविभिन्नविचाराणां विश्वासानां च मध्ये समन्वयात्मिकां परिस्थितिं समुत्पाद-यती देश समाजस्य च अन्तः संवेदनशीलतां संस्थापयति । येन कार्यविचाराणां वैभिन्न्येऽपि नागरिकचेतः सु भावनात्मकमैक्यं सुस्थिरं भवति । अस्माकं जन्मकाला-दारभ्य मरणपर्यन्तं संस्कारेषु संस्कृतस्य प्रयोग आवश्यकः ।

अस्माकमादर्शवचांसि संस्कृतमयानि । निखिलमपि भारतं आकैलाशात् च कुमारीभ्यः आसिन्धु आब्रह्मपुत्रं चैकदेशभावनया वर्णिते संस्कृत-साहित्ये । वयं भार-तीयाः सहस्त्रमीलदूरे निवसामः, पृथक्-पृथक् रीतिविचार-परम्पराश्च तथापि संस्कृत-सूत्रेण मणिमाला इव निबद्धाः । एवं हि संस्कृतं प्रतिपलं निजशक्त्या राष्ट्रजीवनं पुष्णाति । अंग्रेजमुसल्मानयोः सुदीर्घे शासनकालेऽपि संस्कृतप्रभावात् सुदृढ़ं सुरक्षितं चैक्यमधुना विघटितं प्रतीयते । अतः केवलं भाषारूपेणैव तस्याः पोषणं नावश्यकम्, प्रत्युत् राष्ट्रस्यास्तित्वसिद्धये परमावश्यकं भवतिः तस्याः संरक्षणम् ।

संस्कृत-साहित्य-दर्शनयोरध्ययनं मानवाय गम्भीरमानन्दं सूक्ष्म-विचारशक्तिं च प्रयच्छति । संस्कृताध्ययनात् मृदुता-प्रियवादिता-कृतज्ञताऽनुसूयताप्रभृतयः आत्मगुणा विकसन्ति, राष्ट्रचारित्र्यं वर्धते उदारचरितमुपचीयते मस्तिष्कं परिष्क्रियते सर्वत्रापि मनुष्यता च व्यवहारं व्याप्नोति । मनुष्योन्नतये संस्कृते वर्तमाना सामग्री अन्यत्र दुर्लभा । जीवने नैतिक-सामाजिक-गुणानां संवर्धनायापि संस्कृताध्ययनं भृशमुप-करोति ।

संस्कृतस्य वैज्ञानिकी वर्णमाला अद्यापि सर्वाः भाषाः अतिशेते । संसारे तौलनिक भाषाशास्त्रस्य, पुराणशास्त्रस्य, साहित्यशास्त्रस्य चाध्ययनने संस्कृतसाहित्येन

महदुपक्रियते । वैदिकपरिभाषाभ्यः, प्राकृतिक-रहस्यवर्णनेभ्यः, सूर्य-चन्द्रहरितक्यादि-शतशः शब्दानां पर्यायविशेषेभ्यश्च वैज्ञानिकैरपि स्वानुसन्धाने किमप्यलभ्यं वस्तु प्राप्येत । एवं हि संस्कृतं नास्ति जीवनस्य तादृशं किमपि क्षेत्रं यत्र किमप्यपूर्वं प्रदातुं न शक्नोति । निखिलस्यापि विश्वस्य मनीषिणः संस्कृतसदृशीं भाषां प्राप्य प्रमुदिता आश्चर्यचकिताश्चाभूवन् । इदं तैर्लिखितेभ्योऽगणितग्रन्थेभ्यः प्रतीयते ।

विलियम थियो डोरोऽकथयत्—"पुरातत्वानुसन्धानकार्यं संस्कृताध्ययनं विना जगतः जातिदेशकालभूगोलेतिहासा वा अपूर्णा एव । वैज्ञानिकसाधनैर्जगत ऐक्यं वर्धते अवश्यम्, परमिदं संस्कृत-ज्ञानं विना चिरन्न स्थातुं शक्नोति । भारतस्य विश्वस्य च समुद्धारः परिरक्षणं स्थापनं च संस्कृतज्ञानाधीनम् ।" संस्कृतभाषायाः सौन्दर्यम्, शैली, शब्दसम्पत्तिः गतिशीलता, प्रतिपादितविचाराः, श्रेष्ठा चाध्यात्मविद्या यदा मनश्चक्षुषां पुरस्तादागच्छति, तदा को न भवति विस्मयविमुग्धः । अतः राष्ट्रस्यशैक्षणिके सामाजिके च जीवने च संस्कृतभाषायाः स्वीकरणं परमावश्यकम् ।

23

संस्कृतं संस्कृतिश्च ।

अथवा

इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते । (1984)

संस्कृतिर्नाम दोषनिराकरणपूर्वकगुणस्थापनात्मकः संस्कारपरपर्यायो व्यापार-विशेषः । स च येन सम्पद्यते, तद् वेदविहित शास्त्रपुराणप्रतिपादितं तन्त्राद्युदितं वा कायिकं वाचिकं मानसिकं वा कर्मजातमति संस्कृतिः सम् पूर्वकात् करोतेर्भावे करणे च क्तिना घञा चोक्तस्य शब्दद्वयस्यापि निष्पद्यमान त्वात् ।

वैदिकानां पौरिकाणानां धर्मादिशास्त्रीयाणां वैष्णवशैवशाक्तादितन्त्रोदितानां च कायिकवाचिकमानसिककर्मणां वेदान्तादिशास्त्रोदितानां विचाराणां भावनानाञ्च सर्वेषामपि धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टय साधकत्वेन तत्र दोषनिराकरणपूर्वक-तत्तद्स्थापकत्वात् संस्कृतित्वम् । अभावस्याऽपि कस्यचिद्दोषत्वेन लाभस्याऽपि च कस्यचिद् गुणत्वेन उक्तेषु पुरुषार्थचतुष्टयसाधकेषु कर्मसु यत्र दोषो गुणो वा न स्फुटः तत्रकस्यचिदभावस्यैव दोषत्वेन कस्यचिद् लाभस्यैव च गुणत्वेन कल्पनात् पुरुषार्थ-चतुष्टयसाधकेषु सर्वेष्वपि कर्मसु भावेषु वा दोषनिराकरणपूर्वक गुणस्थापकत्वस्योप-लब्धेस्तेषां संस्कृतित्वं स्पष्टमेव । एवम् आयुर्वेद-धनुर्वेद-गन्धर्ववेदैः अपरैश्चापि विद्या-कलाप्रतिपादकशास्त्रैः प्रतिपादितानां कर्मणामपि तेषु धर्मादिपुरुषार्थ चतुर्वर्गसाधकत्वेन तत्तदभावरूपदोषनिराकरणपूर्वक-तत्तल्लाभरूपगुणस्थापकत्वेन संस्कृतिलक्षणात्वात् संस्कृतित्वमेव ।

उक्तानां वेदपुराणतन्त्रदर्शनादिशास्त्रप्रतिपादितानां कर्मणा विचाराणां भावनानामेव च धर्मादिचतुर्वर्गसाधकत्वात् चतुर्वर्गलाभस्यैव च भारतीयानां जीवनलक्ष्यत्वात् तान्येव कर्माणि एत एव विचारा: ता एव च भावना: भारतीय संस्कृति:, पूर्णा संस्कृतिर्वा ।

सैषा संस्कृति: संस्कृतमेवाऽलम्बते सर्वथा । यतोहि-धर्मादिचतुर्वर्गसाधकानि तत्प्रतिपादिकानि वा वेदा: शस्त्राणि पुराणानि दर्शनानि तन्त्राणि अन्येऽपि च विविधविद्याकलानां प्रतिपादका निबंधा: संस्कृतभाषायामेव वर्तन्ते ।

तत्र सर्गादौ करुणावरुणालयो भगवान् विरञ्चि: मानवीं सृष्टिं मिसृक्षु: श्रेय: प्रेयश्च विधित्सु: सर्वत: प्राक् विराट्-पुरुषनिश्वसितरूपान् संस्कृतमयान् ऋग्यजु: सामलक्षणान् अग्निवायुसूर्यस्थितान् कल्पादौ तत् आकृष्य आविर्भावयामास । यथोक्तम्—

"यस्य नि:श्वसितं वेदा: ।"

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्धयर्थमृग्यजु: सामलक्षणम् ।।"

इति च ।

तेषामेव वेदानाम् 'इन्द्रशत्रुर्वधस्व' इत्यादाविव स्वरभेदेन अर्थभेदस्य निश्चितत्वात् तात्पर्याऽविषयार्थस्य चाऽनिष्टजनकत्वात् 'अस्य वर्णस्य अनेन स्वरेणोच्चारणं विधातव्यम् ?' इति ज्ञानाय शब्दानामनेकार्थत्वेऽपि 'अमुकस्थाने अमुकशब्दस्य अमुक एवार्थ:' इति निश्चयजनकपरिपाटीबोधाय अमुककर्मणोऽमुक एव विधिरिति निर्णयजननाय छन्दसां कर्मोपयुक्तकालानां शब्दगतप्रकृतिप्रत्ययादेश्चाऽवगमाय ऋतम्भराप्रज्ञया धनिभि: ऋषिमुनिभिर्वेदाङ्गशास्त्राण्यप्याविर्भावितानि संस्कृतनिष्ठानि । यथा—

छन्द: पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।।
शिक्षाघ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।।

तत्र पुरुषार्थचतुष्टयसाधकानां वेदानां ज्ञानकर्मोपासनाकाण्डरूपै: काम्यकर्मसाधकानां च तेषामथर्वरूपेण भगवता व्यासेन कृतेष्वपि वर्गेषु धर्मार्थकाममोक्षोपायानां कर्मणां विशेषेण विस्तरेण च प्रतिपादकानि धर्मादिशास्त्राणि पुराणानि दर्शनानि तन्त्राणि च लोकहितचिन्तनपरै: ऋषिभिराविर्भावितानि सुरगिरा ।

तत्र कानिचिच्छास्त्राणि 'अहरह: सन्ध्यामुपासीत, सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादिश्रुतिवत् नित्यानि आह्निककर्माण्येव प्रतिपादयन्ति, यथा—

पूर्वां सन्ध्यां जपं तिष्ठेत् स्वकालेचाऽपरां चिरम् ।
ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयु: ।।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिञ्च ब्रह्मवर्चसमेव च । इति,

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञ: पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिभौर्तो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।।

"पितृन् श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा।"

इत्यादिषु शास्त्रेषु आन्हिककर्मणां प्रतिपादनमुपलभ्यते।

कानिचिच्छास्त्राणि द्विजानां तन्बाबीजगर्भप्राप्तपापानोदकानि ब्राह्मीत्वसंपादकानि च गर्भाधानादिसंस्कारकर्मण्येव प्रतिपादयन्ति, यथा—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यं शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥
गार्भैर्होमैर्जातकर्म चूडा मौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥
स्वाध्यायेन वर्तैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥

इत्यादिषु स्मृतिग्रन्थेषु संस्काराणां प्रतिपादनं प्राप्यते।

एवं कानिचिच्छास्त्राणि जयन्त्येकादशीप्रभृतीनि सांवत्सरिककर्माणि कानिचिच्चोपरागादिनिमित्तिकस्नानादीनि नैमित्तिककर्माणि नित्यानि प्रतिवादयन्ति। नित्यत्वं चैषां फलयोगेप्यकरणे प्रत्यवायश्रवणान्मन्तव्यम्।

कानिचिच्छास्त्राणि पुनः स्त्रीपुत्रगोभूम्यादिस्वर्गादिफलकानि काम्यान्येव कर्माणि प्रतिपादयन्ति, यथा—

"आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा।
यै यं चिन्तयते कामं त तं प्राप्नोति मानवः॥"
"न हस्तिसर्पदावाग्नि चोरशत्रुभयं भवेत्।
नश्यन्ति दारुणाः रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥"

कानिचित् शास्त्राणि वर्णधर्मान् प्रतिपादयन्ति, यथा—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
शमो दमस्तप शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाऽप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम्॥
कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजनम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ गीता॥
इत्यादिषु शास्त्रेषु वर्णधर्माः प्रतिपाद्यन्ते।

एवम्—

वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणां ततः परम्।
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तकस्तथा॥

इत्यादिषु वर्णाश्रमनित्यनैमित्तिकानि कर्माणि धर्मत्वेनोदाहृत्य मानवमात्रसामान्यधर्मानप्याहुर्दयालवः मुनयः धर्मसंहितासु, यथा—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमकोषो दशकं धर्मलक्षणम् ।।
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ।।
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः ।
नृणां विपर्यये हेक्षा भौनमात्मविमर्शनम् ।।
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः ।
त्रिशल्ललक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ।।

इत्यादि सामान्यधर्मा प्रतिपादिता दृश्यन्ते ।

धर्मसाधकानि कर्माणीव धर्माविरोधिनोऽर्थस्य संग्रहमपि तेषु तेषु निबन्धेषु प्रोचु सुरसरस्वत्यैव महर्षयः, यथा—

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।
यात्रामात्रप्रसिद्धयर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः ।।

इत्यादौ । एवमन्यानपि प्रकारान् अर्थसंग्रहस्य जगदुः स्वस्वनिबन्धैर्भारतीयजनहितचिन्तका वृहस्पतिशुक्रचाणक्यादयो महात्मान आन्वीक्षिक्याम्, तदुक्तम्, 'आनवीक्षिक्याऽर्थविज्ञानम्' इति ।

यद्यपि 'धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोऽर्थामनीषिणाम्' इत्यादौ धर्मार्थकामानामपि मोक्षसमकक्षत्वेन मनीषिजनपुरुषार्थत्वमुक्तमुपलभ्यते, तथाऽपि—

"ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।"

इत्यादिना स्वाध्यायाध्यनाध्यापनाभ्याम् ऋषिऋणस्य यज्ञैर्देवऋणस्य धार्मिकसुतलाभेन पितृऋणस्य च अपाकरणपूर्वकस्यैव मोक्षाभिलाषस्योक्तत्वात् मोक्षस्यैव मानवजीवनचरमलक्ष्यत्वेन मुख्यता प्रकटी भवति, त्रिवर्गस्य च तत्साधनत्वेन गौणतैव ।

स च मोक्षो रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल तानापथजुषां विदुषां स्वस्वरुच्यसारभिर्नानाभेदैर्भिन्नो विविधप्रकारैर्वर्णितः, उपलभ्यते मोक्ष परायणानां दार्शनिकानां विबुधवाङ्निबद्धेषु विविधेषु दर्शननिबन्धेषु ।

यो हि मोक्षो मानवजीवनस्य चरमलक्ष्यत्वेन स्वीकृतः सर्वैरपि महापुरुषैः तदुपायः—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचित् ।।

इति भगवद्वचनानुसारं ज्ञानकर्मभक्तिभेदभिन्नः सर्वोऽपि सुरसरस्वतीसंस्कृतमयेष्वेव स्वस्वमहानिबन्धेषु विवेचितोऽति लोककरुणावशैर्महात्मभिः ।

वेदशास्त्रादिप्रतिपादिता अर्थाः पथ्याः श्रेयः प्रेयः संपादका अपि कदाचिद् दुरूहा सन्तः सुकुमारमतिभिरग्राह्या भवेयुः अतस्तदीयानेवाऽर्थान्—

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा ।
सालंकृतिः श्रवणमंगलवर्णराजिः ।।

इत्युक्तविधां सरसमनोहरां सुरसरस्वतीपदोपन्यासशैलीं परिशीलयन्तो महामनीषिणः सूरयः सुरुचिरैः काव्यनाटककथाख्यायिकादिप्रबन्धैः प्रतिपादयामासुः। उक्तमेव यथा—

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं वाक्यार्थमुपभुज्जते।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटुभेषजम् ॥ इति ॥

अलं विस्तरेण वाचारम्भणेनैतेनैतत् परिदर्शितं भवति, यत् मानवजीवनस्य लक्ष्यभूतं पुरुषार्थचतुर्वर्गात्मकं यत्किंचिदपि ऐहिकमामुष्मिकं वा प्रेयः श्रेयोवास्ति, तत्प्रतिपादकं वैदिकं लौकिकं वा आर्षमनार्षं वा सर्वमपि साहित्यं भारतीयनां सर्वस्वभूतायां संस्कृतभाषायामेवाऽवगाहमानं वर्तते।

अतः पत्रपुष्पफलेप्सुभिर्विटपिनां मूलमिव भारतीयजनगणहितैषिभिस्तदीयजीवननौकाकर्णधारैः भारतीयायाः संस्कृतेः सर्वतोमुखीनप्रसाराय तन्मूलाधारभूता सुरसरस्वती कल्पलतैव सुतरां सर्वथा सेवनीया संवर्धनीया संप्रसारणीया च।

24

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।

अथवा

अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।

अथवा (1982)

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि, काव्यादेव। (1982)

अनादिकालतः प्रवर्तमानायामस्यां सृष्टावनाद्यनन्तस्य परब्रह्मण इव कवेः सर्जनात्मकप्रवृत्तिमत्त्वादुभयोरभेदं प्रतिपादयती भगवतीश्रुतिरपि—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः", 'तदैक्षत एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' इति च। अतएव च साहित्यिकाः सर्वेऽपि भावाः सत्कार्यवादिनां सांख्याचार्याणामिव जलविलीनपावक इव भाषतान्तः स्फुलिङ्गा इवाव्यक्तरूपेण वटबीजन्यायेन वाऽन्तर्हितास्तत्र तत्र। एवञ्च साहित्यस्यानादित्वमापतति। तत्र एवञ्च जिज्ञासायत् किमिदं साहित्यं यस्यानादित्वमाख्यायते, अत्रोच्यते—सहभावः साहित्यं, स च शब्दार्थौ सम्भवति तथा च राजशेखरेण—'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्यासाहित्यविद्ये ति' प्रतिपादितम्।

विश्वकविरवीन्द्रमहोदय एतावता परितुष्यन् लिखति—"यत् केवलं भावस्य भावेन भाषायाः भाषया सह ग्रन्थेन सम्बन्धो न साहित्यमपितु मनुष्येन सह-मनुष्यस्य वर्तमानस्यातितेन विप्रकृष्टेन सन्निकटस्यात्यन्तिको य आन्तरिक सम्बन्धो स हि साहित्यमनन्तरा नोपपादितुं शक्यते। महाकविकालिदासेनाप्युक्तमेतदेव—"वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।" इति।

माघकविनापि—'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते'—इत्यादिना शब्दार्थयोः सहभावः एव साहित्यमिति साधितम् । लक्ष्यानुसारिणी लक्षणव्यवस्था—इत्यनुसृत्यैवानन्तरभाविभिराचार्यैर्लक्षणानि व्यधायिषत । तत्र भामहः काव्यालंकारे—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्', मम्मटोऽपि—'तददोषौ शब्दार्थौ' इत्यादि, महिमव्याख्याऽपि न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थमात्रप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते । सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात् ।

साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनानतिरिक्तत्वमिति । साहित्यमनयोः शोभाशालीनतां प्रतिकाऽप्यसौ । अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः । तत्र निर्दोष-शब्दार्थ-गुणत्वे सति स्फुटमिति-अच्युतरायः । सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमिति ध्वन्यालोककारः । चमत्कारिशब्दार्थयुगलभावमाश्रित्यैव तद्विशिष्टं साहित्यं काव्यशब्देन व्यवजहुः । अत एव च तदानीन्तन्यैराचार्यैर्निबद्धाः ग्रन्था अपि तथाविधनामभिरेव प्रसिद्धा यथा—काव्यालंकारः, काव्यप्रकाशः, काव्यादर्शः इत्यादयः । रुद्रटः ननु शब्दार्थौकाव्यम् । काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्तकवि तुलसीदासोऽपि शब्दार्थयोः सहभाव जलवीचिवदविच्छिन्नमिव स्वीकरोति—

गिरा अरथ जलवीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।
बदऊँ सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥

हितेन सह वर्तते इति सहितं, सहितस्य भावः कर्म वा साहित्यम् । सहभावश्चाष्टादशविद्यानाम् । अत इवात्र कविकर्मणि सर्वाविद्याः परिसमात्यन्ते । तथा चोक्तम्—

स्व स्वाभिलाषादिव यत्र सर्वे विद्याविलासामिलिता लुठन्ति ।
तल्लोकवैदग्ध्यविधानयन्त्रं साहित्यतन्त्रं कलयन्ति कल्पा ॥

अत एव काव्यमीमांसायां—पञ्चमी साहित्यविद्या, स हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः इति यायावरीयः । निष्यन्दः सार एव भवति स हि सर्वापेक्षया उत्कृष्टः । स च चमत्कार एव । अत एव सर्वाविद्या अङ्गभूता साहित्यञ्चाङ्गी । तथाहि—"शब्दार्थयोः शक्तिविशेषसत्त्वे लक्ष्येषु काव्यव्यवहारयोगात् । न्यायादिवद् दर्शनकोटिमाप्तुं साहित्यमङ्गीति वदन्ति विज्ञाः ।" इति हेतोर्यथा चैतन्ये निर्गते शरीरं शव इत्येवोच्यते, एवमेव सारभूतसाहित्यं विना सर्वाविद्या निष्फला एव । निष्यन्दभूतत्वात् सर्ववाङ्मयमत्र समाविष्टम् । अत एव भोजेन वाङ्मयं षड्विधं प्रदर्शितम्—

काव्यं शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्रं तथैव च ।
काव्येतिहासः शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम् ॥

सहितस्य भावः साहित्यमिति व्युत्पत्या ज्ञानराशिरपि साहित्यशब्देन वक्तुं शक्यते । अत एव आचार्यमहावीरप्रसादद्विवेदिना—चिरसञ्चितो ज्ञानराशिरेव साहित्यशब्देन प्रतिपादितः । अस्मिन्नर्थे साहित्यशब्दस्य प्रयोगो जगदीशेन श्राद्धविवेक-

कारेण च विहितस्तथाहि—"परस्पर सापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेव क्रियान्वयित्वं साहित्यम् ।"

तदिदं साहित्यं सर्वत्र ब्रह्मेव व्याप्तमस्ति, न हि किमप्येतेन विहीनम् । एतेन विहीनो देश. शव एवेति राष्ट्रकविमैथिलीशरणगुप्तेनोक्तम्—

अन्धकार है वहाँ जहाँ आदित्य नहीं ।
है वह मुर्दा देश जहाँ साहित्य नहीं ।।

साहित्यस्य सर्वव्यापित्वादेव भर्तृहरिस्तद्विरहितं साक्षात् पशुमेव मन्यते—

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः ।
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः ।।

साहित्यसङ्गीतकलानामविच्छिन्नसम्बन्धाऽख्यं लौकिकसङ्गीतमपि साहित्य-सम्पन्नम्—

रतन कुवो मुँह साँकडो जीमें लम्बी आवे नेज ।
तेज गयो गुडल्यो गयो गयो भँवर को तेज ।।

एतमाश्रित्यैव कालीदासोऽपि—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादितरसम् ।।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं ।
न जाने भोक्तारं किमिह समुपस्थास्यति विधिः ।।

इति स्मरति—परम्परया काव्यकारणतया लोकवृतस्य ।

केवलं प्रयोग साधुत्वपरे व्याकरणशास्त्रे समीक्षाप्रधानस्याभ्यान्तर्भावः मन्यमानानां मतं तु न समीचीनम् । यतो हि व्याकरणशास्त्रिण. शब्दानामपि औचित्यानौचित्यविवेकपूर्वकं प्रयोगकरणाय अस्य नितरामावश्यकत्वात् । एतेन व्याकरणशास्त्रस्येदं पुच्छत्वमति निरस्तम् । एतादृशस्य साहित्यस्य सर्जनाय सर्वैरपीदानीन्तनैः विद्वद्भिः प्रवृतिः विधेया । विदितमेव सर्वेषां विदुषां यत् साहित्यरसिकैः प्राक्तनै नृपैः साहित्यसृष्टृभ्यो धावकादिभ्यो स्वाश्रयं प्रदाय साहित्यस्य श्रीवृद्धिः कृताः । को न जानाति नितरां दरिद्रं मुकुण्डनामानं महाकविं यो हि पद्यमेकमेव संश्राव्य राजानं प्रभावितवान् । यथा प्राचीनसाहित्यपरम्परासु पद्यमिदं स्मर्यते—

भट्टिर्नष्टो भारविश्चापि नष्टो,
भिक्षुर्नष्टो भीमश्चापि नष्टः ।
भुकुण्डोऽहं भूपतिस्त्वं हि राजन्,
भम्भापंक्तावन्तकः सन्निविष्टः ।।

साहित्यस्य पाथोनिधित्वं प्रतिपादयता काश्मीरदेशवासिमहाकविबिल्हणेनास्य संरक्षणाय प्रयत्नोनुष्ठेयः इति विवेचितं विक्रमांकदेव चरिते—

साहित्य पाथोनिधिमन्थनोत्थं,
कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।

यदस्य दैत्या इव लुण्डनाय,
काव्यार्थ चौराः प्रगुणी भवन्ति ॥

अयमेव च विक्रमांकदेवचरितेऽन्तिमे सर्गे एतदपि प्रतिपादितवान् यत् साहित्य-निर्मातृभिः सह विरोधोऽपि नानुष्ठेयः, संरक्षणीयाः हि कवयः । तद् यथा—

हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबन्धे विरोधं,
शुद्धा कीर्तिः स्फुरति भवतां नूनमेतद् प्रसादात् ।
तुष्टैर्बद्धं तदलघुरघु स्वामिनः सच्चरित्रं,
रुष्टैर्नीतस्त्रिभुवनविजयी हास्यमार्गं दशास्यः ॥

तदैतस्य साहितस्य द्वैविध्यं सद्काव्यमसद्काव्यञ्च । सत्काव्यसेवनेन धर्मार्थ-काममोक्षाणां प्राप्तिर्भवति कलासु वैशिष्यञ्च प्राप्नोति । सद्पुरुषादिरहितं चरित्रमसत् साहित्यमित्युच्यते । तस्य सेवनेन न कश्चिदर्थः । अतएवास्य दोषरहितस्य साहित्य-स्योपादित्वमुक्तमालंकारिकैः । ग्राम्यदोषस्य वर्जनीयत्वमित्यपि प्रत्यपादि । एतादृशस्य साहित्यस्य अध्ययनं विदुषां मस्तिष्ककण्डूपशमनायावश्यकम् । अतएव महाकवेर्हर्षस्य नैषधीयचरितस्य साहित्यविषये—'नैषधं विद्वदौषधमिति आभाणकः प्राचलत्' ।

विवेचितञ्चैतद् साहित्यं नैकविधं, विविधानि साहित्यानि भारते प्रचलन्ति दरीदृश्यन्ते, तथा हिन्दीसाहित्यम्, उर्दू साहित्यम्, संस्कृतसाहित्यञ्चेति । विश्वस्य समस्तेष्वपि साहित्येषु संस्कृतसाहित्यं सर्वाण्यतिशेते । अत एव संस्कृतसाहित्य न केवलं भारतीया एव प्रशंसन्ति, किन्तु मोक्षमूलरप्रभृतयो वैदेशिका विपश्चितोऽपि अस्य मुक्त-कंठेन प्रशंसां चक्रुः । को न जानाति यूरोपदेशवास्तव्यं मोक्षमूलरं यो हि संस्कृत-साहित्यप्रभावेण नितरां प्रभावितोऽनेकानि कष्टानि सोढ्वापि द्वीपान्तरेभ्यः समागत्य भारतीयविदुषः संस्कृतसाहित्यमधीतवान्, प्राशंसच्च—

अमृतं मधुरं सम्यक् संस्कृतं हि ततोऽप्यधिकम्,
देवयोग्यमिदं यस्मात् देवभाषेति कथ्यते ।
न जाने विद्यते किं तत्माधुर्यमत्र संस्कृते,
सर्वदैव समुन्नता येन वैदेशिका वयम् ॥

शार्मण्य (जर्मन) देशवास्तव्यो महान्कवि गेटे कालिदाससाहित्यं श्रावं-श्रावं पाठं पाठञ्च नितरां संस्कृतसाहित्यभक्त समजनि इति नूनं संस्कृतसाहित्यस्य गरिमाणं द्योतयति । अन्येऽपि अनेके विपश्चिता नूनं संस्कृतगौरवं प्रतिपादयन्त अस्य सर्व-साहित्योपजीव्यत्वं स्वीचक्रुः । यथा अमेरिकादेशं वास्तव्यो हकसलाख्यो महानदार्शनिको विद्वान् भारतीय दर्शनानि अधिगम्य स्वभ्रान्तिं दूरीचकार, पाश्चात्य दर्शनस्यापि इदमेव मूलामिति प्रतिपादयामास । सर्वेषामपि साहित्यानाञ्चेदं मूलभूतमिति तु सर्वैरपि आधुनिकैरपि अङ्गीक्रियते, सर्वसाहित्यात्प्राक्तरः ऋग्वेदस्य रचना समजायत इत्यत्र न कस्यापि विप्रतिपत्तिः । भारतीयप्राचीनविद्वांसस्तु भगवतः परमात्मनो निश्वासभूताः सृष्टेः प्राग् आविर्भूता इति प्रतिपादयन्ति, एतेन वेदस्यापौरुषत्वं नितरां सिद्ध्यति ।

अनन्तपारञ्चेदमस्माकं साहित्यम् श्रूयते हि नितान्तप्रसिद्धतयेषु तक्षशिलाप्रभृति विश्वविद्यालयीय संस्कृतागारेषु संस्कृतविद्वेषपरायणैः प्रज्वलितोऽग्निः षड्मासपर्यन्तमपि न शान्तिमारूढत् । अनेन सुतरामनुज्ञातुं शक्यते यदस्माकं संस्कृतसाहित्यं कीदृशं विस्तृतमासीत् ।

अन्यञ्चेदं वैशिष्ट्यं संस्कृतसाहित्यस्य यत् यथा अनेन जनजागरण सम्पाद्यते न तथा अन्येन केनचित् साहित्येन, अत एव जनजागरणायास्य अध्ययनं नितान्तमावश्यकं वर्तते । भारतीयाणामिदं कर्तव्यं वरीवर्ते यत्ते संस्कृतसाहित्यमधीत्य राष्ट्रमुत्थापयितुं सततं प्रयत्नोऽनुष्ठेयुः । 'मनसा कर्मणा वाचा न राष्ट्रद्रोहमाचरेत्', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' एतादृशा भाषा संस्कृतसाहित्यस्यैव गौरवं प्रकटयन्ति ।

एतादृशा विश्वजनीनभाषा नान्यत्र साहित्ये दरीदृश्यन्ते इति सर्वे जानन्त्येव । अतोऽस्याध्ययनं विधाय इदं विधेयम्—

निलम्पवाणीं समधीत्यलोकाः,
विदन्तु जीवात्मरहस्यतत्त्वम् ।
नाभेद बोधेन विना जगत्यां,
ब्रह्मैकवाक्यस्य भवेत्प्रचारः ॥

अस्याध्ययनेनैव इदानीन्तनो विभिषिकाक्रान्तो जनसमूहः शान्तिमधिगन्तुं समर्थो नान्यथा अतएव—

ब्रह्मैकवादेन विना न शान्तिः,
स साम्यवादस्य गुरुर्गरीयान् ।
तस्मात्परं क्षेमतरं न किञ्चित्,
वादाः परे तत्र भवन्ति लीना ॥

कर्तव्याकर्तव्य प्रवृत्तिनिवृत्ति उपदेशपरेणानेन संस्कृतसाहित्येन लौकिकमलौकिकं सर्वमपि प्रयोजनं संसाध्यते इति क्रियन्तं महिमानं वर्णयामः । अन्यानि साहित्यानि न तादृशमार्गप्रदर्शकानि, अत एव तानि मानवान् निश्चितमज्ञानान्धकारे पातयन्त्येवास्मिन् विषये नास्ति संदेहावसर । अतएव—

ये पापमाश्रित्य समुन्नतास्ते,
पतन्ति नूनं शिखराधिरूढाः ।
मुसोलिनी हिटलररावणानां,
निपात एवात्र परं प्रमाणमिति ॥

25

काव्यस्यात्मा ध्वनिः ।

अथवा

काव्यस्यात्मा तस्य गुणाश्च । (1983)

अथवा

भाक्तमाहुस्तमन्ये । (1986)

ध्वनिशब्दो बहुधा निरुच्यते । निर्वचनानुसारं चास्य बहवोऽर्था गृह्यन्ते । पञ्चधा निर्वचनेन पञ्चापि ध्वनिसंबद्धा अर्था गृह्यन्ते । तद्यथा—(1) ध्वनति यः व्यञ्जकः शब्दो ध्वनिः । (2) ध्वनति, ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः । (3) ध्वन्यते इति ध्वनिः । यद् ध्वन्यते इत्यनेन रसालंकरवस्तुरूपं व्यङ्ग्यार्थत्रयमुपतिष्ठते । (4) ध्वन्यते अनेनेति ध्वनिः, इत्ययेन व्यञ्जनादिशक्तीनां ग्रहणम् । (5) ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः, इत्यनेन व्यङ्ग्यार्थप्रधानं काव्यमपि संगृह्यते। एवं ध्वनिशब्देन व्यञ्जकशब्दस्य, व्यञ्जकार्थस्य, व्यङ्ग्यास्य, व्यञ्जनाव्यापारस्य, व्यंग्यप्रधानकाव्यस्य च ग्रहणं संजायते ।

ध्वनेः स्वरूपम्—वाच्यार्थपेक्षया व्यंग्येऽर्थे मुख्ये सति ध्वनिरिति, कथ्यते । तथाविधं च काव्यं सर्वोत्कृष्टं मन्यते ।

इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः । (काव्यप्रकाश 1–4)
वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् । (सा० दर्पण 4–1)

आनन्दवर्धनाचार्यो ध्वनिं लक्षयति—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥
(ध्वन्यालोक 1–13)

यत्र शब्दार्थौ स्वार्थं गौणरूपेणोपस्थाप्य व्यंग्यमर्थम् अभिव्यञ्जयतः, तदा ध्वनिः । तथाविधं काव्यं ध्वनिः ध्वनिकाव्यं वा निगद्यते । शब्दार्थयोरेकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारित्वं प्रतिपद्यते ।

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः ।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥
(सा० दर्पण 2–18)

वाच्यार्थातिरिक्तः को ध्वनिः व्यंग्योऽर्थो वेति जिज्ञासायां ध्वनिकारेण स्फुरीक्रियते यत् कामिनीलावण्यमिव यत् प्रसिद्धातिरिक्तम् । अन्यदेव किंचित् प्रतीयते वाच्यातिरिक्तं व्यंग्यरूपं स ध्वनिः—

प्रतीयमानं पुनस्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
तत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावयमिवाङ्गना सु ॥
(ध्वन्या० 1–4)

एतदाश्रित्यैव लावण्यलक्षणमपि प्रस्तूयते यत्—

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
संलक्ष्यते यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ।।

इयं व्यंग्यार्थबोधनक्षमतैव प्रतिभावैशिष्ट्येन महाकवीनां यशः प्रचारयति । व्यंग्यार्थाभिव्यक्तिरेव महाकवित्वस्य निकषः । अतो ध्वनिकृतोच्यते—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।

व्यंग्यार्थस्य तथा वैशिष्ट्यं यथैष नीरसं सरसम्, असुन्दरं सुन्दरम्, अमधुरं मधुरं जनयति ।

ध्वनिसिद्धान्तस्य स्थापना व्याकरणं विशेषतो भर्तृहरिकृतं वाक्यपदीयमाश्रित्य वर्तते । वाक्यपदीये नादस्फोटयोः स्वरूपं निरूप्यते—

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः ।।

(वाक्यपदीय 1–103)

तत्रोच्चारणावयवानां संयोगेन च य शब्द उत्पद्यते स स्फोटः, अन्ये च शब्दजाःशब्दाः ध्वनिशब्दवाच्याः । घण्टानादादिषु अनुरणनरूपः शब्दो यथा, तथैव शब्दजो व्यंग्योऽर्थो ध्वनिरित्युच्यते । स्फोटनादयोः व्यंग्यव्यंजकसम्बन्धो मन्यते, तथैव काव्येऽपि ध्वनेर्व्यञ्जकत्वं प्रतीयमानस्यार्थस्य च व्यंग्यत्वं सिध्यति—

ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा ।
व्यंग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ।।

नादैराहितबीजायां बुद्धौ अन्त्यवर्णश्रवणेन समं शब्दस्य रूपमवधार्यते । ध्वनिरेव शब्दस्वरूपं प्रकाशयति—

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह ।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ।। (वाक्यपदीय 1–85)
प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणै स्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ।। (वाक्यपदीय 1–84)

स्फोटव्यञ्जका वर्णाः ध्वनिनाम्ना व्यवह्रियन्ते, एवं व्यञ्जकशब्दार्थयोः ध्वनित्वं सिध्यति । लोचनकृताः अभिनवगुप्तेन ध्वने पञ्चस्वरूपार्थं व्याकरणस्य ऋणित्वं स्वीक्रियते । अतएव आनन्दवर्धनाचार्येण मम्मटेन च वैयाकरण प्रशंसाया-मुच्यते—

"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति ।" (ध्वन्या० 1–13)

"बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यंग्यव्यंजकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः ।" (काव्यप्रकाश 1–4)

ध्वनिरात्मा काव्यस्य—अभिधा-लक्षणा-व्यापारान्तरं व्यञ्जनावृत्तिः स्वीक्रियते। व्यञ्जनायाः प्राधान्येन काव्ये कल्पनायाश्चिन्तनस्यानुभूत्यादितत्त्वानां च समावेशोऽभूत्। कल्पनाया अभावे लक्षणाया व्यञ्जनाया वा प्रवृत्तिर्न प्रसरति। नानुभूतिं विना भावावेशः, भावावेशमन्तरेण न लक्षणा व्यञ्जना वोद्भवति। व्यञ्जना-शक्तिः काव्ये प्रभविष्णुतां रमणीयतां रागात्मकतां च सन्निवेशयति। तदेव काव्ये रमणीयत्वं जायते।

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः॥ शिशु० 4–17॥

तादृशी रमणीयता काव्ये व्यञ्जनाशक्तेः ध्वनेर्वा संजायते। यथा रमणीशरीरे लावण्यम्, मेघे विद्युत्, चन्द्रमासि ज्योत्स्ना, उषसि ज्योतिर्वाऽन्तर्निहिता तथैव काव्ये ध्वनेरधिष्ठानम्। ध्वनितत्त्वं न काव्यस्यावयवरूपम्, अपितु अवयविरूपेण आत्मरूपेण वा प्रतिष्ठयति।

काव्यशास्त्रे अभिधा लक्षणा व्यञ्जना चेति तिस्त्रो वृत्तयः स्वीक्रियन्ते। अभिधा वाच्यार्थप्रधाना, लक्षणा लक्ष्यार्थप्रधाना, व्यञ्जना व्यंग्यार्थप्रधाना च। व्यञ्जाशक्तेः स्वीकरणे ये दोषा विविधैः शास्त्रज्ञैरुद्भाविताः ते दोषा आनन्दवर्धनेन ध्वन्यालोके मम्मटेन च काव्य प्रकाशे निरस्ता। उक्तं च—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥
नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा।
विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥

व्यञ्जना द्विविधा—शाब्दी आर्थी च। तत्र शाब्दी द्विधा—अभिधामूला लक्षणामूला च। आर्थी व्यञ्जना च वक्तृबोद्धव्यादीनां वैशिष्ट्याद अन्यदर्थं बोधयति।

ध्वनेर्भेदा—

ध्वनेर्मुख्यतया द्वौ भेदौ स्तः –(1) लक्षणामूलोः ध्वनिः, अविवक्षितवाच्यध्वनिर्वा। (2) अभिधामूलो ध्वनिः विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिर्वा। लक्षणामूले ध्वनौ वाच्यार्थस्य विवक्षा प्रयोजन वा न भवति। व्यंग्यार्थो लक्ष्यार्थमाश्रित्यावतिष्ठते। अस्यापि द्वौ भेदौ—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः, अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यध्वनिश्च। अर्थान्तरसंक्रमिते वाच्यार्थः स्वार्थं बोधयत्वपि अर्थान्तरं संक्रामति। अत्यन्ततिरस्कृते वाच्यध्वनौ च वाच्यार्थः सर्वथा तिरस्क्रियते। लक्षणामूलश्चैष ध्वनिः।

अभिधामूले विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ वा व्यंग्यार्थो वाच्यार्थम् आश्रयते। अस्यापि द्वौ भेदौ—संलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनिः, असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनिश्च। संलक्ष्यक्रमे व्यंग्यध्वनौ व्यंग्यार्थ-प्रकाशस्य पौर्वापर्यक्रमो लक्ष्यते। असंलक्ष्यक्रमे व्यंग्यध्वनौ च शतपत्रभेदन्यायेन पौर्वापर्यं न लक्ष्यते। तत्र सत्यपि पौर्वापर्यं यौगपद्यात् न तत्र क्रमज्ञानम्। द्वयोरप्येभेदयोरनेके भेदा वर्ण्यन्ते।

गुणीभूतव्यंग्ये वाच्यार्थापेक्षया व्यंग्यार्थस्य नाधिकं महत्त्वम् । जगन्नाथेन गुणीभूतव्यङ्ग्यं काव्यमपि उत्तमकाव्यान्तर्गतं स्वीकृतम् । अस्य अगूढ़अपराङ्गव्यंग्यादि-भेदेन अष्टौ भेदाः ।

काव्यं त्रिविधिम्—ध्वनिवादिमतेन काव्यं त्रेधा विभज्यते—उत्तमं मध्यमम—वरञ्चेति । व्यंग्यार्थस्य प्राधान्ये काव्यमुत्तमम् । "वाच्यातिशायिनिव्यङ्ग्ये ध्वनि-स्तत्काव्यमुत्तमम्" (सा०द० 4–1) । उत्तमकाव्यस्यापि भेदत्रयम्-रसध्वनिः, अलंकार-ध्वनिः, वस्तुध्वनिश्च । तत्र रसध्वनिः सर्वोत्तमः । गुणीभूतव्यंग्यं काव्यं मध्यमम् । "अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्" (काव्य० 1–5) । अत्र व्यंग्यार्थस्य सत्त्वेऽपि वाच्यार्थापेक्षया तस्य गौणत्वं भवति । अधम काव्ये अवर काव्ये वा शब्द-चित्रादिकमलंकारप्रदर्शनादिकं च भवति । अत्र रसाभावाद स्वाधमत्वत् । "शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्" (काव्य० 1–5) ।

ध्वनिवादस्य महत्त्वस्य कारणं यदत्र सर्वेषामपि काव्यमूलतत्त्वानां रसालंकार-वक्रोक्त्यादीनां समावेशो भवति । अत्र रीतिवादवद् न केवलं पाण्डित्यप्रदर्शनम्, अपितु चित्ताह्लादकत्वं चेतोविकासत्वं च भवति । ध्वनिवादस्य समणीयत्वं शब्दशूलकम्, अर्थमूलकं शब्दार्थोभयमूलकञ्च । ध्वनिः काव्ये ललनालावण्यवद् अपूर्वं रम्यत्वं प्रतीय-मानामर्थं च द्योतयति । खण्डनमण्डनादिभि पुष्टः सर्वमान्योऽयं काव्यसिद्धान्तः । नैतादृशः काव्यसिद्धान्तोभुवनेऽन्यत्रावलोक्यते । अतएवैतस्येयत् महत्त्वम् । एवं सिध्यति यद्—'ध्वनिरात्मा काव्यस्य' ।

26

न हि रसादृते कश्चिदप्यनर्थः प्रवर्तते। (1985)

अथवा

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । (1985)

कोऽयं रस इति चेत्, यो रस्यते-आस्वाद्यते स एव रसः । एवञ्चानेन रसपदस्य निर्वचनेन आस्वादभूतो य सः एव रसपदवाच्यः । वासनारूपेण स्थिताः स्थायिभावाः विभावाद्यैः सह अनुकूल परिस्थित्यां प्राकट्य लभन्ते । ते स्थायिभावाः रसतां प्राप्नु-वन्ति । यतो हि कथितमाचार्यमम्मटमहाभागेन—"व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्था.िभावो रस. स्मृतः" इति ।

रसास्वादः कया रीत्या जायते, कानि साधनानि सन्ति यानि रसं निष्पाद-यन्तीति चेत्, अस्मिन् विषये चिरन्तनेन मुनिना भरतेन सर्वतः प्रथममनेन सूत्रेण प्रतिपादितम्—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पति" इति । वासनारूपतयाति-सूक्ष्मरूपेणावस्थितान् रत्यादीन् स्थायिन अनुभावयन्ति अनुभवविषयीकुर्वन्तोति अनुभावाः, सम्यक् रत्यादीन् कामे चारयन्ति संचारयन्ति मुहुर्मुहुरभिव्यञ्जयन्तीति वा

व्यभिचारिण इति । एवञ्चैतेषां संयोगात् रसनिष्पत्तिर्भवतीति व्याख्यातं भरतेन । विभावानुभावव्यभिचारिण एते त्रय एव सम्मिलितरूपेण दध्यादिन्यायेन रसरूपेण परिणमन्ते, यथा—दुग्धमम्लयोगात् दधिरूपेण परिणम्यात्मानं दधित्वेन व्यनक्ति तथैव । उक्तं हि दर्पणकारविश्वनाथेन—

विभावेणानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादि स्थायिभावः सचेतसाम् ॥

सचेतसामित्यनेन च ये काव्यवासनावासितान्तः करणा सन्ति, ते एवायमास्वादयन्ति नेतरे नैयायिकाः मीमांसकाश्च । अतएव विश्वनाथेन निर्वासना काष्ठकुड्याश्मसन्निभा इति ।

इदमेव भरतसूत्रं भट्टलोल्लटशंकुकभट्टनायकाभिनवगुप्ताचार्यप्रभृतिभिः विद्वद्भिः स्वीयं स्वीयं मतं विविधरूपेण प्रकटयाचक्रु । मतानि प्रधानानि तेषां भट्टलोल्लटशंकुकभट्टनायकाभिनवगुप्ताचार्याः नामान्यवगन्तव्यानि । रससम्प्रदायश्चैतेषामेव मतमादाय साम्प्रतं प्रचलति । भट्टलोल्लटस्यायमभिप्रायः—यथा असत्यपि सर्पे सर्पतयावलोकितात् दाम्नोऽपि भीतिरुदेति तथा सीताविषयिणी अनुरागरूपा रामरतिरविद्यमानापि नर्तके नाट्यनैपुण्येन तस्मिन् स्थितेव प्रतीयमाना सहृदयहृदये चमत्कारमर्पयन्त्येव रसपदवीमधिरोहतीति । परञ्चास्य मतस्यायुक्त त्वमेव प्रतिपादितं विद्वद्भि, यतोह्यस्मिन् मते अनुकार्ये रामादावेव रसनिष्पत्या, सामाजिके रसास्वादो न स्यादिति मतामिदं नादरणीम् ।

रसप्रसंगविषये नैयायिकस्य श्रीशंकुकस्येदमाकूतम्—यथा कुज्झटिककुलितदेशेऽसतोऽपि धूमस्याभिमानात् धूमनियतबह्वेरनुमानं तथा नटेनैव सुनिपुणं 'ममैवैते विभावादय' इति प्रकाशितैस्तत्रासद्भिरवि विभावादिभितन्नियता रतिरनुमीयमाना निजसौन्दर्यबलात् सामाजिकानामास्वाद्यमानतया चमत्कारमादधती रसतामेतीति रतेरनुमितिरेव रसनिष्यतिरिति । यथा बालानां चित्रतुरगे वस्तुपरिच्छेदशून्या तुरगोऽयमिति बुद्धिर्भवति तथा रामोपमितिप्रतिपत्या ग्राह्ये नटेऽपि प्रति परञ्च प्रत्यक्षमेव चमत्कारजनकं नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्धि विरोधस्य विद्यमानत्वेनेदमपि गजपिपीलिकाप्रायम् ।

भट्टनायकस्तु भरतसूत्रमनेन प्रकारेण व्याख्यायमानशब्दस्याभिधारूपव्यापारवत् काव्यनाट्ययोस्तद् विलक्षणभावकत्वभोजकत्वनामकं व्यापारद्वयमतिरिक्तमस्ति । काव्यबोधोत्तरमेव तत्राद्येन भावकत्वव्यापारेण विभावादिरूपसीतादयो रामसम्बन्धीरतिश्च सीतात्व रामत्व सम्बन्धांशमपहाय सामान्यतः कामिनीत्वरतित्वादि नैवोपस्थाप्यते । अन्त्येन भोजकत्वव्यापारेण तु उक्तरीत्या साधारणीकृतविभावादिसह सा रतिः सहृदयैरैवास्वाद्यते, अत एव असत्यामपि रतेरास्वादः आलौककत्वादुपपन्नमिति रतेरास्वाद एव रसस्यनिष्पत्तिरिति विचारणादौ विचारेण प्रतिपादितम् । एवञ्चास्मिन् मते भरतसूत्रस्य विभावादिसंयोगात् भोजकभोज्यभावसम्बन्धात्

भट्टनायकमते भावकत्वभोजकत्व व्यापारद्वयकल्पने यद् गौरवं प्रमाणाभावश्चेति नास्यं मतस्यापि मुक्तिमुक्तत्वात् प्रतिपादयन्ति मार्मिकाः।

व्यञ्जनावादिनोऽभिनवगुप्ताचार्यस्य रसविषयेऽयमभिप्राय -विभावानुभावव्यभिचारिभिः रसचर्वणा सामाजिकहृदये भवति। पूर्वोक्तभावकत्वभोजकत्वव्यापारयोः रामसीतादिविशेषांशपरिहारेण रतिकारणसाधारणकामिनीत्वादीनां प्रतीतैः विभावादिभिः सहृदयहृदयावस्थिता सा रतिर्व्यञ्जनया अभिव्यक्ता सामाजिकानामास्वाद्यं आयातीति एतादृशः आस्वादः एव रसनिष्पत्ति इति। एतस्यामवस्थायामानन्दस्यानुभवं सहृदयी एव करोतीति। रसशास्त्रालंकार शास्त्रयोर्मध्ये मतमिदं दार्शनिकमनोवैज्ञानिकानामाधारमिति हेतुनापि अधिकं प्रसिद्धत्वमुपगतम्। इदमेव मतं प्रकाशकारेणापि 'इतिश्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः' इत्युक्त्वा स्वीकृतम्।

रसस्य कतिभेदाः सन्ति? आलंकारिकाणामस्मिन् विषये नास्त्येकमत्यम्। यथा नाट्यशास्त्रप्रणेतामुनिना भरतेन नाट्यशास्त्रे—'शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-भयानक-वीभत्स-अद्भुताश्चेत्यष्टौ रसाः स्वीकृताः'। तथास्य प्रामाणिकतायां एषा कारिकाऽपि विलिखिता—'एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना।' एतन्मतमङ्गीकुर्वन् मम्मटाचार्योऽपि काव्यप्रकाशे निक्षिप्तवान्—

शृंगार-हास्यकरुणदौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

कँश्चित् अनादिकालादागतानां रागद्वेषादीनां नाशासम्भवात्, सर्वकार्यविरामरूपत्वेन नाटके प्रयोजनाभावात् शान्त रसो न स्वीक्रियते। यथा हि दशरूपककारणेन धनञ्जयेनोक्तम्—'शममपि केचित्प्राहु पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य'। यतो हि नटे रसाभिव्यक्तिस्वीकारात् सामाजिकानां फलशमत्वेन तत्र रसोद्बोधेबाधकाभाव इति शान्तरसपक्षणापातिनो मम्मटाचार्यस्याभिप्राय। एतदनुसारेण मम्मटोऽपि 'शान्तोऽपि नवमो रस' स्वीकृतवान्। अत एव ध्वनिवादिआनन्दवर्धनाचार्यै महाभारते मूलरसः शान्त एवाङ्गीक्रियते। रसविरोधिनां वर्तमानत्वे सामाजिकेषु शान्तरसोद्रेको न भवितुमर्हतीति शंका न विधेया, यतो नाट्ये शान्तरसं वाञ्च्छद्भि फलत्वेन गीतवाद्यादेः शान्तेः विरोधिताया शान्तोद्रेके नास्ति कश्चन प्रतिबन्धः, इत्येतत्सर्वविस्तरेण रसगंगाधरे प्रतिपादितम् यतोहि—विषयचिन्तासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे तदीयासम्बन्धस्य संसारनित्यत्वास्य तदुद्दीपनस्य पुराण-श्रवण-सत्संग-पुण्यवन-तीर्थावलोकनादेरपि विषयत्वेन विरोधित्वायत्ते। यथा 'संगीतरत्नाकरे' प्रतिपादितम्—

"अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुघन्।
तदचारु, यतः कंचिन्तन्न रसं स्वदते नट॥"

अत एव नाट्येऽपि शान्तरसः स्वीकृतः।

अथकथमेत एव रसा, ननु धार्मिकप्रवचने भगवद्भक्तैरनुभूयमानभक्तिरस्यापि सौरांगदिभिः स्वीकारात् कथं नव एव रसा इति न शंकनीयम् यतो हि रतिर्देवादि-

विषयाभाव इति मम्मटाचार्योक्तिरीत्या भक्तिरसभावान्तर्गतया तस्य रसत्वदोषौ अनङ्गीकरणादिति प्रतिपादितं रसगंगाधरे पण्डितराजेन जगन्नाथेन।

एतेषु काव्यमर्मज्ञैः विद्वद्भिः स्वीकृतेषु कस्य रसस्य प्राधान्यं वर्तते ? कः रसः मुख्य रसः ? वा रसराजस्य संज्ञा वोढुं समर्थः ? इति विषये काव्यकाराणां विविधानि मतानि दरीदृश्यते। सामान्यतस्तु विदुषां बहुलवर्गेण शृंगाररसस्यैव प्रधानता स्वीकृता अस्ति अतः स एव रसराजस्य गौरवं लभते। कालिदासेन अभिज्ञानशाकुन्तले भ्रमराक्रान्तायां शकुन्तलायाः स्थितिः वर्णिता—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं,
रहस्याख्यीय स्वनसिमृदुकर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषा-मधुकर ! हतास्त्वं खलु कृती॥

विप्रलम्भशृंगारवर्णनेऽपि सिद्धसारस्वतकविना कालिदासेन 'मेघदूते' मार्मिकवर्णनं व्यवस्थापितम्—

तन्वी श्यामाशिखरिदशनापक्वबिम्बाधरोष्ठी,
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसदगमना स्तोकनम्रास्तनाभ्यां,
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातु॥

किं बहुना ! शृंगाररस्तु सर्वप्राणिनां जीवधर्म एव। अत्र सत्यमेवोक्तं कालिदासेन—

शृंगारी चेत् कविकाव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेत्तीरसं सर्वमेव तत्॥

करुणरसाचार्यमहाकविना भवभूतिना तु 'करुण एव रसः' इति प्रतिपादितम्। यथैकमेव जलमार्वतबुद्बुद्तरंगरूपाभवस्थाविशेषान् प्रतिपद्यते, परञ्च निमित्तभेदात् भिन्नरूपतां प्रतिपद्ययन्ति नाना संज्ञा भजते। यथा हि—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्,
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान।
आवर्त बुद्बुद्तरंगमयान् विकारान्,
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

न च रसस्यानन्दमयत्वाङ्गीकारे करुणरसस्य रसत्वं हानिरिति शंकनीयम्, तत्रापि आलंकारिकैरानन्दस्वीकारात्। अन्यथा करुणरसप्रधाने भवभूतिविरचिते उत्तररामचरिते सचेतसामध्ययनप्रकृतिः साधीयसी न स्यात्। तत्र सान्निनिवेशप्रवृत्तिरनेन विज्ञायते यत्र करुणरसस्यापि आनन्दमयत्वम्, एतदेव संसाधितं विश्वनाथेन—

"सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥"

करुणरसस्यानन्दयमयत्वानङ्गीकारे रामायणादिमहाकाव्येऽपि दुःखहेतुत्व-प्रसङ्गः न च रामायणस्य दुःखहेतुत्वादिति, सर्वेषामपिसम्मतमतम् एवं शंकितं विश्वनाथेन—

"तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता।"

काव्ये सर्वत्र अलंकारगुरीत्यादिषु प्राधान्यमुखीकृतम्। यथा शरीरे आत्मनः प्राधान्यं तद्वत् रसस्यापि। अत एव सरसवाक्यप्रपिपादनस्य वैशिष्ट्यम् आलंकारि-काणामन्यैषां वा, अत एव काव्यप्रयोजनप्रतिपादनप्रसङ्गे मम्मटाचार्येण—सरसता-पादनेन अभिमुखीकृत्य रामादिवत् वर्तितव्यम् न रावणादिवदिति उक्तम्। अत एव च श्रीमता आनन्दवर्धनाचार्येण ध्वन्यालोके त्रिविधिषु वस्त्वलंकाररसविधेषु ध्वन्यात्मक-काव्येषु रसध्वन्यात्मक काव्यस्वप्राधान्यङ्गीकृतम्।

यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे।

महाराष्ट्रदेशवासितव्यानामनंगानां कुचकलशवदतिगौरवं व्यञ्जनाप्रतिपाद्य-त्वञ्चापि महता डिंडिमघोषैण स्वीकृतम्। एतदेव सर्वं ध्वन्यालोकस्य प्रसिद्धतये अभिनवगुप्ताचार्यविरचिते आलोकस्य टीकाग्रन्थे 'न मरहट्टवधूकुचाभः' इत्यादिना प्रत्यपादि।

अत एव रसस्य स्वशब्देनाविष्करणं प्रत्युतदोष इत्येवं प्रतिपादकेन प्रकाश-कारेण रसस्य व्यङ्ग्यत्वं नितरां प्रसादितं भवति, अत एव—

"रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायि संचारिणोरपि।"

एतादृशि आनन्दमयस्वरूपविवेकिन मुक्तारपि भवतीति अहो वैशिष्ट्यम् सरस-काव्यमहिम्ना, अत एव विश्वनाथेन— वाक्यं रसात्मकं काव्यमिति गदितम्। रसात्मक-काव्यस्यात्र प्रयोजनं धमार्थकाममोक्षरूपाणां चतुर्विधानां फलानां प्राप्तिरिति, धर्मार्थ-काममोक्षप्राप्तये सर्वैरपि सरसताप्रतिपादने यत्नोऽनुष्ठेयः।

आनन्दमयश्चायमेव परब्रह्मरूपतां भजते, यतो हि उपनिषदि ब्रह्मस्वरूपप्रति-पादनप्रसङ्गे—'आनन्दो ब्रह्म, आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते इति निर्णीत्तम्। अत एव रसो वै सः, रस एवायं लब्ध्वानन्दी भवतीति श्रुतिषु प्रतिपादितम्। अयमेव तमोगुणरजोगुणविमुक्तः, सत्वगुणप्रधानात्मप्रकाशेन प्रकाशमानः प्रमाणकरसवदा-स्वाद्यते, अतः अखण्डः आनन्दस्वरूपः चिन्मयः स्पर्शशून्यः, ब्रह्मैव आस्वाद्यते प्रमातृभिः, अतः ब्राह्मणः सहोदरः, अलौकिकः स्वाकारयुक्तः, अभिन्नः इति। अतः रसस्यानन्द-स्वरूपत्वङ्गीकृतमालंकारिकैः तथा न केवलमानन्दमयत्वभेवापितु यथा विवेकस्य स्वप्रकाशत्वं संसाध्यते वेदान्तिमिस्तद्वदेव रसस्यापि स्वप्रकाशत्वं संसाधितम्। यथा साहित्यदर्पणे विश्वनाथेन प्रतिपादितम्—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

27

ग्रौचित्यसिद्धान्तप्रवर्तक: क्षेमेन्द्र:।

ग्रथवा

ग्रौचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। (1984)

ग्रथवा

ग्रनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। (1986)

विदितमेव समेषां यदस्याचार्यक्षेमेन्द्रस्य संस्कृतसाहित्ये विशिष्टं स्थानम्। महाभागेनानेन स्वकीयग्रन्थे स्वस्य परिचयोऽपि प्रदत्त:, तदनुसारेणैवास्य जीवनविषये किञ्चिद् ज्ञातुं शक्यते। क्षेमेन्द्रवंशधरा प्राचीना: काश्मीर प्रदेशवास्तव्यानां राज्ञां ग्रमात्यपदे प्रतिष्ठिता ग्रासन्। ग्रस्य जनक: प्रकाशेन्द्र:, पितामह: सिन्धुश्च नितातं ख्यातिगंत: पारदृश्या विद्वान् ग्रासीत्—

काश्मीरेषु बभूव सिन्धुरधिक: सिन्धोश्च निम्नाशय:,
प्राप्तस्तस्य गुणप्रकर्षयशस: पुत्र प्रकाशेन्द्रताम्।
विपेन्द्र प्रतिपादितान्नधभृगोसंघकृष्णाजिनै:,
प्रख्यातिशयस्य तस्य तनय क्षेमेन्द्र नामाभवत्॥

बृहत्कथामञ्जर्यां विवेचियं यदनेन क्षेमेन्द्रेण ग्रभिनवगुप्ताचार्यात् साहित्यशास्त्रस्वाध्ययनं कृतम्। यथा—

ग्रभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधे:।
ग्राचायार्यशेखरमणेस्साधु विद्यादिवृत्तिकारिण:॥

क्षेमेन्द्रोऽयं पूर्वं ग्रभिनवगुप्ताचार्यमतानुसारी शैव ग्रासीत्, परञ्चाग्रे सोमाचार्यप्रभावप्रभावित: क्षेमेन्द्रो वैष्णवत्वं स्वीचकार। ग्रनेन स्वीयासु कृतिषु वेदव्यासस्य काव्यमुपजीव्यैव वैशिष्ट्यं प्रकटितम्, ग्रत एवानेन स्वस्योपनाम व्यासदास इति लिखितम्, यथा—

इत्येष विष्णोरवतारमूर्ते: काव्यामृतस्वादविशेषभक्त्या।
श्रीव्यासदासान्यभिधेयेन क्षेमेन्द्रनाम्ना विहित:॥

क्षेमेन्द्रकालस्यविषये कश्चन विशेषविवादो न वर्तते, यतोहि स्वग्रन्थेषु समकालिक नृपाणां नामसभुटंकितम्, तदनुसारं काश्मीरशासकान्तकलशयो: समये ग्रनेन स्वीकीया कृतिर्निमिता।

पी० बी० काणे इति मतानुसारमनेन चत्वारिंशदधिकग्रन्थानां ग्रनेन रचना विहिता, परञ्च तेषु ग्रौचित्यविचारचर्चाकविकण्ठाभरणयो: विशिष्टं स्थानं वर्तते।

ग्रौचित्यविचारचर्चायां क्षेमेन्द्रेण ग्रौचित्यसम्प्रदायस्य स्थापना कृता। क्षेमेन्द्रस्यानुसारमौचित्मेव रससिद्धकाव्यस्य प्रमाणभूतं त्वमिति नास्तिसंदेहावसर:। यथा—

अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरकाव्यस्य जीवितम् ।।

(औ० चि० का० 5)

औचित्यंकिमिति जिज्ञासायाम्—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य तत् ।
उचितस्य यो भावस्तदौचित्य प्रचक्षते ।।

अयमभिप्रायः—प्रत्येकं वस्तुन स्वस्यस्थाने विन्यासेनैव शोभाजायते नान्यथा, यथा कटिशोभाविधायिका मेखला कटिदेशे न परिधाय यदि कण्ठे ध्रियेत, तर्हि सा न कामपि शोभां न विधास्यति अपितु उपहासास्पदा एव भविष्यति एवमेव औचित्यं बिना गुणालंकारविन्यासो न भावुकाभ्यो रोचते । यथा—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा ।
पाणौ नूपुरबन्धेनेन चरणे केयूरपाशेन वा ।।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्तिके हास्यताम् ।
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः ।।

औचित्यस्य क्षेत्रं आचार्येण विस्तारेण निरूपितम् औचित्यविचार चर्चायाम्, यथा—

पदे वाच्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे ।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ।।
उपसर्गे च निपाते च काले दशे कुलेव्रते ।
तत्त्वे सत्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नान्यथाशिषि ।
काव्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ।।

अनेन प्रकारेण औचित्यस्य क्षेत्रं संकुचितं किन्तु सर्वथा विस्तृतम् । पदवाच्य-प्रबन्धेष्वौचित्यानां सम्बन्धो मीमांसादर्शनेन वर्तते । एवमेव गुणालंकाररसानामौ-चित्यञ्च साहित्यशास्त्रेण सम्बद्धं वर्तते । क्रियाकारकलिङ्गवचनविशेषणोपसर्गाणाञ्च व्याकरणशास्त्रेण कृतसम्बन्धो वर्तते । अर्थात् लोकानुसारेणैवेषां विन्यास औचित्यं भजते नान्यथा । अन्येषामवशिष्टानां तत्त्वसत्वाभिप्राय—स्वभावसारग्रहप्रतिभावस्था-विचारनामाशीर्वादानां विन्यासः कविस्वेच्छानिर्भरभवति । इत्थञ्च औचित्यं विना न कश्चन स्वकृतौ सफलत्वं भजते । अत एव सत्यमेव प्रचलितम्—

"औचित्यं काव्यजीवितम् ।" इति ।

28
अलङ्कारशास्त्रमिति नामकरणे तथ्यम्।
अथवा
सौन्दर्यमलङ्कारः।   (1986)

भारतवर्षे विशिष्टा मम्मटाचार्यतुल्याः समुद्भूटा आलंकारिकाः संजाता इति नातिरोहितं विदुषाम्। मम्मटाचार्यविरचित 'काव्यप्रकाशः' काव्यस्य निर्माणे स्वरूप-दोषगुणालंकारादीनामवधारणे च अनुपमो निबन्धः। यथा च व्याकरणं भाषायां व्युत्पत्त्यै अपेक्षते, तथालंकारशास्त्रमपि काव्ये नैपुण्याय सर्वथा अवश्यञ्चापेक्ष्यते। ने केवलमलंकारशास्त्रं विना काव्ये नैपुण्यमेव न भवति, अपितु काव्यदोषदृष्टिरपि न जायते। यो हि अलंकारशास्त्रं न जानाति केवलं व्याकरणादिकमेव जानाति स कथं जानीयात् "चिन्तारत्नमिव च्युतोऽसि" 'गुणैरनर्घ्यैः प्रथितो रत्नैरिव महार्णव' इति चानयोस्तुल्येऽपि उपमानोपमेययोर्लिङ्गभेदे पूर्वं दुष्टं न परमिति। एवमेव जघन-काञ्चादिपद कर्णावतंसादिपदयो अविशिष्टेऽपि पौनरुक्त्ये पूर्वं दुष्टं परमदूष्टमिति निश्चितव्यम्। तस्मादलंकारशास्त्रमपि व्याकरणवदवश्यमेवाध्येतव्य श्रेण्यां समायाति।

अवश्यमध्येतव्यश्रेष्यां प्राक्स्थामिदमलंकारशास्त्रं •प्रथमं कदा केनाविष्कृतमिति न निर्णेतुं शक्यमस्माभि। परञ्च प्रसिद्धेषु सर्वेषु अलंकार निबन्धेषु कालिदासकृते-रुद्धरणात् कालिदासादुत्तरकालमेवास्य बाहुल्येन चर्चा अजनीति संभाव्यते।

अत्र तथ्यनिर्णये प्राचीनविदुषामभिमतस्य पर्यालोचनं मन्ये साधकं संभवेदिति। दण्डिना भामहेन वा शास्त्रं प्रथममाविष्कृतम्। ताभ्यां प्राक्तनस्यालंकारशास्त्रनिर्मातु-रनुपलंभात्। तयोः परमप्राचीनत्वञ्च काव्यप्रकाशादिषु स्फुटमेव। अग्निपुराणे भगवता वेदव्यासेन सर्वस्यापि काव्यप्रपंचस्य कथनात् प्राचीनत्वे नास्ति संदेहः, अग्निपुराणे— "स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाच्ययोरित्यादिना अनुप्रासादयः शब्दलकारा, एवमेव "अलंकरणमर्थानामर्थालंकार इष्यते" इत्यनेन चार्थालंकाराणां वैशिष्ट्यं प्रतिपादितम्।

अर्थालंकाररहिता विधवैव सरस्वती इत्युपक्रम्य "उपमा नाम सा यस्यामुप-मानोपमेययो। सत्ता चान्तर सामान्ययोगित्वेऽपि विवक्षितम्।"

किञ्चिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा प्रवर्तते इत्यादिना उपमादयोऽलंकाराः लक्षिता। अग्निपुराणस्य 337 तमे अध्याये—

संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणदोषविवर्जितम्॥

इत्यादिना काव्यस्यापि लक्षणमुक्तम्।

अस्मिन् दोषगुणादीनामपि निरूपणीयत्वेऽस्य शास्त्रस्य नामालंकार नामैव व्यवदेशस्य किं वीजमिति जिज्ञासायां—अलंक्रियतेऽनेनेति करणव्युत्पत्तिनिष्पन्नो

यमकोपमाबोधको नाम अलंकारशब्दः, एवं अलंकृतिरलंकार इति भावव्युत्पन्नो दोषा गुणालंकार सम्बलनकृतसौन्दर्यपरः, प्रतिपादकत्वादेवास्य शास्त्रस्याभिधानमलंकार-शास्त्रमिति विचारयितुं शक्यते। अत्र च साधकानि वामनोक्तवचनान्येव दरीदृश्यन्ते यथा—काव्यग्राह्यमलंकारात् सौन्दर्यमलंकार.। अलंकृतिरलंकारः करणव्युत्पत्या पुनरलंकार शब्दो यमकोपमादिषु वर्तते। स दोषगुणालंकारहानोपादानाम्पदम् स खलु, अलंकारो दोषहानात् गुणालंकारयोरादानाच्च संपाद्यः कवेः इत्यादिना काव्यालंकारे विवेचितम्।

एवमेव प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयादीनां षोडशपदार्थानां प्रतिपादकमपि गोतमशास्त्रं पदार्थानुमानपर्यायस्य न्यायस्य सकलविधानुग्राहकतया, सर्वकर्मानुष्ठानसाधनतया च तत्र शास्त्रे प्राधान्येन न्यायशास्त्रमिति व्यपदिश्यते, प्राधान्येन व्यवदेशाः भवन्ति मल्लग्रामवत् न्यायात्। तथैवात्रापि दोषगुणादीनाम् प्रतिपादकमपि इदं शास्त्रम्, यमकोपमादीनामलंकाराणां भूयोविषयकतया काव्य-व्यवहारप्रयोजनतया च अलंकारशास्त्रेऽपि प्रधानत्वेन तत्प्रतिपादकत्वादेवास्य नामालंकारशास्त्रमिति तर्कयामः। अलकाराणां काव्यवहारप्रयोजकत्वञ्च ध्वनि-कारेणानन्दवर्धनाचार्येण काव्यवृत्तेस्तदाश्रयादित्यनेन, मम्मटाचार्येण पञ्चमोल्लासे विस्तरेण समाहितम्। अलंकारकृतचारुत्वेनैव शब्दार्थयोः काव्यत्वव्यवहारः—

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्या रदच्छदरसो न्यकरोतितरां सुधाम्॥

इत्यादौ विशेषोक्तिव्यतिरेकौ गुणनिरपेक्षौ काव्यव्यवहारस्य प्रयोजकत्वमाकर-ग्रन्थेषु विवेचितम्।

वस्तुतस्तु अस्य शास्त्रास्यालंकारशास्त्रमिति व्यपदेशे तत्त्वमिदं विवेचनीयम्, यथा—ये दण्डिभामहमहोद्भट्टरुद्रटवामनाताः प्राञ्चोऽलंकार निक्षिप्तं मन्यमानैः 'अलंकारा एव काव्ये प्रधानम्' इति सिद्धान्तितम्। अतस्तदानीं 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायेन तच्छास्त्रस्यालंकारशास्त्रमिति व्यापदेशः सप्रमाणं एवासीत्। ततस्तेभ्योऽर्वाचीनैः गूढविचारशालिभिरानन्दवर्धनाचार्यैर्ध्वन्यालोकाख्यस्वप्रणीतप्रबन्धे ध्वन्यमानस्यैवार्थस्य गुणोलंकारोस्त्कारोपस्कर्तव्यत्वेन प्राधान्ये संस्थापिते, अलंकाराणां प्राधन्याभावेऽपि तत्प्रधानस्य प्राचीनव्यपदेशप्रणाल्यनुसारेणालंकारनाम्नैव व्यवदेशः प्राचलत्।

मम्मटाचार्येण स्वकीयकाव्यप्रकाशे अष्टमोल्लासे—

"ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादयः इवात्मनः।"

इत्यादिना विवेचनप्रसङ्गे—

टीकायाम्—"शब्दार्थौ काव्यस्य शरीरम् गुणाः रसस्य साक्षाद्।"

अलंकारास्तु शब्दार्थरूपकाव्यशरीरोत्कर्षद्वारा रसस्यैवोत्कर्षकाः, रसश्चात्मनीयः इत्यादिना समालोचितम्। सिद्धान्तितया रसः शरीरेष्वात्मवत्काव्य प्राधान्येन स्थित इति प्रागुक्तन्यायेन अस्य शास्त्रस्येदानीं रसशास्त्रमिति व्यपदेशो युक्तः, तथापि

स एव प्राक् प्रचारमुपगतो व्यवदेशोऽद्यावधि तथैव प्रचरतीतिनास्ति संदेहलेशः। तदेतप्सर्वं प्राचीनानामलंकाराचार्याणां मतमलंकारसर्वस्वे राजानकरूय्यकेण विस्तारेण विवेचितम्। एवात्र भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरंतनालंकाराचार्या प्रतीयमानमर्थं वाच्यो अलंकारपदनिश्चितं मन्यन्ते। तथाहि—पर्यायोक्तिप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्तिव्याजस्तुस्तुपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमानं गम्यमानं वाचोपकारत्वेन—

"स्वसिद्धये पराक्षेप परार्थः स्वसमर्थम्।"

इत्यादिना।

यथा योगं द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः। रुद्रटेन तु भावालंकारो द्विधैवोक्तः। रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलंकाराः वाचोपकारकत्वमुक्ताः। उत्पेक्षा तु स्वयं प्रतीयमाना उक्ता। रसवत्प्रेयः प्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः। तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलंकारतया ख्यापितमेव। आचार्यवामनेन सादृश्यनिबन्धायालक्षणाया वक्रोक्त्यलंकारत्वं ब्रवता कश्चिद् ध्वनिभेदोऽलंकारतथैवोक्तः। केवलं गुणविशिष्टा रचनात्मिकारीतिकाव्यात्मत्वेनोक्ता। उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेवसूचितम्, विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः। तदेवं विवेचनेन समायाति यंदत्र काव्ये अलंकाराः एव प्रधानमिति प्राचां मतम्।

वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभंगीभणितिस्वाभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यजीवितमुक्तवान्। व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यप्रतिपेदे। अभिधानप्रकार विशेषा एव चालंकाराः। सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसांभागे च। उपचारवक्रताभिः समस्तो ध्वनिप्रपंचः स्वीकृतः। केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं न व्यंग्यार्थजीवितमितितदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्। भट्टनायकेन तु, व्यंग्यव्यापारस्य प्रौढ़ोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्व ब्रुवता व्याजावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्य प्राधान्यमुक्तम्। तत्राभिधाभावकत्वलक्षणद्वयोत्तीर्णोरसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापार प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः।

एवं विधा नव्यप्राचीनाचार्याणां सत्यपि मतभेदे वस्तुतः काव्यस्य शोभा अलंकारैरेव जायते। विविधालंकारसज्जितायुवति यथा मनोग्राह्या जायते, एवमेव विशिष्टालंकारजातेन परिष्कृता काव्यकृतिः निश्चयेन सहृदयानां चेतः सर्वथा रसमुल्लादते। यथा उत्प्रेक्षालंकारयुक्ता कालिदासवाणी—

सैषास्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं यथा नूपुरमेक
त्वच्चचरणार्विन्दविश्लेषदुःखादिव।

इदं कालिदासकथनं उत्प्रेक्षाविकासितया कियतीं शोभां धत्ते इति भावुका एव जानन्ति। एवमेव—

"मरणं प्रकृतिः शारीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।"

इत्यदिना अलंकारपरिघुष्टेन पद्येन यत्प्रतिपादितं तथ्यं सहृदयानां तूनं मनोहारि।

29
आलंकारिकाणां श्लेषालंकारवैशिष्ट्यम् ।

शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभावन्निर्गलितोऽयं सिद्धान्तः "सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति" इति । एवञ्चानेन नियमेन एकेन शब्देनार्थद्वयप्रतीत्यसंभवात् अर्थद्वयप्रतीत्यै तत्र श्लेषस्थले एकाकारौ द्वौ शब्दावङ्गीकार्यौ भवतः । तौ च एकानुपूर्वीकत्वेऽपि तत्तदर्थनिरूपितवृत्तिभेदात् प्रत्येकं भिन्नौ "अर्थभेदेन शब्दभेदः" इति नियमात् ।

अपरम्—इन्द्रशत्रुप्रभृतीनां भिन्नसमासानां भिन्नस्वरकृतभेदोऽनिवार्यः । अत्र च तत्पुरुषबहुव्रीहिसमासौ स्तस्तेन च इन्द्रवृत्रेत्युभयोर्बोधः । एवञ्चोभयार्थबोधकावत्रापि द्वौ शब्दौ स्यातामिति "काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते" इति च नयः स्वीकृतो वर्तते । अर्थादत्रोभयार्थबोधक एक एव शब्द इति भावः । एवञ्च भिन्नार्थबोधकौ एकाकारौ द्वौ शब्दौ यत्रैकप्रयत्नेनैकदोच्चार्यमाणतया पार्थक्येन नानुभूयेते तत्र श्लेषो भवतीति भावः । अर्थात् एकप्रयत्नोच्चार्यतयाभिन्नत्वेनानुभूयमानभिन्नार्थकनानाशब्दत्वं श्लेषत्वमिति श्लेषलक्षणं पर्यवसन्नम् । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'वाच्यभेदेन भिन्ना' इत्यादिना । वाच्यभेदेन भिन्नाः शब्दाः युगपद्भाषणस्पृशः—एकोच्चारणविषयाः सन्तो यद् श्लिष्यन्ति—भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स एव श्लेषनामा शब्दालंकार इति स्पष्टम् । 'सकृदुच्चरितं' इति न्यायानङ्गीकर्तॄणां मते तु एकोच्चारणेनैवानेकार्थसंप्रत्ययात् 'एकदा गृहीतनानातात्पर्यकः शब्द एव श्लेष' इति विवेकः ।

न च 'भद्रात्मन.', 'दुर्गालंघितविग्रहः' इत्यादिपद्येषु यथा अर्थान्तरबोधो व्यञ्जनया जायते तथैवात्रापि द्वितीयार्थस्य बोधो जायतां व्यञ्जनयैवेत्यलं स्वीकारेण श्लेषस्येति वाच्यम् ? तत्र प्रकरणादिना अभिधायानियन्त्रितत्वेनान्यार्थबोधो जायतां नाम व्यञ्जनया किन्तु प्रकृते तु प्रकरणादीनानुभयत्रार्थे तुल्यत्वनैकत्राभिधानियन्त्रणाभावादर्थद्वयस्य वाच्यत्वं नितरामपेक्षितम् । तेन श्लेषान्यथासिद्धत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् ।

अभिधामूलव्यञ्जनया श्लेषस्येदं पार्थक्यं यत् नानार्थक शब्देषु एकत्रार्थे तात्पर्यवशात् प्रकरणादिना अभिधा नियन्त्रिता भवेत् तत्रोक्तव्यञ्जनया बोधः अपरार्थस्य । यत्र तु क्रमेण तात्पर्यं तत्रावृत्त्या बोधः, आवृत्तिर्नाम पुनरनुसन्धानम् । यथा अक्षा भज्यन्तां भुज्यन्तां दीव्यन्तामिति । अत्रान्वयिपदार्थभेदात् बोद्धुरावृत्त्यैव बोधः, उच्चारणं तु तन्त्रेणेति भाव । यत्र तु नानार्थकशब्देषु अनेकत्र युगपत् तात्पर्यमवतरति, न वा अवतरति तत्र श्लेष इति त्रयाणां विषयविभागः । नानार्थकशब्देषु यत्रानेकत्र प्रकरणादिकं युगपदवतरति तत्रैव श्लेष इति तु वक्तुमप्यशक्यम्, अनेकत्रप्रकरणाद्यभावेऽपि योऽसकृत्परगोत्राणामित्यादौ श्लेषस्य स्वीकरिष्माणत्वात् । प्रकरणाद्यभावेऽपि द्वावप्यर्थौ वाच्याविति तत्वृत्तिग्रन्थविरोधाच्च ।

इदमत्रावधेयम्—श्लेषस्तावत् द्विविधः सभङ्गोऽभङ्गश्च। सभङ्गो नाम यत्र विभिन्नसमासद्वारा पदानि विभज्यान्यार्थः क्रियते। यत्र च पदविभागमन्तरैवार्थद्वयस्य प्रतीतिस्तत्राभङ्गश्लेषः। अत्र केचन एवं ब्रुवते—सभङ्गश्लेष एव शब्दश्लेषः, अभङ्गः श्लेषस्तु अर्थश्लेषः—तेषामिदमत्रा तम्—यत्र विभिन्न समासो भवति, तत्र समासानुसार-मुदात्तादिस्वरभेदान् भिन्नेन कण्ठताल्वाद्यभिघातरूपप्रयत्नेनोच्चार्यमाणत्वात् शब्दयो-र्वैभिन्नमापतितं भवति। तेन च श्लेषभङ्ग एवापद्यत इति स्वरभेदमनादृत्यैकप्रयत्नो-च्चार्यत्वात् जतुकाष्ठन्यायेन परस्परं संश्लिष्टयोः शब्दयोः श्लेष एव सभङ्ग शब्दश्लेषः। अयं सभङ्गश्लेषः शब्दविषयत्वात् शब्दश्लेष एव। यत्र तु समासाभेदेन तदभावेन वा स्वरितादिस्वराभेदस्तत्राभिन्नप्रयत्नोच्चारणनैकस्मादेव शब्दात् अर्थद्वयं प्रतीयते। तत्र एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन वस्तुतोऽर्थयोरेवश्लेषः। एवं च स्पष्टमेव शक्यते वक्तुं यदर्थ-श्लेषोऽभङ्गश्लेषः। अनयोः क्रमशः वर्तते उदाहरणद्वयम्—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं संप्रति सममावयोः सदनम्॥
योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः।
शतकोटिदतां विभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजति॥

अत्र पूर्वश्लोके पृथूनि कार्तस्वरस्य पात्राणि यत्र तत्। तथा पृथुकानामार्त-स्वरस्य पात्रमित्यादिरूपेण सभङ्गश्लेद्वारा राजकव्योः समानता संगता भवति। उत्तरत्र तु भङ्गमन्तरापि पदानां राजेन्द्रयोरुभयोः बोधोऽनायासेनैव जायते इति अभङ्ग-श्लेषोऽर्थविषयक एव।

अथवा सभङ्गेऽभंगे वा उभयत्रार्थद्वयप्रतीतावेव श्लेषालंकार प्रतीतिरिति द्वयोरप्यर्थावलंकारत्वेवाङ्गीक्रियताम्। अलमत्र शब्दालंकारत्वस्वीकृत्या। अलंकार्या-लंकरणभावस्याधारशिला तु आश्रयाश्रयिभाव एव लोकतः सिद्ध्यति। यत्र धार्यते कटककुण्डलाद्याभरणं सोऽलंकार्यः, कटकादयश्चालंकारास्तथैव प्रकृतेऽपि यो यदाश्रितः स तदलंकार एव।

अन्यदिदमत्रावधारणीयम् - श्लेषस्थलयस्य कस्याप्यलंकारस्यावश्यं प्राप्त्या निरवकाशः श्लेषः सर्वालंकारबाधकः। अलंकारान्तराणि श्लेषाभावस्थले चरितार्थानि सन्ति। अतस्तेषां बाध्यत्वमेव युक्तमिति श्लेषस्थले अलकारान्तराणां केवलं प्रतिभास एव भवति न तु तेषां पर्याप्तिरपि तत्र।

उपर्युक्तविवेचनेन तथ्यत्रयं पुरस्तादागतम्। तत्र प्रथमं तावत्—अभङ्गश्लेष-स्यार्थालंकारत्वम्, द्वितीयम् उभयरूपः श्लेषोऽर्थालंकार एव, तृतीयन्तुश्लेषः उपमाद्य-लंकारबाधकः। एतत् त्रयं तथ्यं यथाक्रमं विविच्यते-शब्दार्थयोर्मध्ये यस्मिन् सति ये दोषगुणालंकारा सन्ति, असति न च सन्ति, ते तदधीनस्वरूपतया तदीया इति सिद्धान्तः। तच्छब्दसत्वे योऽलंकारः स्यात् तच्छब्दाभावे च न स्यात् स एव शब्दा-लंकारः। तच्छब्दपरिवर्तनेऽपि तदर्थकशब्दान्तरे समागतेयोऽलंकार प्रतीयते सोऽर्था-लंकार इति साधीयान् पक्षः। अर्थात् पर्यायपरिवृत्तसहत्वासहत्वमेवालंकाराणां

शब्दार्थगतत्वव्यवस्थापक्रम् । यथा—कष्टत्वश्रुतिकटुत्वादयो दोषाः ओजोगाढ़त्वादयश्च-गुणाः अनुप्रासदयश्चालंकारास्तच्छब्दे सति भवन्ति, असति च नेति शब्दगता एवोच्यन्ते इमे । यथा च अपुष्टत्यादयो दोषाः प्रौढ्यादयो गुणाः उपमादयश्चालंकारास्तास्मिन्नर्थे च सति भवन्ति, असत्यर्थे तस्मिश्च नेति अर्थगता उच्यन्ते इमे । एवमेव 'पृथुकार्तस्वरपात्रम्' योऽमक्रत्परगोत्राणामिति सभङ्गाभङ्गश्लेषयोः तत्तच्छब्दसत्त्वे एव श्लेषप्रतीतिरिति स्थलद्वयेऽपि शब्दश्लेष एव न तु अभङ्गस्थलेऽर्थश्लेष इति भवितव्यम् । न चान्वयव्यतिरेकवत् शब्दभेदाभेदाभ्यामनि श्लेषस्य शब्दार्थगतत्वं व्यवस्थाप्यताम् । यत्र तु जतुकाष्ठन्यायेन शब्दद्वयं तत्र शब्दश्लेषः । यत्र च एकवृन्तगतफलद्वयन्यायस्तत्र शब्दाभिन्नतया अर्थश्लेष इति वाच्यम् ? अर्थभेदेन शब्दभेद इति नियमस्य जागरूकत्वेन 'योऽसकृत्परगोत्राणामित्यत्रशब्दाभेदस्य वक्तुमशक्यत्वात्' । न च 'एकयोक्त्या पुष्पवन्तौ दिवाकरनिशाकरौ' इति प्रामाण्येन अर्थभेदेऽपि न शब्दभेद इत्यभंगश्लेषोऽर्थालंकार एवेति वाच्यम् ? अभङ्गो भवेत् सभङ्गो वा उभयत्रापि शब्दस्यैव प्राधान्यादर्थद्वय प्रतीयते अतः कविप्रतिभयोट्टङ्कित्वेन वैचित्र्यबोधोपायत्वेन चोभावपि शब्दालंकारावेवेति वक्तुं निर्बाधत्वात् ।

अभङ्गश्लेषस्थले निरर्थकवर्णप्रयोगात् केवलमर्थानुसन्धानसापेक्षत्वमस्ति, न तथा सभङ्गस्थले इति अननैव भेदेनाभङ्गश्लेषोऽर्थालंकार इति कथनमप्यसाम्प्रतम् । तथा सति रसपरत्वेनार्थमुखप्रेक्षितयाऽनुप्रासस्याप्यर्थालंकारत्वापत्ते ।

न चैवम्—अर्थश्लेषो निर्विषय एव स्यायदित्युच्यते—यत्र शब्दपरिवर्तनेऽपि अर्थद्वयप्रतीतिर्जायिते तत्रैवार्थश्लेषः । यथा -- 'स्तोकेनोन्नतिमायाति' इत्यत्र यदि अल्पेनोन्नतिमायाति इत्युच्चयते तावताप्यर्थद्वयं प्रतीयत एवेति एतादृशस्थले एवार्थश्लेषो न तु अभङ्गस्थले इति विचक्षणाः ।

यदप्युच्यते—'अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः ।' इति समासोक्तौ, पर्यायोक्ते अप्रस्तुतप्रशंसायां च द्वितीयार्थप्रतीतिर्जायिते । सा च प्रतीतिर्व्यञ्जनया जायते । श्लेषे चार्थद्वयस्य प्रतीतिरभिधयैव जायत इति उक्तेष्वलंकारस्थलेषु श्लेषस्याप्रसंगः प्राप्नोति । एवमेव—

"विद्वन्मानमहंसवैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते ।"

इत्यादि पद्ये विदुषां चित्ते हंसस्य संचरणासंभवात् हंसेन सह मानसस्य सम्बन्धोपपत्तये चित्ते सरोवराद्यारोप आवश्यकः । अयमारोप एव रूपकम् । अत्रैव वाक्यार्थस्य विश्रान्तिरर्पीतिश्लेषस्यात्र मनोमानसयो केवलं प्रतीतिं कृत्वा प्रतिभासमात्रम् । श्लेषे उभयार्थस्य समानरूपेण वाच्यत्वमभिप्रेतमत्र तु एकस्यैव प्राधान्यमित्यत्रापि श्लेषस्य न प्राप्तिः । एवं चैतादृशस्थलेषु श्लेषस्यान्यालंकारैर्बाध्यत्वेऽपि 'येन ध्वमस्तमनोभावेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतः' इत्यत्र तुल्ययोगितायां 'प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरेकत्र सम्बन्धरूपे दीपके' तथा 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति चन्द्रबिम्बमिव ।' इत्यादौ श्लेषेणोपर्युक्ता अलंकारा बाध्यन्ते । तेषां हि अन्यत्र चरितार्थत्वमस्ति, श्लेषस्य चैतद्विषयपरिहारेणासंभवाद् वैयर्थ्यापाताञ्च । अत्रोच्यते

श्लेषस्यालंकारान्तरविविक्तविषयत्वमिति बाध्यबाधकभावस्यात्र वक्तुमशक्यत्वम् । 'येनध्वस्तमनोभवनेत्यादौ शिवविष्णुरूपयोरुभयोरप्यर्थयोःवाच्यत्वेनात्र तुल्ययोगितायाः प्राप्त्यभाव श्लेषस्य चात्र चारितार्थ्यं स्पष्टमेव' । किञ्च-तुल्ययोगितायामनेकधार्मिणामनेकधर्मसम्बन्धो नियत. । येन ध्वस्तेति पद्ये तु विभिन्नधर्मिणो विभिन्नधर्मेऽन्वयेन च तुल्ययोगितायाश्चात्र प्राप्तिरेव नेति निर्बाधमत्र चरितार्थस्य नालंकारान्तरप्रतिभासमात्रापादकत्वम् ।

इदमत्र विचार्यते—'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव ।' इत्यत्र तथा--'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्' इत्यत्र च कोऽलंकारः ? अत्र केचित् सकलकलमित्यत्र शब्दपरिवृत्त्यसहत्वात् शब्दश्लेष । उत्तरत्र तु कमलमिव मुखं मनोरममित्युपात्तेऽपि-पि उभयत्राप्यन्वयस्य संभवादर्थश्लेष । अर्थश्लेषेएव गुणक्रिययोः साम्यं भवितुमर्हति इति अत्रोपमायाः प्राप्तिः ।

सकलकलमित्यत्र तु केवलं शब्दसाम्यमादायैव प्राप्तोपमेति वास्तविकसाम्यस्थले अर्थश्लेष एवोपमा न तु शब्दसाम्येऽपीति 'सकलकलमित्यत्रोपमाप्रतिभासहेतुः श्लेषः' इति वदन्ति । परं नैतद् युक्तं यतो हि—गुणक्रिययोः साम्यमेव उपमा प्रयोजकं भवति इत्यत्र मानाभावः । अन्यथा 'विद्वन्मानसहंस' इत्यत्रोपानसरोवरस्योपमेयचित्तेन सहाभेद प्रतीतौ राजनि जायमानं हंसत्वारोपरूपं परम्परितरूपकमपि न स्यात् ।

वस्तुतस्तु साधर्म्यमात्रमेवोपमाप्रयोजकम् । 'येनध्वस्तमनोभवेन' इत्यादि पद्ये देवत्वमेव देवत्वमेव पातालमित्यादि पद्ये च द्वयोरप्यर्थयोर्वाच्यत्वेन श्लेषः सावकाश इति नासौ कस्याप्यलंकारस्य बाधकः । यत्र तु श्लेषोपमयोरेकत्र संस्थितिस्तत्र संकरालकार एवेत्यलम् ।

30

शब्दार्थोभयरूपकाव्यम् ।

अथवा

निर्दुष्टं काव्यलक्षणम् ।   (1986)

अथवा

रामायणं नाम परं तु काव्यम् ।   (1985)

असारमिदं जगत् प्रतिपदमायासयति प्राणिनः दर्शयति अनिष्टम्, जनयति चोद्वेगमित्याकलय्य महीयांसः कवयो लोकोत्तरानन्दसन्देहजनकतया चतुर्वर्गफलप्राप्तये काव्यात्मिकां सारस्वतीं सृष्टिमरीरचन् । अत एव प्रभुसम्मितवेदादिशास्त्रेभ्यः सखिसम्मितपुराणेतिहासभ्येश्च विलक्षणा सत्कविभणितिः मधुरमभिदधती मञ्जुभाषिणी कामिनीव प्रवणयति मानवमनांसि शुभैकनिदानेष्वभ्युपायेषु । अत एवोक्तम्—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामति ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ।।

काव्यं नाम कवेः कर्म । कविश्च कान्तद्रष्टा भवति । स हि न केवलं संकुचितं परिमितं वा अर्थजातं पश्यति, न वा केवलो मनुष्योऽहमिति कृत्वा मानवीयान् भावान् एव साक्षात्करोति, अपि तु तस्यकृते विश्वेषां निर्मुक्ता विस्तृता च स्थली वर्तते । स सरित्प्रवाहे मधुरं गानं शृणोति क्वचिच्च आकर्णयति वयसां विरावे वनदेवतानां सन्देशम्, प्रकाशयति चापरत्र प्राच्यां चन्द्रोदये वनितासुखसम्भोगम्, ख्यापयति चान्यत्र नायिकामुखकमलमकलंकचन्द्रमसा तुल्यम् । दैशिककालिकपरिधयस्तं परिवेष्टुं समर्थाः न भवन्ति । स कालातीतां रचयति देशातीतां दर्शयति, परोक्षं प्रत्यक्षयति, भूतं भावयति, जडं चेतनयति, ब्रह्मणमपि विरचय्यापूर्वमपारं काव्यसंसारम् । एतत् सर्वं विमृश्यैव मम्मटाचार्यः काव्यप्रकाशे ब्रह्मणः सृष्टेरपेक्षया काव्यसृष्टेर्महनीयतामुदचीचरत् । ब्रह्मणः सृष्टिः षड्रसांपेता क्वचित् हृद्यापि भवति क्वचिदायासकरी, न चेयं कविसृष्टिस्तया ।

इयं हि नवरसोपेता सर्वदा सर्वान् ह्लादयति, नैराश्यनीहारं निरस्यति, उत्साहं समेधयति, लौकिकं जनं सुखयति, सहृदयं चमत्करोति मुमुक्षं मोचयति, अलमनल्पजल्पनया कविभारतीयमघटितमति घटयन्ति निखिलं प्रसाधयति ।

यद्यपि निखिलं जगत् विम्बरूपतया काव्यक्षेत्रं तथापि विश्वस्य निखिलं वस्तु न भवति काव्योपादानम् । काव्यगुम्फने तु तादृशस्योपादानस्यावश्यकता वर्तते यत् क्षोदीयसीं भावनां परिसमाध्य समुत्थाप्य च क्षुद्रधरातलात् जीवनतलं ज्ञानस्य सौन्दर्यस्य च नभस्तलमारोहयेत् । प्रदर्शयेच्च सत्यं शिवं सुन्दरमित्यस्य दिव्यं पन्थानम् । शिवतत्त्वमेव काव्यस्य परोपनिषद् ।

कविः विश्वेषां जनानां प्रतिनिधिः, तस्यविचाराः भवन्ति समेषां विचाराः । अत एव कवेरनुभूतिलेलितपदकदम्बकरूपमाकलय्य, स्वानुभूतिरिव सहृदयहृदयं प्रविश्य, आनन्दयति, रमयति, मदयति, मोह्यति च यथावसरम् । अत एवोक्तमभियुक्तैः—

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु,
निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति,
परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ।।

लोकोत्तरवर्णनानिपुणः कविः रसैकतानपरायणः विशिष्टामेव रचनां रचयति । तत्र न रागस्य स्थानम्, न वा द्वेषस्योज्जम्मणम्, न च कलहस्य वावकाशः । अत एव तदीया रचना जीवन्तीभूयसे कालायसुस्थिरेवावतिष्ठते । शारीरिकबुभुक्षादिशमनायान्नाद्याहारस्येव मानसिकश्रमापकरणपुरःसरम् अपूर्वमानन्दमुत्पादयितुमेव सारस्वतसृष्टेरवतारः । तत्रापि यदि रागद्वेषकलहादयः समुज्जृम्भेरन् तर्हि को नाम भेदस्तस्य प्रायःजनेभ्यो विलक्षणरचनापरायणस्य कवेः ? अत एवेदानीं वर्षाकालिकमण्डूका

इव प्रत्यहं निर्मीयमानान्यपि भूयांसि काव्यानि रागद्वेषपारस्परिकेर्ष्याज्वरग्रस्तानि नाववलोक्यन्ते विदग्धैः, अपितु उपहस्यन्ते सर्वैः, विलीयन्ते चाचिरादेव ।

यदप्युच्यते—कालिदासीयादिकाव्येषु वर्णितं केवलं विलासमयं जीवनं, दर्शितः यौवनस्योद्दामो विलासः, उपदर्शितः क्वचित् वासन्तिकमदमत्तकषायकलकंठीकलरवः, क्वचिच्च तारतरमुच्चरतां वयसां विरावः, अपरत्र मायूरः केकारवः । परञ्च न खलु विचित्रं क्वचिदपि शैत्यवशात् कटकटायमानदन्तानां हीनानां दीनानाञ्च इतिवृत्तमपि । सेयं प्राचीनकाव्येषु असह्या न्यूनता शिरः शूलायते ।

परमेतत् सर्वमविचारितरमणीयम्—यतो हि—इदानीन्तनविषयपरिस्थितिपरिकान्तानां पित्तोपहतचक्षुषां तदानीन्तने स्वर्णयुगेऽपि दीनतायाः दरिद्रतायाश्च दिदृक्षाया ईर्ष्यामूलकत्वेनोपेक्ष्यमाणत्वात् । यदि स्यादपि कथञ्चिदणुमात्रं क्वचित् तादृशमनभीष्टं तथ्यं तदानीं तदा गुणसन्निपाते निमज्जमानस्य स्वल्पदोषस्येवोपेक्षणीयमेव तन्महाकवीनाम् ।

किञ्च काव्यं सप्रयोजनं साधयितुकामेन प्रवृत्तिमता कविना ऐतिहासिकं चित्रणं न खल्वभीष्टाय कल्पते । तथा चित्रणपरायणे तु तस्यात्मपदवाच्यत्वमपि न सिद्ध्येत् । 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' इत्यादि श्रुत्या आनन्दस्य ब्रह्मरूपतया सच्चिदानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणः आनन्दांशस्यैव विवर्तमिदं जगदिति कृत्वा तदुद्बोधनायैव महाकवेः प्रवृत्तिः एतदेव नूनं सत्य चित्स्वरूपममृतञ्च स्वीयया समुज्ज्वलया प्रभया देदीप्यमानमपि अज्ञानावरणेनाच्छन्नमुद्बोधकाभावात् तिरोहितं सदपेक्षते चिद्गतावरणभंगं, तदाकाराकारितामन्तःकरणवृत्तिं वा । अत एव समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः पुनः पुनरनुसन्धानात्मिकतया भावनया अलौकिकत्वमुपगतैः विभावादिभिः सम्भूय प्राद‍ुर्भावितेन व्यञ्जनाव्यापारेणापाकृते आनन्दांशावरणे अज्ञाने भग्नावरणचिद्विशिष्टः स्थायी विगलितवेद्यान्तरसम्पर्कः सन् उपभुज्यतेकैश्चित्पुण्यवद्भिः । तदुक्तम्—

पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगविद् रससन्ततिम् ।

अयमेव च काव्यस्य मेरुदण्डः । एवमापादयतः काव्यस्य भवति हृद्यता, उपादेयता, सार्वजनीनता चेति मनाक् मुकुलितलोचनैर्विभावनीयम् ।

लोकोत्तरवर्णनानिपुणकवेः कर्मकाव्यम्, इति स्थिते काव्यत्वं शब्दपर्याप्तं, अर्थपर्याप्तं, तदुभयपर्याप्तं वेति भवति विचिकित्सा । वर्णनञ्च भवितुमर्हति अर्थस्य । न चार्थः कवेः कर्म । न हि केनापि कविना कोऽप्यर्थः समुत्पाद्यते । अतः कविकर्मता केवलं शब्दनिष्ठैव । सा चेयं कविकर्मता केवलं गुम्फनामिल्कैव न तु उत्पाद्यस्वरूपा, शब्दानां नित्यत्वेन कव्युत्पाद्यतायास्तत्र वक्तुमशक्यत्वात् । अत एवं काव्यं लक्षयति अग्निपुराणे—

"संक्षेपात् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।"

इति प्राथमिकं काव्यलक्षणमुपलभ्यते । पदावली च शब्दासमूहात्मिकेति तत्र कविकर्मता वक्तुं सुशका । अयमेव शब्दपर्याप्तकाव्यतावादः आचार्यदण्डिनाऽपि स्वीकृतः । तेनोक्तम्—

"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।"

अत्र च काव्यलक्षणद्वये निभालितं केवलं काव्यस्य बाह्याङ्गतत्त्वं दोषगुणालंकारादिकं न च मनागपि स्पृष्टं काव्यस्य जीवनाधायकं तत्त्वम् । अत स्थूलदृशाविचारमपहाय शब्दनिष्ठकाव्यतावादी दर्पणकारो विश्वनाथः सूक्ष्मेक्षिकया ध्वनिकारादिभिः निर्धारिते वस्त्वलंकाररसरूपे विविधे ध्वनौ काव्यात्मतत्त्वे तन्मध्यतः रसध्वनिमेव काव्यात्मत्वेनाङ्गीकृत्य—"वाक्यं रसात्मकं काव्यमिति लक्षणयाञ्चकार ।" परन्तु विश्वनाथस्य शब्दमात्रे काव्यता स्वीकरणं पुनः तदीयया "काव्यं द्विविधं दृश्यं-श्रव्यञ्चेति" स्वकीयोक्त्या एव विप्रतिसिद्धमिति चिन्तनीयमेवास्ते ।

शब्दमात्रकाव्यतावादिषु पण्डितराजजगन्नाथस्य प्रमुखं स्थानम् । अनेन हि महता संरम्भेण साधितः शब्दकाव्यतावादः । तथा हि यदि काव्यत्वं शब्दार्थयोः व्यासक्तं स्यात् तदा अवयवस्थ समुदायातिरिक्तत्वेन प्रत्येकवृत्तिधर्मावच्छिन्नानुपयोगिताकसमुदायत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदस्याङ्गीकर्तव्यतया 'घटो न घटपटौ' इति यथा व्यवहारः तथैव श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारोऽप्यापद्येत काव्यत्वस्य श्लोकवाक्यात्मकशब्दमात्रे पर्याप्तेरभावेन श्लोकत्वावच्छिन्नानुयोगिताक—शब्दार्थोभयत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदस्य सुस्पष्टं वक्तव्यतया तथा वक्तुं शक्यत्वात् । यदि च काव्यं शब्दमात्रपर्याप्त स्वीक्रियते तदा "श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारो नैवजायते ।" यतो हि तथा सति अनुयोगितावच्छैकञ्चैक शब्दत्वमेवेति 'घटो न घटः' इति व्यवहारो यथा न भवति तथैवोपर्युक्तो व्यवहारोऽप्यशक्य एव ।

अत्रब्रूमः—यथाशब्द कविकर्म तथा अर्थोऽपि कविकर्म वर्तत एव । स्वतः सम्भविनोऽर्थाः कविसमवेतरसबोधोपयिकसामग्रीविषयक ज्ञानकर्मत्वाक्रान्ताः सन्ति एव । आह्लादोत्पादकमर्थं मनसि पूर्वं निश्चित्यैव काव्यकरणे जायते प्रवृतिः महाकवीनाम् । एतदरिक्तं भवन्ति केचन तादृशाः अर्थाः ये न खलु लोकप्रसिद्धिमुपगतास्तथापि कविकल्पनाप्रसूताः विच्छित्तिविशेषजनकाः कविप्रौढोक्तिसिद्धपदेन व्यवह्रियन्ते । एवञ्चार्थेष्वपि कविकर्मता स्पष्टमेव प्रतिभाति ।

तस्मात् कविकर्मत्वेन शब्दार्थयोः उभयोः काव्यत्वे न काचित् विप्रतिपत्तिः । अत एव 'काव्य श्रुतम्', 'काव्यं पठितम्' इत्यादिव्यवहारवत् 'काव्यं बुद्धमिति' अर्थस्य काव्यत्वविषयकोऽपि व्यवहारो दृश्यते लोके । न च काव्यत्वस्योभयपर्याप्तत्वे श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारापत्तिस्तदवस्थैवेति वाच्यम् ? काव्यत्वस्योभयनिष्ठत्वेऽपि लक्षणाया अन्यतरस्मिन् अपि काव्यपदप्रयोगस्य कर्तुं शक्यतया तादृशापत्तेर्वारणात् । अत एव वेदत्वस्य शब्दार्थोभयनिष्ठत्वेऽपि 'ऋचः पठति' इति शब्दमात्रे भाक्तः प्रयोगः संगच्छते ।

वस्तुतस्तु शब्दमन्तरा अर्थस्य अर्थमन्तरा शब्दस्य चावस्थानाभावेन तयोस्तादात्म्यं वर्तते। तादात्म्यञ्च तद्भिन्नत्वेऽपि तद्भेदेन प्रतीयमानत्वम्। अत एव अर्थे शब्दधर्मत्वव्यवहारो जायते यत् "पदं श्रुतम् अर्थार्थं शृणु" अत्र अर्थे श्रावणप्रत्यक्षविषयत्वरूपः शब्दधर्मः प्रयुक्तो वर्तते। एवञ्च शब्दार्थयोरुभयोः काव्यत्वस्वीकारे न प्रतिभाति कश्चन प्रत्यवायः। पण्डितराजेन शब्दमात्रे काव्यतां स्वीकुर्वताऽपि तत्र रमणीयार्थस्य सत्ता स्वीकृतैव। यदि तदभिमते शब्दात्मके काव्ये रमणीयार्थप्रतिपादकता न स्यात् तदा तस्य काव्यत्वमेव व्याहतं स्यात्। अतः काव्यत्वमुभयपर्याप्तमेव।

शब्दार्थयोः काव्यत्वस्वीकारादेव अर्थदोषगुणालंकाराणाम् अर्थमूलशक्तिमूलकध्वनीनाञ्च निरूपणं संगतं भवति। शब्दमात्रस्य काव्यत्वे तु तद्गतानामेव दोषगुणालंकाराणां विवेचनस्यौचित्येन भूयसामर्थगतानां दोषगुणादीनां विवेचनस्योन्मत्तप्रलापत्वापत्तिः स्यात्। अतः रसप्रतीतिविधायक दोषरहितौ माधुर्यादिगुणसम्पृक्तौ सालंकारौ क्वचिन्निरलंकारावपि शब्दार्थौ काव्यम्। तस्य जीवातुभूत तत्त्वं ध्वनिः। स च यद्यपि वस्त्वलंकाररसरूपस्त्रिविधः, तथापि वस्त्वलंकारयोः वाच्यसहिष्णुव्यंग्येऽपि रसरूपो ध्वनिः सर्वथा वाच्यातिसहिष्णुरिति तस्यैव प्रामुख्यं विलसति काव्यक्षेत्रे। अत एवोक्तम्—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमासे द्रुमा इव॥

तस्य च व्यञ्जकता क्वचित् शब्दे क्वचिच्चार्थेऽवतिष्ठते। यत्र शब्दस्य व्यञ्जकता तत्रार्थस्य सहकारिता, यत्र चार्थस्य व्यञ्जकता शब्दस्य सहकारिता भवति। एवं रीत्या रसप्रधानं काव्यमेवात्रोपादेयम्। तदेव च कृत्ये प्रवर्तयति, निवर्तयति चाशुभात्, प्रेरयति विश्वमानसं प्रेयसि, दर्शयसि च श्रेयः। अतस्तदेव साध्यं, साधितं वा स्यात् यथा तथा यतनीयम्।

31
उपमा कालिदासस्य।

कस्यचित् समीक्षकस्येयमुक्तिः प्रसरति लोके पुष्पेषु जातिः, नगरीषु काञ्ची, काव्येषु माघः, कवि कालिदासः। अस्या अयमाशयः यत् पुष्पेषु मध्ये जातिपुष्पं मसृणताकोमलतामनोमोहकतालोकोत्तरसुरभिताप्रभृतिभिर्गुणैः निखिलपुष्पातिशायि। एवमेव सप्तपुरीषु मध्ये काञ्चीपुरी अनुत्तमा। काव्येषु माघकविकृतं शिशुपालवधाख्यं काव्यं सर्वश्रेष्ठम्। कविषु कालिदासः अखिलेतरकविमूर्धन्यः। अस्या उक्तेः प्रतिपदविवेचनं परित्यज्य 'कविकालिदासः' इत्यत्र किञ्चिदुच्यते—

कविर्हि नाम यः काव्यं करोति।

काव्यं च चमत्कारसारं भवति । अत एवोक्तं त्रिविक्रमभट्टेन—

किं कवेस्तेन काव्येन किं काण्डेन धनुष्यतः ।
परस्य हृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः ॥

स चायं चमत्कारः कविकल्पनारञ्जितया वाग्मितया सम्पाद्यते सहृदयहृदयाह्लादकरः । वाग्मिता हि नाम मितस्य सारिष्ठस्य च वचसः प्रयोगः । तदुक्तं कवितार्तिकचक्रवर्तिना श्रीहर्षेण नैषधे 'मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता' । कल्पनाकुशलः कविः स्ववाग्मितया वर्ण्यस्य लोकोत्तरं मनमोहकं मूर्तरूपमुपस्थापयति । अस्माकं कविकुलकुमुदकलाधरः श्रीकालीदासः अत्र प्रथमः ।

प्रस्वापनास्त्रप्रयोगेण निद्राविद्रावितचैतन्यान् सैनिकान् वर्णयन् कविः कथयति—

ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
तस्थौ ध्वजस्तम्भविषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥

अत्र हि निद्राविधेयिनां सैनिकानां कल्पनाकल्माषीकृतं तादृशं मनोरञ्जकं रूपमुपस्थापित कविना येन सहृदयास्तुष्यन्ति प्रशंसन्ति च कविकौशलम् । यथा च—

स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं,
नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं,
प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥

अत्र हि शिवं लक्ष्यीकृत्य स्थितस्यात्मयोनेः कल्पनाकौशलसंसृष्टं मनोरमं मूर्तं रूपमुपस्थापितं कविना ।

अत्रोभयत्रापि पद्यपठनतदर्थानुशीलनसमकालमेव वर्ण्यं मूर्तरूपेणोपष्ठिते उद्भावयति च हृदये परमानन्दसन्दोहं यत् काव्यप्रयोजनेषु प्रधानतमम्, तदुक्तं मम्मटभट्टैः काव्यप्रकाशे 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये सद्यः परनिर्वृतये ।

कविर्हि अलंकारलङ्कर्मीणो भवति । अलङ्काराणां सुप्रयोगं कृत्वा काव्यसौन्दर्यस्याभिवृद्धिं करोति । अलङ्काराश्चैते द्विविधाः शाब्दा आर्थाश्च । तत्रास्माकं कविः शब्दालङ्कारेषु अनुप्रासप्रियः । उचितं चैतत् यतो रसाद्यनुकूलः प्रकृष्टो वर्णानां न्यासो ह्यनुप्रासः कविश्चायं रसकविः । अनुप्रासभासा विभूषिता धीरगम्भीरगत्या प्रसरन्ती सरस्वती श्रवणसुभगा सती चेतोहरा भवति । यथा—

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी,
वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गा-
दुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः ॥

अर्थालङ्कारेषु उपमा प्रमुखा । सा हि प्रभूतालङ्कारमूलभूता । कविश्चायमुपमायां सिद्धहस्तस्तत एवेयं प्रसिद्धिः 'उपमा कालिदासस्य' । कवेर्हि उपमा रमणीयाः समञ्जसा अर्थाभिव्यक्तिक्षमाश्च भवन्ति । अतएवायं कविरुपमायां सर्वानन्यान् कवीन्

अतिशेते । तत्र सामञ्जस्यं नाम औचित्यम्, तच्चोपमानोपमेययोरुपमानयोश्चापेक्ष्यते । तत एवार्थाभिव्यक्तिक्षमा भवत्युपमा ।

मेघे विरहानलसन्तप्तां यक्षपत्नीं वर्णयन् कविः कथयति—

गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां ।
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ।।

अत्र कविना सुललिताङ्गी रूपयौवनसम्पन्ना विरहानलोन्मथिता यक्षपत्नी तादृश्या ललितया सुकोमलया रूपयौवनसम्पन्नया शिशिरोन्मथितया पद्मिन्या उपमिता इत्यन्तं सामञ्जस्यमत्रोपमानोपमेययोः प्रतिभाति । तेन चोपमानुशीलनसमकालमेव विरहानलसन्तप्ता क्लान्तचित्ता शीर्णमूर्तिः प्रशिथिलशरीरा सुन्दरी नेत्रयोः पुर उपतिष्ठते । अत्र चानयोपमया विरहिण्यालालित्यं कोमलत्वं विरहितापस्योग्रता तत्सहनाक्षमताप्रभृतयोऽर्था अभिव्यक्ता भवन्ति । यथा च—

साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि ।
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः ।।

अयमाशयः यदादौ तावन्मत्कुशलसन्देशैः मत्पत्नीं समाश्वास्य तदनुतत्प्रहिताभिज्ञानेन सन्देशेन च ममापि प्रातःकुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः । अत्र हि उपमानोपमेययोर्मधुरं सामञ्जस्यं काव्ये सौन्दर्यमावहन् विरहध्वस्तजीवनस्यास्थिरतां सन्देशस्याभिज्ञानस्य च तत्स्थिरतापादने परमोपयोगितां चाभिव्यनक्ति । यथा च—

ऋषिकुमाराभ्यां गौतम्या च सह शकुन्तला राजसभायां राज्ञो दुष्यन्तस्य पुर उपस्थिता । तां दृष्टवा शापव्यवहितमतिर्नृपतिश्चिन्तयति—

केयमवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्ये तपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ।।

अत्र हि कविना तापसैः परिवृता शकुन्तला पाण्डुपत्रैर्वृतेन नवपल्लवेनोपमिता । एवं चोपमानोपमेययो रमणीयं सामञ्जस्यं प्रतिपादितं भवति । अपि चानेनोपमानेन तापसानां शरीरस्य मानसस्य च रुक्षता, शकुन्तलाया यौवनजनितरूपलावण्योत्कर्षस्याकर्षकता चाभिव्यक्ता भवति ।

उपमानस्योपमाप्रदातुश्च सामञ्जस्यम् ।

अस्यायमाशयः यदुपमात्रा प्रदत्तया उपमया देशकालानुरूपया उपमातुः स्तरानुरूपया च भाव्यम् । तत्र देशकालानुरूपतायाम्—

सन्तानकामनया राजा दिलीपः गुरोर्वसिष्ठस्याश्रमं प्राप । अथ च सायन्तनस्य विधेरन्ते तौ ददर्श । अत्र कविः कथयति—

विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ।।

अत्र हविर्भुक् (यज्ञाग्निः) स्वाहा चोपमानौ सर्वथा उपमेययोरनुरूपौ देशकालानुरूपौ च । अनया चोपमया गुरोः गुरुपत्न्याश्च पावनत्वं समादरणीयत्वमव्यवहितसहचारित्वं प्रसादे सत्यभीष्टफलप्रदत्वं चाभिव्यक्तं भवति ।

यथा च—

पितुराज्ञां विना दुष्यन्तेन सह विवाहसम्बन्धं कृतवतीम्, अत एव भीतां लज्जितां त्रस्तां शकुन्तलामाश्वासयन् महर्षिः कण्वः कथयति "वत्से ! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता" (शाकु० अ० 4)। अत्रोपमा सर्वथा आश्रमवातावरणानुरूपा यतः कुलपतेराश्रमे विद्यादानं भवत्येव।

उपमातुरनुरूपतायाम्—

विदुषकः स्वबुभुक्षातीव्रतां द्योतयन् कथयति "दृढं विपणिकन्दुरिव मे उदराभ्यन्तरं दह्यते।" इयमुपमा सर्वथा वक्तुः स्तरानुरूपा। अनया च बुभुक्षाया विषमताभिव्यज्यते। यथा च—

समुद्रगृहद्वारदेशे स्थितं निद्रायमाणं विदुषकं दृष्ट्वा चेटी कथयति "भट्टिनि एष द्वारदेशे समुद्रगृहस्य विपणिगतं इव बलीवर्दः आर्यगौत्तमः आसीन एव निद्रायते।

अत्र दास्या समुद्रगृहद्वारदेशे स्थितः निद्रायमाणः विदुषकः विपणिगतेन निद्रायमाणेन बलीवर्देनोपमितः। एतच्च उपमा प्रदातुः उपमेयस्य स्तरानुरूपम्।"

अन्ते च अनुपमकविकौशलप्रदर्शनमेकमुदाहरणं समुपस्थाप्यते। स्वयंवरसभायामुपस्थिना इन्दुमती क्रमशः एकैकं राजानमवलोकयन्ती तत्परिचयं प्राप्य तमनभीप्सन्ती अग्रे प्रसर्पति। एतामवस्थां वर्णयन् कविः कथयति—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ,
यं यं व्यतीयाय पतिम्वरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे,
विवर्ण भावं स स भूमिपालः॥

अत्र कविना रूपयौवनसम्पन्ना तरुणी इन्दुमती दीपशिखया उपमिता। तया अस्वीकृता अत एव परिखिन्नमानसा विवर्णभावमापन्ना राजानश्च तमसाक्रान्ते राजमार्गस्थितैर्हर्म्यैस्तुलितः। अत्रोपमानोपमेययो सादृश्यं यद्यपि श्लिष्टं तथापि न क्लिष्टं नाप्यस्पष्टम्। दीपशिखोपमया च इन्दुमतया यौवनगतरूपलावण्यस्योद्दीपकता तदप्राप्तौ विषादस्यभिव्यक्तिश्च कृता।

काव्यमर्मज्ञाः सहृदया अनयोपमया अत्यन्तं प्रभाविताः कविं दीपशिखोपाधिना पुरस्कृत्य तं 'दीपशिखाकालिदास' इति व्यवजहुः।

एतावता निबन्धेन इदमतीव स्पष्टं यत् कविः कालिदासः वस्तुतः 'कविकुलकुमुदकलाधरः' तथा तस्य विषये प्रचलितैषा सूक्तिः नूनं सत्यम्—

"उपमा कालीदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।"

32
कालिदासस्य प्राकृतिकसौन्दर्यम् ।

महाकवयः स्वेषां सुमधुरकमनीयकल्पनैः विविधप्रकृतिसौन्दर्यदृश्यानि वर्णयन्तः तत्सहजसौन्दर्यसर्वस्यसंप्रकाशनपूर्वकं पाठकानां मनांसि आनन्दाऽद्भुतरसेषु निमज्जयंतीति विदितचर एवायं विषय विज्ञानाम् । एतादृशकविषु मध्ये कालिदासकवीन्द्रः आद्य इत्यत्र तस्य प्रकृतिवर्णनान्येव परमोदाहरणानि भविष्यन्ति ।

प्रस्तुते एतत्कवेः प्रकृतिवर्णनवैशद्यं, एतद्वैशद्यमनु अनुपदं झटिति भासमानं एतस्य प्रकृतिसहजीवनविधानञ्चात्र संग्रहेण संदर्शयितुकामः ।

स्थाण्वाऽश्रमप्रकृतौ व काण्डे वसन्तर्तु विजृम्भणं वर्णयन् एष कवीन्द्रः स्वकुमारसम्भवे—

लग्नद्विरेफांऽजनभक्तिचित्रम्,
मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य ।
रागेण बालाऽरुणकोमलेन,
चूतप्रवालोष्ठमलंकारः ।। सर्गः 3–70 ।।

अत्र वसन्तलक्ष्मीः (वसन्तशोभा) वासंताऽभरणैः स्वशरीरमलंकुर्वाणा विश्वसम्मोहनं यथा विलसति, एवमेव कालिदासकाव्यलक्ष्मीरपि मनोहरैः प्राकृतिकाऽलंकरणैरेव स्वकाव्यशरीरमलकुर्वती साक्षान्महालक्ष्मीरिव भुवनमोहनं यथा अत्र भासते । भासयति चात्र पाठकान्तरङ्गाणि । एतादृशी सहजशोभा कस्य वा सचेतनस्य मनोनेत्रोत्सवं न विदधाति ? कस्य वा मानसं अद्भुतरसे न निमज्जयति ?

अत्र कालिदासकाव्यपात्राणां प्रकृतिशोभालक्ष्म्या साकं अभेदो वर्णितप्राय आसीत् । अतोऽत्र एवं ध्वन्यते यत् मानवशरीरस्य केवलप्राकृतिकसुन्दरवस्त्वलंकरणमेव सहजाऽद्भुताऽलङ्करणमिति, स्वर्णाद्याभरणधारणं न तथा शोभाऽवहमिति च । एवमेव—

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावात्,
बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां,
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ।। कुमार० ।।

कुल्यांऽबोभिः पवनचपलैश्शाखिनो धौतमूलाः,
भिन्नो रागः किसलयरुचामाज्यधूमोद्गमेन ।
एते चाऽर्वागुपवनभुवि छिन्नदर्भाङ्कुरायां,
नष्टाशंका हरिणशिशवो मंदमंदं चरन्ति ।। शाकु० ।।

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकायाः,
निष्कंपचामरशिखा निभृतोर्ध्वकर्णाः ।

आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलंघनीया:,
धावन्त्यमी मृगजवाऽक्षमयेव रथ्या ।। शाकु० अंक 1 ।।

अत्र स्थावरप्रकृति चित्रणमिव जगमप्रकृतिचित्रणं च कालिदासीयं आनन्द-विस्मयौ समं सञ्जनयन्त्येव । उत्तमचित्रकारस्यापि एतादृशप्रकृतिचित्रणैं पुण्यं दुर्लभमिति वक्तव्यम् । पवित्राऽज्यधूमादय: अत्र प्रकृतिसौन्दर्यदोषका: । किञ्च चराचर-प्रकृतौ आत्मीयप्रकृताविव सहानुभूत्यादिभि: प्रकृतिसहजीवनं कालिदासीयपात्राणां सहजसिद्धमिति, प्रियतरमिति च वक्ष्यमाणै: श्लोकै: स्पष्ट ज्ञायत एव । वसिष्ठाऽश्रमं प्रतिगन्तारौ दिलीपदम्पती—

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनि: श्वासाऽनुकारिणम् ।।
(रघु० प्रथमसर्ग:)

अत्र अरविन्दाऽमोदस्य दिलीपदम्पत्यो: नि:श्वासाऽनुकारित्ववर्णनेन, स आमोद: तयो: स्वनि:श्वासवायुरिव आत्मीय:, प्रियतमश्च संवृत्त इति ज्ञायते । अनेन एतयो: प्रकृतसहजीवनविधानं प्रस्फुटमेव । एवमेव—

हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ।। रघु० 1 ।।

तत्रैव—

परस्पराऽक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु ।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाऽबद्धदृष्टिषु ।।

अत्र मार्गशाखिनां नाम जिज्ञासारूपेण मृगद्वन्द्वेषु आत्मरूपसादृश्याऽवलोकनोत्साहरूपेण च शीलेन एतद्दम्पत्यो: चराऽचरप्रकृतौ दृश्यमानं सर्वभूतेषु आत्मीयत्वं आत्मौपम्यदिदृक्षाऽदिरूपं वसुधैककुटुम्बकत्वशीलं सहजसिद्धमित अत्र स्पष्टमेव । 'नाविष्णु: पृथिवीपति' इति सूक्त्या विष्णुवंशसम्भूतयो रेतयो: एतादृशविशिष्टविश्व-भावना, 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इति सर्वत्र परमेश्वरांशदर्शन भावना च युज्यत एव—

'कारणगुणा: कार्ये संक्रामन्ति' इति हि तार्किकन्याय: ।

वसिष्ठाऽश्रमं प्रविष्टयोरेतयो: दृष्टिगोचरम् प्राप्त: तदाश्रमप्रान्तप्रदेश: इत्थं भूत:—

सेकान्ते मुनिकन्याभि: तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्रम्भाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ।।
आकीर्णं ऋषिपत्नीनां उटजद्वाररोधिभि: ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितै: मृगै: ।। रघुवंश सर्ग 1 ।।

येषां यादृशी भावना तादृगवलोकनं, एवं चराऽचरप्रकृतिप्रेमरूपं एतयो: प्रकृति-सहजीवनविधानं कालिदास: दिलीपकुमारे रघुमहाराजेऽपि सम्यक् एव प्रतिफलितं चकार । गुरवे दक्षिणार्थं स्वान्तिकमागतं कौत्सं प्रति रघु:—

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः,
संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
क्वचिन्न वाय्वाऽदिरूपप्लवो वः,
श्रमच्छिदामाश्रम पादपानाम् ॥
क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वा-
दमग्नकामा मुनिभि कुशेषु ।
तदङ्कशय्या च्युतनाभिनाला,
कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥

रघुकर्तृकैरेतैः कुशलप्रश्नविधानैः, रघुसार्वभौमे रामचन्द्रे इव 'सर्वभूतहितेरतत्वं' चराऽचरप्रकृतिप्रणयित्वं, परार्थैकफलगुणवत्वं, आत्मौपम्येन सर्वत्र समदर्शनत्वमित्यादयो गुणाः रघोः विष्णुवंशसंभूतत्वं विशेषतः प्रकृतिसहजीवनप्रियत्वरीतिं च प्रस्फुटं प्रकाशयन्ति ।

एवमेव कालिदासः स्वीयं सहजीवनप्रणयित्वं स्वपार्वतीशकुन्तलापात्रयोः प्रत्येकं प्रदर्शयाञ्चकार । तपश्चरणकाले गिरिजा तपोवनस्य वृक्षानेव संवर्धयत्—

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्,
घटस्तनप्रस्त्रवणैः न्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां,
न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ॥ कुमार० 2 ॥

अत्र 'वृक्षकान्' इति अलपार्थे 'कन्' प्रत्ययप्रयोगेण वृक्षेषु शैशवत्वं, तत्पालिकायां गौर्यां जननीत्वं च द्योत्यते, एतस्याः एतज्जननीत्वं अग्रे जगज्जननीत्वरूपेण परिणमति यतः पार्वतीपरमेश्वरौ—

"..........प्रपंचमातापितरौ.......... ।"

भवतः । अतः एतस्या भाविजगज्जननीत्वं आदौ वृक्षसंवर्धनकाले कालिदासः तस्या प्रकृतिसहजीवनत्वरूपेण प्रदर्शितवान् । अत्र वृक्षैस्साकं गौर्याः न केवलं सहजीवनं, किन्तु वृक्षेषु विजातीयेषु अपि एतस्याः स्वाऽपत्यत्वदर्शनं च वर्णितम् । स्वाऽपत्यायैव मातुः स्तनप्रस्त्रवणं संजायते । एतादृशः प्रकृतिप्रणयित्वस्वभावः, शकुन्तलायामपि सम्यक् कविना संदर्शितः—

"..........शकुन्तला—सखि ! न केवलं ततनियोगः अस्ति, ममाऽपि सोदरस्नेह एतेषु (तरूफ) ।" एतस्याः सोदरस्नेहमेनं घनिष्ठं कविः कण्वमुखेन एवं विशदीकृतवान् । शकुन्तलायाः बन्धुकल्पानां तपोवनतरुणामनुमतिं मुनिः तस्यै एवं पृच्छति—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या,
नाऽदत्ते प्रियमंडनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः,
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

अनेन शकुन्तलायाः प्रकृतिसहजीवनविधानेन प्रकृतिप्रेम्णा च एषा तपोवनस्थ-वृक्षलतासु लतारूपा, पुष्पेषु पुष्परूपा परिमलरूपा च सती तत्तपोवनप्रकृतेः पृथक् कर्तुं न शक्या आस्ते न चेच्छकुन्तला, सर्वं कण्वतपोवनं शुष्कप्रायं निष्कलं च स्यात् । एवं वृक्षेष्विव पशुपक्ष्याऽदिष्वपि एतस्याः सहजं प्रेम मेदुरं दृश्यते । पतिगृहं गच्छन्त्याः एतस्याः वियोगमसहमानः कश्चिन्मृगपोतः एवमेनां निवारयितुकामः । कण्वमहर्षे-र्वचनमेतत्—

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिंगुदीनां,
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिर्वाधितको जहाति,
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ।। शकु० 4 अंक ।।

एतस्याः बाल्येवयसि एवं रूपं विश्वमोहनं तस्याः विश्वप्रेम, एनां भाविकाले 'भरतभारतं' अकरोत् इत्यत्र न सन्देहः । किंच पार्वतीशकुन्तलापात्रयोः सुन्दरप्रकृति-स्त्वलंकरणप्रियत्वं, अतितरां दृश्यते । गिरिजाईश्वरपरिचयार्थं तत्समीपगमनसमये एवमलंकुर्वाणा, साक्षात् जंगमप्रकृतिलक्ष्मीरिव एवं प्रकाशते—

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मराग–
माकृष्ट हेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिंदुवारं,
वसंतपुष्पाऽभरणं बहंती ।। कुमार० 3/23 ।।

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां,
वासो वसाना तरुणाऽर्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तबकाऽवनम्रा,
संचारिणी पल्लविनी लतेव ।। कुमार० 3/24 ।।

अत्र 'संचारिणी..........लतेव' इति लतौपम्येन तस्या लतालक्षणलक्षितत्वं कविना सम्यक् वर्णितम् । किंतु लतायाः गमनशक्त्यभावात् गिरिजाया एव आधिक्य वर्णनेन अत्र 'गिरिजा', 'व्यतिरेक' नाम्ना अलंकारेण च भूषिता आसीत् । परमार्थतः गिरिजा 'प्रकृतिस्वरूपिणी' खलु । एवमेव शकुन्तलाऽपि तपोवन प्रकृतौ तन्मयीभूता अंगाङ्गीभावेन वर्णिता—

अधरः किसलयरागः,
कोमलविटपाऽनुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं,
यौवनमंगेषु सन्नद्धम् ।।

अत्र पुष्पितायाः लतायाः सौकुमार्यत्वसौन्दर्यत्वादिकं शकुन्तलाशरीरेऽपि संदृश्यते । अतः प्रकृत्या सह एतस्याः अविनाभावसंबंधः, आत्मीयता चावलोक्यते । एवं एतस्याः प्रकृतिसहजीवनत्वं सुस्पष्टमेव ।

इतः परं कालिदासस्य ऋतुवर्णनवैभवप्रदर्शनाय द्वित्राण्युदाहरणानि प्रसूयते । ग्रीष्मर्तु वर्णनम्—

सुभगसलिलाऽवगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः ।
प्रच्छयसुलभनिद्राः दिवसाः परिणामरमणीयाः ॥

हेमन्तर्तु वर्णनम्—

प्रभूतशालिप्रसवैश्चिानि,
मृगांऽगनायूथविभूषितानि ।
मनोहरक्रौंचनिनादितानि,
सीमांतराण्युत्सुकयंति चेतः ॥

उपर्युक्तरीत्या एतादृशसुमनोहरसुन्दरप्रकृतिचित्रणैः पाठक प्रकृतिं पल्लवितां कुसुमितां च कृत्वा कालिदासकवीन्द्रः आलंकारिकपद्धत्या अस्मभ्यं शतादृशं काव्यसंदेशं कमनीयं प्रदत्तवान्—

"भिन्नमानवेषु मध्ये परस्परसहजीवनं तज्जीवितभ्यः, माधुर्यत्वं, प्रसन्नत्वं, जीवितचारितार्थ्यं च प्रददाति ।"

33

उत्तररामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते ।

इह खलु जगति यावन्ति सन्ति रूपकाणि तत्र कविकुलशेखरमणेस्तत्र भवतो भवभूतेरमृतधारावर्षिलेखनीसम्भूतमुत्तररामचरितमेव रमणीयतया सरसहृदयैर्विद्वद्-वृन्दैर्भृशमेवादृतम् ।

उत्तररामचरितं हि भवभूतेरुत्कृष्टतमं रूपकं तत्र तस्य नाट्यप्रतिभा स्वीयं प्रकाशं विकिरन्ती दृग्गोचरी भवति । यद्यपि प्रकृतेर्गभीरत्वाद् तस्य मालतीमाधव-महावीरचरितोत्तररामचरिताभिधेयेषु त्रिष्वपि रूपकेषु भावप्रवणता वीक्ष्यते परमुत्तर-रामचरिते तु तत्प्रभावोऽतितरामेव परिस्फुरति । विषण्णातावेदने द्वे अपि तत्र नितरां सान्द्रतामासादिते विलोक्येते । तत्र दर्शको भावानां स्निग्धं चित्रणं चेदेकत ईक्षते तदा स अपरतस्तस्मिन् प्रकृतेराहवस्य चोत्कटं भयावहं दृश्यञ्च प्रेक्षते ।

उत्तररामचरिते कविघटनानां संघटनं मनोविज्ञानानुमोदितपद्धत्या विदधाति । कविवररेण्येनास्मिन्नाटके दशरथनन्दनस्य मर्यादापुरुषोत्तमस्य रामस्योत्तरचरितं वर्णितम् ।

नाटकेऽस्मिन् बहवोंऽशाः कविकल्पनाप्रसाधिताः समुपलभ्यन्ते । आलेख्यदर्शनम्, रामवासन्त्योः कानने मिलनम्, रामाग्रे सीताया अदृश्यरूपे उपस्थितिः, प्राचेतसाश्रमे कौसल्याजनकादीनां सम्मेलनं वशिष्ठेन सह च साक्षात्कारः उत्तररामचरितस्य रामाग्रेऽभिनयश्चेति ।

संस्कृतवाङ्मयेऽत्र नाटकस्यालेख्यदर्शनाङ्कोऽनुपमः सर्वथापूर्वश्चास्तिा अस्य प्रयोजनविषये विद्वद्ववरेण्यानामनेका विप्रतिपत्तयो विद्यन्ते। केषाञ्चिन्मते चित्रदर्शनं सीता निर्वासनव्यापारस्यासाधारणमुपकारकारणम् चित्रदर्शनेन। कविना निर्वासनस्य भूमिका निबद्धेत्यन्येषामभिमतम्। अस्तु किमपि प्रयोजनं स्यात् महाकवेः कवित्वप्रतिभाया ज्ञानन्तु भवत्येव। नाटकस्य वैशिष्ट्यं विलोक्यैव शोभनमुदीरितं विक्रमार्केण—

"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।"

उत्तरे रामचरिते भवभूतिः यत्र यत्र यया यया दिशा भावनिवहं प्रकाशयितुं प्रयतते तत्र तत्र तथैव निष्पाद्य प्रणयतिमानसमतितराम्।

करुणरस प्रियोऽयं कविवरः यथा स्यवमेव कथयति नाटके—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्,
भिन्नपृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारान्,
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

करुणरस प्रवाहे महाकविर्भवभूतिः कालिदासमप्यतिशेते।

हा हा देवि! स्फुरति हृदयं स्त्रंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालयत्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवात्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मंदभाग्यः करोमि॥

अन्यच्च जानकीशोकोच्छ्वसितवाष्पनयनाया वनदेव्या वासन्त्या वाक्येन वज्रसारमपि कठिनं शुष्क हृदयं शतधा विदीर्यते यच्च—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
त्वामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण॥

इत्यादि वाचा महाकवेर्विमलं चित्तं सम्यगनुमातुं शक्यते यद्धि प्रतिपदं परदुःखकातरताप्रतिमूर्तिं परिगृह्य समभ्यनन्दयत्यस्मानतितराम्।

भवभूतेः करुणरसप्रशसायां गोवर्धनाचार्येणापि साधूदीरितम्—

भवभूतेः संबन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रीवा॥

सत्यमेव करुणरसवर्णनेऽयं कविरपि सफलो बभूवास्मिन्नाटके। एतावत्कालपर्यन्तं करुणरसे विश्वस्मिन् तत्समः कोऽपि कविर्नाजायत।

प्राकृतिकदृश्यानां वर्णने सुनिपुणोऽयमिति—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।

वहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥

अपि च—

स्निग्धश्यामा क्वचिदपरतो भीषणाभोगरुक्षाः
स्थाने स्थाने मुखरककुभो झांकृतैर्झिकृतानाम् ।
एते तीर्थाश्रमगिरिसरिद्‌गर्तकान्तार मिश्राः
संदृश्यन्ते परिचितभुवो दण्डकारण्य भागाः ॥

इत्यादिषु यादृशमाश्चर्यमयं सरसञ्च प्राकृतिकवर्णनमस्ति भावसाम्यञ्चोपलभ्यते तादृशमन्येषां कवीनां रचनासु न परिलक्ष्यते ।

अन्यत्रापि स्थाने स्थाने नदीपर्वतारामप्रस्रवणोपवनवर्णने कविशिरोमणिना स्वचातुर्यं प्रदर्शितं तत्रापि च प्रशंसनीया विशेषतेयं यत् वर्णनसमये कविना कथाप्रसङ्ग कथमपि न परित्यक्तः । यथा खलु कालिदासप्रमुखाः महाकवयः प्रकृतिवर्णने कथांशं विसृज्य तस्मिन्नेव प्रवहन्ति तथायं कविर्न प्रावहत् ।

भाषायां भवभूतेः सर्वथाधिपत्यमस्ति । सैव भाषाभिनन्दनीयास्ति यथा वर्णनीयस्य चित्रमपि चक्षुषोरग्रत समुपस्थितं स्यात् । यथा—

एते ते कुहरेषु गद्‌गद्‌नदद्‌गोदावरीवारयो
मेघाऽलम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दाक्षिणाः ।
अन्योन्यप्रतिघातसंकुलचलल्कल्लोलकोलाहलै
रुत्तालास्त इमे गंभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः ॥

अन्यच्च—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरमुक्त-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्त्रोतसो निर्झरिण्यः ॥

इत्यादिषु पद्येषु पठ्यमानेष्वेव नदीपर्वतादीनां चित्रमिव नयनयोः पुरतः स्फुरति ।

लवचन्द्रकेतोर्युद्धस्य स्वाभाविकं वर्णनं तस्य भाषां विलोक्य च कस्यचिच्चेतसि हर्षः, उत्साहश्च नोत्पद्यते ।

नाटकेऽस्मिन् पदवाक्यप्रमाणज्ञस्य भवभूतेः प्रेमचित्रणमणि स्वाभाविकं सुपवित्रञ्च वर्तते । कालिदासदिवत् तत्प्रेम वासनामयं नास्ति ।

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरूपाधी-प्रीतय संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं-
द्रवति च हिमरश्यावुद्‌गते चन्द्रकान्तः ॥

इत्यत्रं-अपि च दाम्पत्यप्रेमप्रतीकम्—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासुयत् ।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ॥

अत एवं समुपवर्णितैः कतिपयविचाराबिन्दुभिर्ज्ञायते यत् रसेषु करुणरसस्यैव प्राधान्यम् । तत्र करुणे भवभतिरेव सर्वानतिशेते यथा शृंगारे कालिदास एवाऽऽसीत् । तस्य कवेर्वैशिष्ट्यं तु प्रत्प्रतिपादितायामुत्तररामचरिताख्यनाटकरचनायां द्रष्टुं शक्यते । तदाश्रित्यैव विद्वद्धौरेयाणां सरणौ प्रचलितोऽयमाभाणकः सत्यमेव—

उत्तररामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते ॥

34

राजस्थानीयमाधस्य वैशिष्ट्यम् (1983)

(काव्येषुमाघः, कवि कालिदासः)

'धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे' इति नितान्ते प्रसिद्धे भारते अनेके कवयः समजनिष्टः । परशतेषु कवीनां काव्येषु सत्स्वपि लघुत्रयीति नाम्ना प्रसिद्धं कालिदास प्रणीत काव्यत्रयं, वृहत्त्रयीनाम्ना प्रणीतञ्च किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधं, नैषधीय-चरितञ्च काव्यत्रयमहरहः स्वीकृतं मनीषीभिः । वृहत्त्रयामपि निखिलमहाकाव्यलक्षण-ग्रन्थतया, अतिशय प्रसन्नतया, उपयुक्तव्याकरणप्रयोगप्राचुर्येणातिव्युत्पादकतया च महाकविमाघविरचितं शिशुपालवधं महाकाव्ये व नायकायते इत्यत्र नास्ति सन्देहो लेशः । महाकाव्यस्यास्य प्रणेता काव्यनाम्नैव सर्वत्र भारते प्रतीतोऽयं माघ कस्मिन् देशे, कदा, कतमं जनपदं स्वीयं जन्माऽलंचकार इति जिज्ञासायां महामहोपाध्याय पं. दुर्गाप्रसाद महोदयानुसारेण खिष्टाद्धीय एकादशशतकोत्तरार्द्धे मालवदेशशासतः धारानगराधिपतेः श्री भोजदेवस्य समकालीन आसीदिति प्रतीयते । परञ्च एतादृशे समयनिर्णयादे व्यतिकरे भोजप्रबन्धचिन्तामणि मन्यादयो न श्रद्धापयमध्यासते यतः अत्र प्रतीतेषु बहुभिर्निणयेषु भूयान् विपर्यायाः सम्यगुपलभ्यन्ते । यत्किञ्चिदपि भवेत् परञ्चायं कवि खिब्दाब्दीय नवमशतकात् कथमपि नार्वाचीनः । यतोहि काश्मीरेषु नवयोत्तरशतकभागे वर्तमानः श्रीमदानन्द वर्धनाचार्यो ध्वन्यालोकस्य द्वितीयोद्योते—

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्
पुंभिर्न कैश्चिदपि धन्विभिर न्वबन्धि ।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनाणां
माकर्णपूर्णनयनेषु हतेक्षणश्रीः ॥

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागंविवक्ता इति वर्धयन्ती ।
यस्मामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलमीर्युवानः ॥

इत्यादि शिशुपालवधादुदाहृतवान् । एतेन नवमशतकाभार्वाचीनः इति नितरां प्रसिध्यति ।

गुर्जरदेशवास्तव्योऽयं कवि इति पूर्वोद्धृतप्रबन्धेभ्यः रैवतिकागिरि वर्णने च प्रतीयते। तस्मिन् प्रदेशे भीनमालाख्यग्रामेऽयं संजातः इति सुनिश्चितम् । भीनमालश्चायं राजस्थाननिर्माणात्प्राक् गुर्जरदेशे आसीत् । परञ्च सम्प्रत्यस्य ग्रामस्य राजस्थानान्तरतया राजस्थानीयोऽयं माघ इति निर्विचिकित्सा कथितं शक्यते । अस्य पितामहः श्रीवर्यलाखस्य धर्माधिकारी नियोजितः सुप्रभदेवोनाम प्रसिद्धोऽऽसीत् । एतत् शिशुपालवधान्ते कविवंशवर्णनप्रसङ्गे कविना स्वयवेवोट्टकितम्—

"सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्रीवर्मलाखस्य बभूव राज्ञः" इति तस्यैव सुप्रभदेवस्यदत्तकाख्यस्तनुजोऽभूत् । यं दत्तकं जनाः वीक्ष्य कृष्णद्वैपायनोऽवतारोऽयमिति परिकल्पयान् चक्रुः । तदैतस्य दत्तकस्य सूनोर्माघस्य शिशुपालविधात् कोऽप्यन्यो ग्रन्थो नोपलब्धः । परञ्चौचित्यविचारचर्चायाम्—

बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते ।
न विद्यया केनचिदुधृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कला ॥

एतद् पद्यं क्षेमेन्द्रेण माघकविनाम्नोद्धृतमस्तीति कश्चिदन्योऽपि ग्रन्थः माघविरचितो आसीदेति अनुमीयते । महाकाव्यस्यानेकासु टीकासु विद्यमानाध्वपि मल्लीनाथकृता टीका विशिष्टस्थानमाप्नोति ।

माघविषयमधिकृत्य—"नवसर्गगतेमाघे नवशब्दो न विद्यते ।" इति किवदन्ती वस्तुतः सत्यमेव वर्तते । यतो ह्यस्य पठनेन निसन्देहेन कथितं शक्यते यदस्य प्रौढ़शब्दगुम्फः, अलकारविन्यासेन शब्दार्थचमत्कारोऽपि स्थाने-स्थानेऽभिनन्दनीयः । भारविरर्थगम्भीरगवेषणमेव, दण्डीपदलालित्यमेव, परन्माघस्तु सर्वैस्तैर्गुणैर्युक्तः । अत एव—

उपमा कालीदासस्य भारवेरर्थगौरवम्
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

इति विद्वत्समाजे आभाणकः प्राचलत् प्रमाणिक एव । यद्यपि कविसमाजे कालीदासस्य प्रशंसा महती प्रतीयते । परञ्च कालिदासः केवलं उपमाप्रसङ्गे एव पटीष्ठः । अयञ्चार्थगाम्भीर्यादिभिर्गुणैः कालिदासादभ्यर्हितः । अन्येषां कवीनां मतमिदं वर्तते यत् केवलं शब्दकविः, अर्थगाम्भीर्यस्य का कथा, सामान्यतः तत्रौचित्यमपि न दरीदृश्यते । यथा नारदमुनेः हस्तिनाऽपितु हिमालयेन सादृश्यं कियदौचित्यं प्रकटयति माघस्य । मुनेरागमनसमये शान्तिमयीचित्तवृत्तिर्भवितव्या, दिव्यप्रभावपूर्णवातावरणञ्च भवेत् इत्यैव मुनिसमागमवर्णनस्य सौन्दर्यं नाम । यथा शिशुपालवधे—

मधुरैरवशानि लम्भमयभपि तिर्यञ्चिशमं निरीक्षते ।
परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धामविलोकितसमम् ॥

माघस्य विशिष्टं ज्ञानं शिशुपालवधे प्राप्यते-अनेन एकापि कीदृशी शिशुपालवधाख्या कृतिर्वर्तते इत्यनुमातुं शक्यते । यदत्र नगरीसौन्दर्यं वर्णनम्—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः ।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः ।।

इत्येन वर्णितं भव्यानां निश्चितं मुदमादत्ते । एवमेव प्रकृतिसौन्दर्यमप्यस्यातिशेते यथा—रैवतकगिरिवर्णनप्रसङ्गे नवीनस्य किं लक्षणमिति विवेचयता महाकविना यत्समुपपतितं तन्नूनमनिर्वचनीयमिति नातिशयोक्तिलेशोऽपि यथा—

दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान् ।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः ।।

माघस्य तादृशं वैशिष्ट्यं मत्वैव—"काव्येषु माघः कविः कालिदासः" इति प्रांयुक्त । अन्यथा विशिष्टेषु काव्येषु सत्स्वपि काव्येषु माघ इति कथं संगच्छेत् । नास्ति एतादृशः कश्चित् शब्दो यो हि महाकविना अस्मिन् महाकाव्ये न प्रयुक्तः । अत एव—'नवसर्ग गते माघे नव शब्दो न विद्यते' इति प्राचीनाभाणकः प्राचलदिति कथयितुं निश्चितं पार्यते । यमकवर्णनप्रसंगे या शब्दावली दरीदृश्यते सा नितान्तं चमत्कारिणी । यथा—

नवपलाशपलाशवनं पुट स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ।।

स्थाने स्थाने दार्शनिकमतानि प्रतिपादयता महाकविना स्वकीयमद्भुतं दार्शनिकत्वमपि प्रथितमेव । यथा सांख्यदर्शनस्य वर्णनम्—

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन ।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ।।

शिशुपालवधे स्थाने-स्थाने उचितव्याकरणप्रयोगान् दृष्टवां "वैयाकरणोऽयं माघः" इति ज्ञायते । यथा राजनीत्या सह व्याकरणसिद्धान्तानि वर्णयिता कविनोटङ्कितम्—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ।।

प्राकृतवर्णनप्रसङ्गे नद्याः वर्णनम्—

एकत्र स्फटिकतटांशुभिन्न नीरा शीताश्मद्युतिभिदुराम्यसोऽपरत्र
कालिन्दी जलजनितश्रियः श्रमन्ते वैदग्धीमिह सरितः सुरापगापा ।।

माघेन सर्वेषां स्वपूर्ववर्तीकवीनां समुत्कृष्टगुणानां स्वकाव्ये समन्वयं विहितम् । तेन महाकविकालीदासात् काव्यसौन्दर्यं, उपमाचयननिपुणता, भारविकवेः अर्थगौरवं भट्टिनः व्याकरणपाटवं नीत्वा 'शिशुपालवधे' सन्निवेशः कृतः । अत एव 'माघेसन्ति त्रयोगुणा' इति केनचिदुक्तं तनूनं समीचीनमेवेति । यथा माघस्योपमालालित्यम्—

दधानमम्भोरुहकेसरद्युतिर्जटा शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् ।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रव्रततीततीरिव ।।

पदलालित्यम्—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद् भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया ।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशान्यया ।।
मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मद ध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ।।

अर्थगौरवम्—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चालिताः पुरः पतिमुपैतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ।।

श्रूयते हि कदाचित् केनचिदेको वृद्धः पृष्ठेन यन्भवता के के ग्रन्थाः अभ्यस्ताः, यैरेतादृशं विशिष्टं ज्ञानं स्वजीवने आसादितम्–तेन वृद्धेनोत्तरितं यत् माघे मेघे गतं वयः ।

परम्परायामिदं प्रसिद्धं महाकविमाघः स्वप्राक्वर्तिं महाकविं पराभवितुं ऐहत । अत एव यथा भारविना सर्गादौ श्रीशब्दस्य प्रयोगो विहितः सर्गान्ते च लक्ष्मी-शब्दप्रयोगः कृतः, तथैव माघेनापि एषा रीति समासृता । अन्यादपि ये ये भावाः भारविना समाविष्टास्ते ते विशिष्यापद्धत्या माघेनापि विधाय एनं निरोजयामास । अत एवेदं पद्यं संगच्छते—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे ।
स्मरन्तो भारवेरेवकवयः कपयो यथा ।
तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदय ।।

35

नैषधं विद्वदौषधम् ।

महाकविः श्रीहर्षः सुरगवी-काव्याकाशे विद्योतमानं स्वप्रभानिरस्तान्य-तेजः-प्रसरमनुपमं नक्षत्रम् । तस्यापूर्वा कान्तिः समग्रमपि वाङ्मयं रोचयिततताम् । महाकवेरेतस्य जनकः श्रीहीरो जननी मामल्लदेवी च । तथा हि—"श्रीहर्षं कविराज-राजिमुकुटालंकारहीरः सुतं, श्रीहीरः सुषवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।" कान्यकुब्जेश्वरस्य जयचन्द्रस्याश्रयमाशिश्रियत् कविरयम्, तदाहृतिमविन्दत च ।

"ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् ।"

अतोऽस्य जनिकालो द्वादशशताब्द्या उत्तरार्धोऽङ्गीक्रियते । श्रीहर्षो महाकवि-र्महायोगी च । उभयत्रापि चरमोत्कर्षं लेभे । "यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदार्णवम् । यत्काव्यं मधुवर्षि" (नै० 22–153) । सर्गान्तश्लोकेषु ग्रन्थाष्टकस्या-न्यस्य नामग्राहं गृह्यते तेन । तत्र चाद्वैतवेदान्तप्रतिपादकः खण्डनखण्डखाद्यमेवैको

ग्रन्थः साम्प्रतमुपलभ्यतेऽन्ये च लुप्तप्राया एव। सायासमेतत् तस्य महाकाव्यं ग्रन्थपश्चात्र विन्यस्तास्तेन महता श्रमेण। अतः श्रमसाध्य एव महाकाव्यस्यैतस्यार्थावगमोऽपि—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,
प्राज्ञंमन्यमाना हठेन पठिती माऽस्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादयः—
त्वेतत् काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः॥

रमणीलावण्यं हरति चेतः, सचेतसो यून एव, न तु किशोराणाम्। तथैव श्रीहर्षकृतिः सुधीभिरेवास्वादनीया, न तु प्राज्ञमन्यैः।

यथा यूनस्तद्वत् परमरमणीयापि रमणी,
कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः,
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः॥

श्रीहर्षमहाकवेः कृतिर्नैषधचरितं कस्य न कृतिनो मानसमावर्जयति। बृहत्त्रय्यामन्यतमैषा कृतिः। भारवेः किरातार्जुनीयं, माघस्य शिशुपालवधं, श्रीहर्षस्य नैषधचरितं चेति त्रयमेतद् बृहत्त्रय्यां गण्यते। उत्तरोत्तरमेषामुत्कर्षश्चोररीक्रियते। एतद्भावनात्मकमेवैतदुद्गीर्यते—

तावद् भा भारतेर्भाति, यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

श्रीहर्षस्य पाण्डित्यम्—श्रीहर्षो महाकविर्महादार्शनिको महावैयाकरश्चेत्यादिविविधविरुद्धगुणसमन्वयादतिशेते सर्वानन्यान् कवीन् पाण्डित्यप्रदर्शने वाग्वैभवे रुचिररचनायां भावाभिव्यक्तौ साधुशब्दसंकलने विद्यावैशारद्ये वक्रोक्तिव्यवहारे च। अनुपमवैदुष्यवैभवाविर्भावात् पाण्डित्यपुटपरिपाकप्रतिकाशः प्रतीयते प्रबन्धोऽस्य। नैकशास्त्रनिष्णातस्यानुपहता गतिरत्रेति 'नैषधं विद्वदौषधम्' इति साल्हादमुद्घोष्यते यशोऽस्य सुधीभिः। प्रतिपदं पदलालित्यावेक्षणात् 'नैषधे पदलालित्यम्' इत्यभिधीयते।

नैषधे पदलालित्यं प्रतिपदं प्रेक्ष्यते। क्वचित् प्रसादः, क्वचिन्माधुर्यम्, क्वचिच्च ओजोगुण लक्ष्यते। प्रसाद-माधुर्यगुणाभ्यां सह पदलालित्यं विचित्राभां प्रदर्शयति। काव्यस्य लयात्मकत्वं संगीतात्मकत्वञ्च श्रुतिसुखदत्वेन सममेव सहृदयहृदयावर्जकत्वेनोपतिष्ठते। नैषधे पदलालित्य प्राधान्यमवलोक्य विपश्चिद्भिः 'नैषधे पदलालित्यम्' इति साह्लादमुद्घोष्यते। कतिपयानि निदर्शनान्यत्र प्रस्तूयन्ते—

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा,
क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां,
न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः॥ नैषधं 1-20॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमे-
ऽप्यभिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम् ।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा,
विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ।। नैषधं 1-41 ।।

नलिनं मलिनं विवृण्वती, पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे ।
अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधातै रुचिगर्वदुर्विधम् ।।
(नैषधं 2-23)

श्लोकेष्वेषु क्वचिदनुप्रासः क्वचिद् यमकं सौन्दर्याधायकम् । क्वचित् सौकुमार्यमेव पदानां श्रुतिसुखदत्वहेतुः । यथा—

धन्यासिवैदर्भिगुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ।।
(नैषधं 3-116)

सपीतेः संप्रीतेरजनि रजनीशः परिषदा ।
परीतस्ताराणां दिनमणिमणिग्रावमणिकः ।। 22-144 ।।

विविधविद्यापारदृश्वा श्रीहर्षः नैषधे स्वव्युत्पत्तिप्रदर्शनोपक्रमे प्रतिपदं क्लिष्टत्वं दुरूहत्वं चोपपादयति । विविधशास्त्रीयसिद्धान्तवर्णनात्, श्लिष्ट-क्लिष्ट-पद-प्रयोगात्, बहुज्ञता-प्रदर्शनाच्च स्वकाव्ये व्युत्पत्तिवारिधिं प्रथयति । स श्लिष्टप्रयोगादतिरिक्तं व्याकरण - न्याय - वैशेषिक - सांख्य-योग-वेदान्त-मीमांसा-चार्वाक-बौद्ध - जैनादिदर्शनानां दुरूहान् सिद्धान्तान् यत्र तत्र वर्णयति । विशिष्टदर्शनज्ञानमन्तरेण तदर्थावगमो दुष्कर एव । न केवलं पाश्चात्यविदुषामेव कृते, अपितु भारतीयविद्वत्तल्लजानामपिकृते नैषधं दुर्बोधमेव । पाण्डित्यप्रदर्शनस्य दुष्परिणामरूपत्वेन श्रीहर्षस्य कलापक्षः श्रियमश्नुते, भावपक्षश्च दौर्बल्यम् ।

पाणिनेः 'अपवर्गे तृतीया' (अष्टा० 2-3-6) सूत्रे व्यंग्यं कुरुते यद् अपवर्गविषये मोक्षविषये वा तृतीया प्रकृतिः स्त्रीपुंसातिरिक्ता क्लीबप्रकृतिरेवोपयुक्ता ।

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ।। नै० 17-70 ।।

'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः सकलविशेषगुणोच्छेदो मुक्तिः' इति निरानन्दं मोक्षमाश्रित्य व्यंग्यं कुरुते यद् न्यायाभिमतो मोक्षो गौतमस्यैव मूर्खतमस्यैव मतं भवितुमर्हति—

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः ।। नैषध 17-75 ।।

वैशेषिकदर्शने किमिदं तमो भावरूपं अभावरूपं वा ? इति विचारे 'भासामभाव एव तमः', 'भाभाव एव तमः' इत्यादिरूपेण तमो विविच्यते । वैशेषिकदर्शनकृत कणाद एव उलूकापरपर्यायः । अतो दर्शनमेतद् औलूकदर्शनं निगद्यते । एतदाश्रित्यैव व्यंग्यं क्रियते यद् उलूक एव तमस्तत्त्वपरीक्षणे क्षमः, तन्मतं च ग्राह्यं ।

ध्वान्तस्य वामोरू विचारणीयां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ।।
(नैषधं 22–35)

वेदान्तदर्शनानुसारं मुक्तौ जीवात्मनो ब्रह्मणि विलयेन ब्रह्मैव केवलमवशिष्यते, लोके तु जीवब्रह्मणोर्द्वयोरेव पृथगस्तित्वम् । एतन्मतमाश्रित्यैव व्यंग्यं प्रयुज्यते यन्मूर्ख एव स्वास्तित्वविनाशाय प्रवर्तिष्यते—

स्वं च ब्रह्म च संसारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम् ।
इति स्वोच्छित्ति-मुक्त्युक्ति-वैदग्धी ब्रह्मवादिनाम् ।। नै० 17–74 ।।

श्रीहर्षोऽन्यदर्शनसिद्धान्तान् अपास्य अद्वैतवादमेव सर्वमान्यत्वेनाश्रयते—

श्रद्धां दधे निषधराङ्विमतौ मतानाम् ।
अद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोक ।। नै० 13–36 ।।

सरस्वत्या स्वरूपवर्णने एकस्मिन्नेव श्लोके बौद्धदर्शनस्य शाखात्रयसिद्धान्ता, शून्यवाद-विज्ञानवाद-साकारविज्ञानवादाः समुपस्थाप्यन्ते । यथा—

या सोमसिद्धान्तमयाननेव, शून्यात्मतावादमयोदरेव ।
विज्ञानसामस्त्यमयान्तरेव साकारतासिद्धिमयाखिलेव ।।
(नैषध 10–88)

एवमेव विविधा दर्शनराद्धान्ता इतस्ततः प्रकीर्णा उपलभ्यन्ते । यथा— "नास्ति जन्यजनकव्यतिभेदः०" (नैषध 5–94) । इत्यत्र सांख्याभिमतः सत्कार्यवादो विव्रियते । "सम्प्रज्ञातवासिततमः समपादि" (नैषध 21–118) इत्यत्र योगदर्शन प्रतिपादितः । संप्रज्ञातसमाधिर्निरूप्यते । "आदाविव द्वयणुकक्कृत परमाणुयुग्मम्" (नैषध 3–125) इत्यत्र वैशेषिकाभिमतः परमाणुवादः, मनोभिरासीदनणुप्रमाणै० (नैषध 3–37) । "जनस्य चेतोभिरवारिणमाङ्कितैः०" (नैषध 1–59) इत्यत्र मनसोऽणुत्वं प्रतिपाद्यते—

विश्वरूपकलनादुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये ।
विग्रहं मखभुजायसहिष्णुर्व्यर्थतां मदर्शनि स निनाय ।।

इत्यत्र मीमासाभिमतं देवानां अरूपित्वं मन्त्ररूपित्वं च निर्दिश्यते । "स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता" (नैषध 2–61) इत्यत्र स्वतः प्रामाण्यं वर्ण्यते । "न्यवेशि रत्नत्रितये" (नैषध 9–71) इत्यत्र जैनाभिमत रत्नत्रयस्य वर्णनम् । सप्तदशसर्गे चार्वाकसिद्धान्त वर्णनमुपलभ्यते—

"अजस्रमभ्याशमुपेयुषां समं मुदैव देवः कविनाबुधेन च।"

इत्यत्र ज्योतिषसिद्धान्तवर्णनं प्राप्यते ।

माघस्य शिशुपालवधे काव्यसौन्दर्यं प्रेक्ष्य यथा भारवेर्भा अस्तमेति, तथैव नैषधे श्रीहर्षस्य वैदुष्यं विलोक्य भारविमाघौ द्वावेव निष्प्रभतां धत्तः । श्रीहर्षः कविता-कामिनीकान्तो भाषाप्रयोगविदग्धो विविधशास्त्रनिष्णातः रससिद्धः कवीश्वरो वर्तते । तस्य काव्यं प्रतिपदं तस्य व्याकरणविशेषज्ञतां भावगाम्भीर्यं पदमाधुर्यं भाषासौष्ठवं रसपरिपाकं च प्रकटयति । अनुपमस्तस्य समग्रेऽपि संस्कृतवाङ्मयेऽधिकारः ।

गीर्वाणवाणी वाणीश्वरमिव तं सेवते । स भाषां पुत्तलिकामिव नर्तयितुं प्रभवति । तदीहासमकालमेव समुपतिष्ठन्ति रसा, भावाः, कमनीया पदावली, विविधाश्चालंकारा । गूढातिगूढान्वितानि क्लिष्टानि पद्यानि स यथैव सारल्येन रचयितुमलं तथैव सरलानि सरसानि प्रसादगुणोपेतानि हृद्यानि पद्यानि । तस्य पद्यानि नारिकेलफलोपमानानि सन्ति, बहि कठोराणि, अन्तः माधुर्योपेतानि च । रसिकैः सहृदयैर्विविधशास्त्रनिष्णातैरेव तत्काव्यगौरवम् अवधारयितुं पार्यते । यथा केचन श्लेष प्रयोगा—

'चेतो नलं कामयते मदीयम्' (नै. 3–67) श्लेषमूलकमर्थत्रयमस्य । चेतः नलं कामयते, चेतः न लंकाम् अयते, चेतः अनलं कामयते । स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षम. (नैषध. 4–116) इत्यत्र नलदशब्दो द्वयर्थकः । पञ्चार्थकं पद्य यथा—

देवः पतिर्विदुषि नैष धराजगत्या,
निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या ।
नायं नल खलु तवातिमहानलाभो,
यद्येनमुज्झसि वर. कतरः परस्ते ।। नै. 13–34

36

महाकविबिल्हणस्तद्विक्रमाङ्कदेवचरितम् ।

अथवा

उल्लेखेः कवयन्ति बिल्हणकविस्तेऽत्रैव संनह्यति । (1982)

जगति सुप्रसिद्धस्य महाकाव्यस्य विक्रमाङ्कदेवचरितस्य रचयिता महाकविबिल्हणश्चिरकालादेव महाकविष्वभिनन्द्यते । स हि चौरपञ्चाशिकां कर्णसुन्दरीनाटिकाञ्चापि प्रणिनाय । सुभाषितसंग्रहग्रन्थेषु बिल्हणनामांकितानि बहूनि पद्यान्युपलभ्यन्ते । कविवरजल्हण गुम्फित सूक्तिमुक्तावल्या मेव बिल्हणस्याष्टोतरशत पद्यानि विद्यन्ते । क्षेमेन्द्रराजशेखरकालिदासेष्वप्यन्य कस्यापि कवेः श्लोकसंख्या न तावतीं कोटिं भजते तत्र । प्रसादादिगुणेषु कालिदाससाम्यमयं प्राप्नोति ।

बिल्हणकवि. स्वजन्मना काश्मीरप्रदेशमलञ्चकार । तत्रैव प्रदेशे च तने स्वरचना रचिता । अस्य मते तत्प्रदेशादुत्तमः प्रदेशो नास्ति कविताविलासाय । अतः स्वमेव कथयति प्रथमसर्गे यत्—

सहोदरा. कुंकमकेसराणां
भवन्ति नूनं कविताविलासा. ।
न शारदादेशमपास्यदृष्ट
स्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोह ।।

कवि प्रवरोऽयं किमपि चमत्कारपूर्णं काव्यं निर्माय स्वकृतेर्यशसश्च स्थैर्यमैच्छत् । तस्य पिता ज्येष्ठकलशः माता च नागदेवीति ख्यातासीत् ।

बिल्हणस्य काव्यरीतिर्नितान्तं सरसा प्रसादमयी मनोमोहिका चास्ति। स खलु वैदर्भीरीतिप्रियो वरीवर्ति। अत एव कथयति यत्—

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य
सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति
सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्॥

सुप्रख्यातमेतत् 'विक्रमांकदेवचरितं' निखिलेऽपि संस्कृतवाङ्मये विशिष्टं पदं धत्ते एतद्धि महत्या भूमिकया सह प्रारभ्यते। प्रथमं तावत् सुललितायां भारत्यां देवानां स्तुतिरस्ति। ततश्च कविप्रकाण्डोऽयं कर्मण प्रशंसां खलानां दुष्टानां निन्दां काव्यचौराणाञ्चोपहासङ्करोति। अन्येषु काव्येषु नैतादृशी भूमिका विलोक्यते।

काव्येऽस्मिन् अनुप्रासा अत्यद्भुतप्रकारेण सन्निवेशिताः सन्ति कविना। उत्प्रेक्षाश्लेषोपमाद्यलंकाराणां प्रयोगे चातिप्रवीणोऽयं कविवरः। अलंकारास्तु स्वयमेव चमत्कारतया भवन्ति परमत्र तु श्लेषः प्रभृतयो दुरूहा अपि ते तथा ग्रथितास्सन्ति यच्चितं विस्मयस्य परां कोटिं नयन्ति। प्रथमसर्गे—

एकः स्तनस्तुङ्गतरः परस्य,
वार्तामिव प्रष्टुमगान्मुखाग्रम्।
यस्याः प्रियार्धस्थितिमुद्वहन्त्या,
सा पातु वः पर्वतराजपुत्री॥

अन्यच्च—

चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य,
भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः।
अद्यापि किं वा नु भविष्यतीति,
व्यपाटयन् द्रष्टुमिवाक्षराणि॥

इति श्लोकद्वयस्योत्प्रेक्षैवास्य प्रतिभां प्रकटयति।

विशीर्णकर्णा कलहेन यस्य,
पृथ्वीभुजंगस्य निरर्गलेन।
संगच्छतेऽद्यापि न डाहलश्रीः,
कर्पूरताटङ्कनिभैर्यशोभिः॥

अस्मिन् पद्ये शोभनः श्लेषो विद्यते।

ध्रुवं रणे यस्य जयामृतेन,
क्षीबः क्षमाभर्तुरभूत् कृपाणः।
एकागृहीता यदनेन धारा,
धारासहस्त्रं यशसोऽवकीर्णम्॥

इति श्लोके च महाकविना धाराशब्दे सुन्दरः श्लेषः प्रदर्शितः कृपाणञ्चोन्मत्तं प्रदर्श्याद्भुता कल्पनाशक्तिः प्रकटीकृतानेन।

उपमालङ्कारे तु कविचक्रवर्ती स कविकुलमुकुटमणे कालीदासस्य साम्यं प्राप बहुषु स्थलेषु । यथा खलु—

क्ष्माभृत्कुलानामुपरि प्रतिष्ठा—
मवाप्य रत्नाकरभोगयोग्यः ।
क्रमेण तस्मादुदियाय वंशः
शौरेः पदाद् गाङ्गइव प्रवाहः ॥

किञ्च—

तस्माद्भूदाहवमल्लदेव—
स्त्रैलोक्यमल्लापरनामधेयः ।
यन्मण्डलाग्रं न मुमोचलक्ष्मी,
र्धाराजलोत्था जलमानुषीव ॥

अति सरसा रम्या च विद्यते उपमात्र पद्यद्वये ।

एवमन्येषामलंकाराणां प्रयोगेऽपि कुशलोऽयं कविचन्द्रः । काव्येऽस्मिन् कविना कृतानि वर्णनानि मनोहराणि वर्तन्ते । ऋतुवर्णने तु सर्वानप्यतिशेते कविः ।

कृतक्षणं क्षुद्रनदीसमागमे, तरङ्गिणीनाथमवेक्ष्य सम्प्रति ।
विलंघ्य मार्गं सहसा महापगाः पतन्ति नीचेषुनदान्तरेषु ॥

चरित्रचित्रणेऽपि चातुर्यातिशयं धारयति कविवरेण्योऽयम् । विक्रम श्रीतैलपाहवमल्लदेवादीनां चरित्रवर्णने एवास्य कविता चातुरी प्रकटीभवति ।

अनेन प्रकारेण सर्वेषु क्षेत्रेषु बिल्हणोऽतिकौशलं धत्ते नास्त्यत्र संदेहलेशः ।

महाकविबिल्हणविरचितविक्रमांकदेवचरितं महाकाव्यंसंस्कृतसाहित्यस्यैतिहासिक-काव्येषु परिगण्यते । इदं महाकाव्यं जैसलमेरस्थितपुस्तकालये 'गडऽवहो' ग्रन्थेन सह अमिलत् । ग्रन्थस्यास्य प्राप्तकर्त्ता डॉ. ब्यूह्लर आसीत् ।

स्वकविताविषये कवेः गर्वोक्तिः वर्तते यत् तस्य कवितायाः रसपानं रसध्वनिवक्रोक्तिमर्मज्ञाः विद्वांस एव विधातुं समर्थाः—

रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति
संक्रान्त-वक्रोक्ति-रहस्यमुद्राः ।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु
कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम् ॥

कवीनामप्रतिममहिमां वर्णयन् कविबिल्हणः नृपान् सम्बोधयति—

हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबन्धे विरोधं
शुद्धा कीर्तिःस्फुरति भवतां नूनमेतत् प्रसादात् ।
तु'ष्टैर्नीतं तदलघुरघुस्वामिनः सच्चरित्रं
रुष्टैर्नीतस्त्रिभुवनविजयी हास्यमार्गं दशास्यः ॥

साहित्यस्य पाथोनिधित्वं प्रतिपादयता कविना तस्य रक्षणाय संकेतितम्—

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।
तदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्याऽर्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥

किन्तु काव्यार्थज्ञानशून्यैरपहृतोऽपि काव्यरसो नैव क्षयतां गच्छति तस्य पाथोनिधिमन्थनोत्थात्-इति प्रसंगे कथितं तेनैव—

गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं नाऽस्ति क्षतिः काऽपिकवीश्वराणाम् ।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एवसिन्धुः ॥

इति वर्णनेन कवेरस्य वैशिष्ट्यं लोकव्यवहारज्ञत्वञ्च नूनं परिज्ञायते, यस्य कृतिपठित्वास्वाध्यायिनोजनाः आत्मानं धन्यमन्वानाः सन्तो जीवन यापयन्ति । इत्यलम् ।

37

बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम् ।

अथवा

कादम्बरी रसज्ञानामाहारोऽपि न रोचते । (1986)

अखिलेऽपि गीर्वाणीवाङ्मये कविकुलकुमुदकलाधरः कालिदासो यथा कल्पना-वैचित्र्येण रचनाचातुर्येण च पद्यबन्धसौष्ठवे गरिष्ठो वरिष्ठश्च, तथैव गद्यनिबन्धने कविमूर्धन्यः बाणोऽतिशेतेऽन्यान् सर्वानप्यभिरूपान् । पद्यरचनायां केषुचिदेव पद्येषूक्तिवैचित्र्येण भावगाम्भीर्येण कृतिकौशलेन चापूर्वा छटा संजायतेऽखिलेऽपि काव्ये । गद्यकाव्ये तु भूयान् श्रमोऽपेक्ष्यते । पदे पदे वाग्वैचित्र्यमर्थगाम्भीर्यं भाववैभवं कल्पनाकाम्यत्वं च दुर्निवारम् । अतः साधूच्यते—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' । यद्यपि गद्यकाव्यबन्धे दण्डी सुबन्धुश्चेति द्वावेवैतौ बाणेन समं सनामग्राहमुल्लेख्यौ, परं बाणो गरिष्ठो वरिष्ठश्चैतेषां भूयिष्ठया भावाभिव्यक्त्या साधिष्ठया शैल्या साधुतया प्रेष्ठया पद-परिष्कृत्या च । अतः सोड्ढलेन 'बाणः कवीनामिह चक्रवर्ती' इत्युक्तम् । धर्मदासेन तरुणीलावण्यमस्य कृतौ दृश्यते—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति ।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरस्य ॥

जयदेवो बाणं पञ्चबाणेन कामेनोपमिमीते—

हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः ।

श्रीचन्द्रदेवाऽमुं कविकुञ्जरगण्डभेदकं सिंहं गणयति—

'आः सर्वत्र गभीरधीरकविताविन्ध्याटवीचातुरी-संचारी कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः ।'

बाणस्य जनिकालविषये वंशादिविषये च न काचन विप्रतिपत्तिः । हर्षचरितस्यादौ तेन वंशादिविवरणं महता विस्तारेणोपस्थाप्यते । जनकोऽस्य चित्रभानुर्जननी राजदेवी च । सम्राजो हर्षस्य समकालीनत्वात् जनिकालोऽस्येसवीयसप्तमशताब्द्याः पूर्वार्धोऽङ्गीक्रियते । हर्षचरितं कादम्बरी चेति ग्रन्थद्वयमस्य प्रधानतः कृतित्वेनाङ्गीक्रियते । कृतयोऽन्या विवादविषया एव विदुषाम् ।

बाणस्य वस्तुविवृतौ वर्णने चापूर्वं वैशारद्यं वीक्ष्य मन्त्रमुग्धत्वमनुभवन्ति मनीषिणः। वर्ण्यस्य वस्तुनोऽणुतमामपि विवृतिं न विजहाति, न किञ्चिदुज्झति परस्मै यत्नेन शक्यं वर्णयितुम्। वर्णनानां व्यापित्वात् सर्वाङ्गीणत्वात् सूक्ष्मतमविवरण-समन्वितत्वाच्च 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' इति भूयो भूयो व्यादिश्यते। एतदेवात्र समासतः समुपस्थाप्यते।

हर्षचरिते कवेर्वर्णनचातुरी बहुशोऽवलोक्यते। तेषु मुख्यतः उल्लेख्याः प्रसङ्गा सन्ति—मुमूर्षोर्नृपस्य प्रभाकरस्य वर्णनम्, वैधव्यव्यदुखपरिहाराय सतीत्वमाश्रयन्त्या यशोवत्या वर्णनम्, सिंहनादस्योपदेशः, दिवाकरमित्रस्य राज्यश्रीमान्त्वनम्। कवेर्गरिमा कमनीयां कादम्बरीमेवाश्रित्याऽवतिष्ठते इत्यत्र नास्ति विप्रतिपत्तिर्विदुषाम्। यत्र तत्र साङ्गोपाङ्गं वर्णनं महता श्रमेण बाणेनोपस्थाप्यते, तेऽत्र प्रसङ्गा नामग्राहं दिङ्मात्रं प्रस्तूयते। तद्यथा—शूद्रकवर्णनम्, चाण्डालकन्यावर्णनम्, तन्व्याटवीवर्णनम्, पम्पासरो-वर्णनम्, प्रभातवर्णनम्, शबरसेनापतिवर्णनम्, हारीतवर्णनम्, जाबाल्याश्रमवर्णनम्, जाबालिवर्णनम्, सन्ध्यावर्णनम्, उज्जयिनीवर्णनम्, तारापीडवर्णनम्, इन्द्रायुधवर्णनम्, राजभवनवर्णनम्, अच्छोदसरोवर्णनम्, सिद्धायतनवर्णनम्, महाश्वेतावर्णनम्, कादम्बरी-वर्णनञ्च।

समासत कानिचिदुदाहरणान्यत्र प्रस्तूयन्ते। सन्ध्यावर्णनं यथा—

"अनेन च समयेन परिणतो दिवस स्नानोत्थितेन मुनिजनेनार्घविधिमुप-पादयता य क्षितितले दत्तस्तमम्बरतलगत साक्षादिव रक्तचन्दनाङ्गरागं रविरुदवहत्। ....उद्यत्सप्तर्षिसार्थस्पर्शपरिजिहीर्षयेव संहृतपाद पारावतचरणपाटलरागो रविरम्बरतलादम्बत्।"

प्रभातवर्णनं यथा—

"एकदा तु प्रभातसन्ध्यारागलोहिते गगनतलकमलिनीमधुररक्तसंपुटे वृद्धहंस इव मन्दाकिनीपुलिनादपरजलनिधितटमवतरति चन्द्रमसि,..........सन्ध्यामुपासितु-मुत्तराशावलम्बिनी, मानससरस्तीरमिवाव-रति सप्तर्षिमण्डले,..........इतस्ततः संचरत्सु वनचरेषु, विजृम्भमाणे श्रोत्रहारिणी पम्पासर कलहंसकोलाहले,.......... क्रमेण च गगनतलमार्गमवतरतो दिवसकरवारणस्यावचूल चामरकलाप इवोपलक्ष्यमाणे मञ्जिष्ठारागलोहिते किरणजाले, शनैः शनैरुदिते भगवति सवितरि०।"

कादम्बरीवर्णनं यथा—

"पृथिवीमिव समुत्सारितमहाकुलभूभृद्व्यतिकरां शेषभोगेषु निषण्णाम्, गौरीमिव श्वेतांशुकरचित्तोत्तमाङ्गाभरणाम्, इन्दुमूर्तिमिवोद्दाममन्मथविलासगृहीतगुरु-कलत्राम्, आकाशकमलिनीमिव स्वच्छाम्बरदृश्यमानमृणालकोमलोरूमूलाम्, कल्पतरु-लतामिव कामफलप्रदाम्,..........कादम्बरीं ददर्श।"

अच्छोदसरोवर्णनं यथा—

"प्रविश्य च तस्य तरुखण्डस्य मध्यभागे मणिदर्पणमिव त्रैलोक्यलक्ष्म्याः, स्फटिकभूमिगृहमिव वसुन्धरादेव्याः, निर्गमनमार्गमिव सागराणाम्, निस्यन्दमिव

दिशाम्, अंशावतारमिव गगनतलस्य, कैलासमिव द्रवतामापन्नम्, तुषारगिरिमिव, विलीनम्. चन्द्रातपमिव रसतामुपेतम्, हराट्टहासमिव जलीभूतम्,.......... मदनध्वजमिव मकराधिष्ठितम्,..........मलयमिव चन्दनशिशिरवनम्..........अतिमनोहरं, आह्लादनं दृष्टेः, अच्छोदं नाम सरो दृष्टवान् ।"

जाबालिवर्णनं यथा—

"स्थैर्येणाचलानां गाम्भीर्येण सागराणां तेजसा सवितुः प्रशमेन तुषाररश्मेर्निर्मलतयाऽम्बरतलस्य संविभागमिव कुर्वाणम्..........शरत्कालमिव क्षीणवर्षम्, शन्तनुमिव प्रियसत्यव्रतम्,..........वडवानलमिव सततपयोभक्षम्, शून्यनगरमिव दीनानाथविपन्नशरणम्, पशुपतिमिव भस्मपाण्डुरोमश्लिष्टशरीरं भगवन्तं जाबालिमपश्यम् ।"

पाञ्चाली रीतिर्बाणस्य । "शब्दार्थयोः समोगुम्फः पाञ्चालि रीतिरिष्यते" इति बाणोक्तौ शब्दार्थयोर्मञ्जुलः समन्वयः समीक्ष्यते । विषयानुरूपमेव तस्यशब्दावल्यपि विलोक्यते । यथा विन्ध्याटवीवर्णने ओजःसमासभूयस्त्वम् । "उन्मादमातङ्गकपोलस्थलगलितसलिलसिक्तेनेवानवरतमेलावनेन मदगन्धिनान्धकारिता प्रेताधिपनगरीव सदासन्निहितमृत्युभीषणा महिषाधिष्ठिता च, कात्यायनीव प्रचलितखड्गभीषणा रक्तचन्दनालङ्कृता च ।"

वसन्तवर्णने च माधुर्यमिश्रितत्वम् । यथा—"कोमलमलयमारुतावतारतरङ्गितानङ्गध्वजांशुकेषु, मधुकरकुलकलङ्ककालीकृतकालेयककुसुमकुड्मलेषु मधुमासदिवसेषु ।"

बाणस्य वर्णनानि वनितामिव विभूषणानि विभूषयन्त्यलंकरणैरलंकाराः । उपमारूपकोत्प्रेक्षाश्लेषविरोधाभासपरिसङ्ख्यैकावल्यादयोऽलंकाराः पदे पदे प्राप्यन्ते तत्तत्प्रसङ्गेषु । परिसंख्या यथा शूद्रकवर्णने—

"यस्मिंश्च राजनि जितजगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसंकरा, रतेषु केशग्रहाः, काव्येषु दृढ़बन्धाः, शास्त्रेषु चिन्ता ।"

विरोधाभासो यथा शूद्रकवर्णने—

"आयतलोचनमपि सूक्ष्मदर्शनम्, महादोषमपि सकलगुणाधिष्ठानम्, कुपतिमपि कलत्रवल्लभम्, अत्यन्तशुद्धस्वभावमपि कृष्णचरितम् ।"

विन्ध्याटवीवर्णने उपमा यथा—

"चन्द्रमूर्तिरिव सततमृक्षसार्थानुगता हरिणाध्यासिता च जानकीव प्रसूलकुशलवा निशाचरपरिगृहीता च ।"

उत्प्रेक्षा यथा सन्ध्यावर्णने—

"अपरसागराम्भसि पतिते दिनकरे पतनवेगोत्थितमम्भः सीकरनिकरमिव तारागणम्बरमधारयत् ।"

श्लेषो यथा राजभवनवर्णने—

"उत्कृष्टकविगद्यमिव विविधवर्णश्रेणि प्रतिपाद्यमानाभिनवार्थसंचयम्, नाटकमिव पताकांकशोभितम्, पुराणमिव विभागास्थापितसकलभुवनकोशम्, व्याकरणमिव प्रथममध्यमोत्तमपुरुषविभक्तिस्थितानेकादशकारकाख्यातसम्प्रदानक्रियाव्ययप्रपञ्चसुस्थितम् ।"

एकावली यथा महाश्वेताजन्मवर्णने—

"क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पदम् ।"

परिसंख्या यथा जाबाल्याश्रमवर्णने—

"यत्र च मलिनता हविर्धूमेषु न चरितेषु, मुखरागः शुकेषु न कोपेषु तीव्रता कुशाग्रेषु न स्वभावेषु, चञ्चलता कदलीदलेषु न मनःसु, चक्षुरागः कोकिलेषु न परकलत्रेषु,..........मेखलाबन्धो व्रतेषु नेर्ष्याकलहेषु,..........रामानुरागो रामायणेन न यौवनेन, मुखभङ्गविकारो जरया न धनाभिमानेन ।" यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितं..........शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातो, भुजङ्गमानां भोगः कपीनां श्रीफलाभिलाषः मूलानामधोगतिः ।

बाणः श्लिष्टसमस्तदीर्घवाक्यप्रयोगमनु प्रयुक्ते लघुपदन्यासां वाक्यावलीम् । स यथैव दक्षो दीर्घवाक्यरचनायां तथैव पटुर्लघुवाक्यप्रयोगेऽपि यत्र भावगाम्भीर्यमर्थगौरवं च तत्र सरला लघुपदा वाक्यावली, इतरत्र च श्लिष्टा समस्ता दीर्घा च । यथा शुकनासोपदेशेऽर्थगौरवात् लघुपदप्रयोगैः—

"मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवताभ्यः, न पूजयन्ति द्विजातीन्, न मानयन्ति मान्यान्, नार्चयन्त्यर्चनीयान्, नाभ्युत्तिष्ठन्ति गुरून् ।"

महाश्वेताविलापे, कपिञ्जलकृताक्रन्दने च सन्ति लघूनि वाक्यानि । तद्यथा—

"कपिञ्जलकृतं रोदनम्—हा हतोऽस्मि, हा दग्धोऽस्मि, हा वञ्चितोऽस्मि, हा किमिदमापतितम्, किं वृत्तम्, उत्सन्नोऽस्मि,..........हा धर्म निष्परिग्रहोऽसि, हा तपो निराश्रयोऽसि, हा सरस्वती विधवासि, हा सत्यम् अनाथमपि, हा सुरलोक शून्योऽसि..........।"

जाबालिवर्णने लघुपदविन्यासो यथा—

"प्रवाहः करुणारसस्य, संतरणसेतुः संसारसिन्धोः, आधारः क्षमाम्भसाम्, सागरः सन्तोषामृतस्य, उपदेष्टा सिद्धिमार्गस्य,..........सखा सत्यस्य, क्षेत्रम् आर्जवस्य प्रभवः पुण्यसंचयस्य ।"

उज्जयिनीवर्णने, राजभवनवर्णने, शुकनासोपदेशे, पुण्डरीकाय, कपिञ्जलोपदेशे च संलक्ष्यते बाणस्यापूर्वा वर्णनचातुरी । स तथा प्रस्तवीति प्रत्येकं वस्तु यथा चित्रपटे स्वतः सन्दृश्यमाना काचित् कथा घटना वोपतिष्ठति । एवं ज्ञायते यत् तस्य वर्णनचातुरी सर्वातिशायिनी । कवीनामन्येषां वर्णनं च बाणोच्छिष्टमेव ।

38

गद्यं कवीनां निष्कषं वदन्ति।

अथवा

अम्बिकादत्त व्यासीया व्याख्या राष्ट्रस्य नूतना। (1985)

अथवा

राजस्थानीयाः आधुनिकाः कथालेखकाः। (1986)

अस्मिन् जगति को न वेत्ति यत् नानायोनिषु भ्रमता जीवेन अतिकाठिन्येनेयं मानवीतनुरासाद्यते। मानवीं तनुमपि प्राप्य विद्याप्राप्ति न सरला। सा तु महता प्रारब्धेन उपार्जिता क्रियते। विद्याप्राप्तो सत्यामपि कवित्वनिर्माण शक्तेरधिगमनमति दुष्करम्। काव्येऽपि पद्यकाव्यं न तथा दुष्करं यथा गद्यरचना। अतएव प्राचीनैः संस्कृतस्याऽऽचार्यैरेषा सूक्तिः प्रसारिता यत्—

"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।"

संस्कृत पद्यवत् गद्यस्य प्रयोगोऽपि वैदिककालादेव भवति। कृष्णयजुर्वेदः ब्राह्मणग्रन्था, उपनिषदश्च अधिकांशत गद्ये एव वर्तन्ते। यद्यपि संस्कृतसाहित्ये गद्ये ग्रथितानां ग्रन्थानां संख्या अंगुलिनिर्देश्या एव वर्तते। तथापि पद्यस्यापेक्षया गद्यस्य महत्त्वं प्रतिपादयितुमेव संस्कृतस्य प्राचीनैराचार्यैरेषा सूक्तिः प्रसारिता। गद्यस्य महत्त्वं एतस्मात् कारणादेव वर्तते यत् गद्यकाव्यरचनाति कठिनाऽस्ति। इदमनिश्चतमेव यत् कदा केन प्रकारेण च संस्कृतगद्यस्य प्रभव अभूत्। लौकिक गद्यस्य दर्शनं सर्वप्रथमं महाभारते एव विद्यते। गद्ये एव 'अर्थशास्त्रम्' तथा महाभाष्यादयः ग्रन्थाः उपलभ्यन्ते। पुराणां गद्यं साधारणकोटिकं वर्तते। साहित्यशास्त्रकर्तृणां दार्शनिकानां च गद्यं पारिभाषिकमत्यन्त कठिनञ्चास्ति। चम्पूकाव्यमपि गद्यकाव्ये एव परिगण्यते।

संस्कृतगद्यकाव्यस्य विशेषता ओजस्समासबहुलता चास्ति। उक्तं हि दण्डिना—

"ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्।"

काव्यस्यातिदीर्घान् समासान् दुर्बोधान् घटनासंकेतान्, श्लेषयमकानुप्रासोपमोत्प्रेक्षापरिसंख्यादीन् अलंकारान् प्रयोक्तुं अत्र पूर्णा स्वतन्त्रता वर्तते। प्रकृतेः सूक्ष्मचित्रणस्य पुरुषस्त्रीणां नैतिकमानसिकशारीरिकगुणानां च वर्णनस्य प्राधान्यमेव अत्र वर्तते। गद्यकाव्यं भेदद्वये प्राचीनैरालंकारिकै विभक्तम्—आख्यायिका, कथा च।

प्राचीनकाले गद्यकाव्यस्य परिमितसंख्यायाः किं कारणमस्ति इत्येषः प्रश्नः। इदं सत्यं यत् संस्कृते गद्यकाव्यस्य संख्या परिमिता एवास्ति, तथापि अनेक गद्यकाव्यानामुल्लेखो साहित्ये अस्ति। पद्ये मादकतापूर्ण श्रुतिमाधुर्यगुणः वर्तते, परं गद्ये

ईदृग्विधस्य गुणस्य नोपलब्धिः । सार्धमेव समासबाहुल्येन गद्यकाव्यमधिगन्तुमतिदुष्कर-मासीत् एतस्माद् कारणादेव गद्यरचनायां कवीनां प्रवृत्ति बहुलानासीत् ।

संस्कृतगद्यकाव्ये कवित्रयं प्रमुखमस्ति, बाणभट्ट, सुबन्धुः, दण्डी च । एतेषां काव्येषु गद्यस्य चरमोत्कर्षः प्राप्यते । एतासु रचनासु एव सर्वप्रथमं वास्तविकस्य गद्यस्य दर्शनं भवति ।

गद्यकाव्येषु प्राचीनतमं पुस्तकं सुबन्धुकृतं 'वासवदत्ता' अस्ति । अस्मिन् काव्ये वासवदत्ताकन्दर्पकेतयोः प्रणयकथा चित्रिता । श्लेषप्राधान्यमत्र वर्तते एतत्कृते गौरव-मनुभवति कविः—

"प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिः ।"

अस्मिन् काव्ये भावानामपेक्षया वर्णनस्य प्राधान्यं वर्तते । शब्दचमत्कारेण काव्यं रसहीनं कृतम् । अस्य काव्य गौडी रीतिः । एषा शैली एव गद्य काव्यस्य मान्याऽसीत् प्राचीनकाले । तदुक्तं हि—

"ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम् ।"

गद्यसाहित्ये दण्डिना द्वितीयं पदं प्राप्तम । दशकुमारचरिते दण्डिना एका नवीना शैली प्रयुक्ता । स वैदर्भीरीतेः कविः अस्ति । अस्य पदावली सरसा, कोमला मधुरा मनोभावाभिव्यञ्जिका चास्ति । पर्याप्ता रोचकता अस्ति, किन्तु काव्ये अश्लीलत्वमपि दृश्यते । कथायाः क्रमः अति दर्शनोयः । अस्मिन् काव्ये दशकुमारैः स्वपर्यटनानां विचित्रानुभवानां पराक्रमाणाञ्च मनोरंजकं वर्णन कृतम् । दण्डिनः पदलालित्यस्यातिप्रशंसा क्रियते । उक्तं हि—

"दण्डिनः पदलालित्यं...........।"

एष मनोरम पदविन्यासः दर्शनीयः अस्ति—'अयुग्मशरः शरशयने शाययिष्यति ।' एकेन भारतीयालोचकेन दण्डी एव एकमात्रं कविः—

"कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविर्दण्डी न संशयः ।"

संस्कृतगद्यकविमण्डले महाकविर्बाणः सर्वमूर्धाभिषिक्तः, महामेधावी, वश्य-वाचामग्रणीश्चासीत् । सर्वलोकप्रथितासु 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' इत्याद्युक्तिषु बाणप्रशंसा परां कोटिमवजगाहे । बाणः सर्वस्य जगतः सूक्ष्मातिसूक्ष्मं निरीक्षणं कृत्वा स्थाने स्थाने च तस्य वर्णनमकरोत् । एतस्मादेव तदुत्तरवर्तिनां कवीनां काव्यानि बाणोच्छिष्टान्येव वर्तन्ते । बाणभट्टस्य काव्यद्वयमस्ति, 'कादम्बरी', 'हर्षचरितञ्च । कादम्बर्यां बाणेन याद्भुता प्रतिभाद्युतिः प्रदर्शिता सा पराकाष्ठां प्राप्ता । उक्तं हि भूषणभट्टेन समुचितमेव—

"कादम्बरीरसभरेण समस्त एव ।
मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम् ।।"

बाणस्य वर्णनशैली अतिदर्शनीया । बाणस्यप्रकृतिचित्रणं विविधालंकृत्यानु-प्राणितं तस्य सूक्ष्मनिरीक्षणशक्तिमत्वं च प्रमाणयति—

"क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या तपोधनैरदृश्यत ।"

बाणस्य अलौकिकं काव्यकलाकौशलं, अपूर्ववर्णनाशक्तिम्, अनुपमं वाग्विलासं विलोक्य निश्चितमेव एतत् कथयितुं शक्यते यत् स गद्यकविषु सर्वश्रेष्ठः प्रतीयते । बाणस्य शैल्यां विचित्रसूक्ष्मनिरीक्षणशक्तिः प्रकृष्टं प्रकृतिप्रेम अजस्रशब्दराशिः । एते गुणाः सर्वत्र समानरूपेण उपलभ्यन्ते । बाणेन वर्णनस्थलेषु विभिन्नानां शैलीनां प्रयोगः कृतः । भावप्रधानविषये अथवा मार्मिकस्थले तस्य शैली सशक्ता प्रभावोत्पादिका च ।

गद्यकाव्यस्य एवंविधं सौन्दर्यं प्रभावञ्च विलोक्य को नाम न कथयिष्यति यत् गद्यकाव्यं पद्यकाव्यात् अधिकं महत्वपूर्णं प्रभावोत्पादकं चास्ति । गद्ये एव कवयः पूर्णां स्वतन्त्रतां प्राप्य स्वमनोगतभावान् मनोरागान् विचित्रानुभावान् च प्रकटीकुर्वन्ति । गद्यकाव्यरचनातिदुष्करा वर्तते अत एव अस्माभिः इदं कथयितुं शक्यते यत् 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' एषा सूक्तिः पूर्णरूपेण संगच्छते ।

————

विषय-प्रवेश

संस्कृत भाषा तथा व्याकरण

व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानामिति आनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिए व्याकरणशास्त्र का परिज्ञान नितान्त अपेक्षित है। अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत भाषा में व्याकरण को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसी कारण संस्कृत में विविध पद्धतियों में व्याकरण ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है, तैत्तिरीयसंहिता के अनुसार संस्कृत भाषा का सर्वप्रथम व्याकरण ऐन्द्र था। इसके अतिरिक्त पाणिनि से पूर्व काशकृत्स्न, आपिशलि आदि आठ शाब्दिक हो गए हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इन आठों का उल्लेख इनके सम्मानार्थ किया गया है, यथा—लोपःशाकल्यस्य, त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य आदि। पाणिनि व्याकरण के उदय होने पर ये सब पूर्ववर्ती व्याकरण या तो कालग्रास हो गए, अथवा वास्तविकता यह हो सकती है कि विज्ञानपूर्ण पाणिनि व्याकरण के समक्ष वे सब हतप्रभ हो गए हों। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि भगवान् पाणिनि का व्याकरण न केवल भारतवर्ष में अपितु समस्त विश्व में बेजोड़ है।

व्याकरणस्य त्रिमुनि : पाणिनि

पाणिनि यद्यपि बचपन में सर्वथा जड़बुद्धि थे, इनकी जड़बुद्धि से नितान्त खिन्न गुरु ने इन्हें सार्द्धचन्द्र देकर निष्कासित भी कर दिया था। इस प्रकार गुरु से अपमानित होकर पाणिनि ने आशुतोष भगवान् शिव से चतुर्दश निर्देशक तत्त्व प्राप्त किए। उसी चतुर्दशनिर्देशिका के आधार पर समस्त व्याकरण पल्लवित हुआ। पाणिनि का अष्टाध्यायी संसार में अनुपम ग्रन्थ है। पाणिनि सूत्रकार के नाम से सर्वत्र व्यवहृत हुए हैं।

कात्यायन

पाणिनि के पश्चात् कात्यायन का नाम व्याकरण में विशिष्ट स्थान रखता है। कात्यायन ने पाणिनि के दुरुक्त, अनुक्त एवं द्विरुक्त पर विचार कर वार्तिक प्रणयन से व्याकरण को विशेष प्रस्फुटित करने का प्रयास किया है। जैसा कि कहा है—महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्येति।

पतञ्जलि

भगवान् पतञ्जलि शेषावतार माने जाते हैं। इन्होंने पाणिनि-सूत्रों का विशिष्ट समाधान किया जो महाभाष्य के नाम से भी प्रसिद्ध है। अजाभक्षित होने से अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का महाभाष्य उपलब्ध नहीं है। व्याकरणशास्त्र में इनका दिशा निर्देश सर्वथा सर्वोपरि एवं प्रामाणिक माना गया है। इनकी महाभाष्य कृति विश्व में अनुपम है।

भट्टोजिदीक्षित

महावैयाकरण दीक्षित ने पाणिनि व्याकरण सूत्रों के आधार पर अर्थ ज्ञान सम्भव न होने से सरलातिसरल भाषा में तीन हजार नौ सौ पिचेत्तर सूत्रों में अस्पष्टार्थ प्रतिपादक-सूत्रों की वृत्ति लिखी, जिसे सूत्रवृत्ति कहा जाता है। दीक्षित ने अपनी वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी नामक कृति के द्वारा व्याकरण को सुगम बनाया है। माला के समान प्रक्रियोपयोगी सूत्रों का चयन करके साधुत्व सम्पादन करना सर्वथा स्तुत्य प्रयास है। आज यत्र-तत्र जो व्याकरणाध्ययन के प्रसार में एकमात्र हेतु है, वह दीक्षित कृति सिद्धान्त कौमुदी ही है।

वरदाराजाचार्य

भट्टोजिदीक्षित के पश्चात् द्वितीय महत्त्वपूर्ण नाम उन्हीं के शिष्य वरदराज का है। मध्यसिद्धान्त कौमुदी जो वरदराज की ही कृति है, उसके मंगलाचरण श्लोक में वरदराज ने अपने गुरु की वन्दना की है—

नत्वा वरदराजः श्रीगुरुन् भट्टोजिदीक्षितान् ।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्त कौमुदीम् ।।

इस प्रकार वरदराज का स्थितिकाल सत्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध रहा होगा। इनके पिता का नाम दुर्गातनय था, जैसा कि सारसिद्धान्त कौमुदी से प्रकट होता है—

कृता वरदभट्ट श्रीदुर्गातनयसूनुना ।
वेदवेदप्रवेशाय सारसिद्धान्तकौमुदी ।।

इनके द्वारा रचित चार ग्रन्थ मिलते हैं—लघुसिद्धान्त कौमुदी जिसे लघु-कौमुदी भी कहते हैं, मध्यसिद्धान्त कौमुदी तथा सारसिद्धान्त कौमुदी जो भट्टोजि-दीक्षित रचित सिद्धान्त कौमुदी के ही संक्षिप्त संस्करण हैं। लघुसिद्धान्त कौमुदी का प्रणयन संस्कृत-व्याकरण के प्रारम्भिक पाठकों के लिए किया गया है—

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्त कौमुदीम् ।।

लघुसिद्धान्त कौमुदी की विशेषता

लघु कौमुदी में अनावश्यक विस्तार नहीं किया गया है। इसमें केवल उपादेय सूत्रों को ही लिया गया है जिनमें केवल लौकिक तथा व्यावहारिक प्रयोगों के सम्पादनार्थ लौकिक नियमों को ही ग्रहण किया गया है। मध्यसिद्धान्त कौमुदी या सिद्धान्त कौमुदी इससे अति विस्तृत है, उसमें न केवल लौकिक व्याकरण नियमों का संकलन ही है अपितु लौकिक एवं वैदिक शब्दों का विवेचन भी व्यापक रूप से किया गया है। यथा—

'इत्थं लौकिक शब्दानांङ्मात्रंहि दर्शितम्' कहकर लौकिक नियमों के अतिरिक्त स्वरवैदिक प्रक्रिया का निर्माण कर वैदिक शब्द साधुत्व विवेचन का भी विस्तार से उल्लेख किया गया है। यद्यपि वरदराज के चार ग्रन्थ हैं, तथापि इन

चारों में लघुसिद्धान्त कौमुदी का प्रचार इसलिए अधिक हुआ कि यह एक समुपादेय प्रारम्भिक ग्रन्थ है। आज भी लघुकौमुदी को व्याकरण का सर्वोत्तम प्रारम्भिक ग्रन्थ माना जाता है। आधुनिक विद्वानों ने आजकल अनेक इस प्रकार के ग्रन्थों का प्रणयन करने की चेष्टा की है, किन्तु जो विशेषता या उपादेयता लघु-कौमुदी की है, वैसी इदानींतन वैयाकरणों द्वारा रचित कौमुदियों की नहीं है।

यद्यपि वरदराज ने व्याकरण क्षेत्र में किसी मौलिक ग्रन्थ की रचना नहीं की, तथापि लघुसिद्धान्त कौमुदी द्वारा पाणिनीय व्याकरण को लोकप्रिय बनाने में इनका मूर्धन्य स्थान था। आज इस ग्रन्थ का सभी विश्वविद्यालयों के संस्कृत पाठ्यक्रम में सन्निवेश है। इस प्रकार यह व्याकरणशास्त्र का प्रारम्भिक अनुपम ग्रन्थ होने से यह निर्विवाद सत्य है कि लघुकौमुदी का महत्त्व वास्तव में शीर्षस्थ है तथा अनादिकाल से इसका प्रचलित अध्ययन ही इसकी लोकप्रियता का एकमात्र प्रमाण है। इसके सम्यक् अध्ययन से व्याकरण का सार-भूत विवेक अवश्य होता है, इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह न होने से कौमुदी की अपने आप में एक विशिष्ट विशेषता है जिसको विद्वान् सम्यक् पहिचानते हैं।

इस पुस्तक की विशेषता

राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम. ए. उत्तरार्द्ध के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक का निर्माण किया गया है, जिसमें—

(1) कारक प्रकरण—सिद्धान्त कौमुदीस्थ।

(2) कृदन्त, स्त्रीप्रत्यय, समास—वरदराजाचार्यकृत लघुकौमुदीस्थ।

(3) अपठित गद्यावतरण तथा पद्य-खण्ड।

(4) अशुद्धि संशोधन वाक्य।

(5) परिशिष्ट—कतिपय द्रष्टव्य उपयोगी प्रश्न एवं संशोधित वाक्यों सहित।

कारक प्रकरण में सूत्रों की सरलातिसरल सुबोध व्याख्या के अतिरिक्त द्रष्टव्य प्रयोगों का चयन कर उन्हें सिद्ध किया गया है। यत्र-तत्र जो कारक प्रकरण में वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है, यथा—गंगायां घोषः, रुच्यर्थक होने पर भी अभिलषति के योग में चतुर्थी क्यों नहीं होती, सतीसप्तमी की विशेषता आदि विषय जात का प्रश्न बना कर समाधान किया गया है। इसी प्रकार समासों में आन्महतः सूत्र से विधीयमान आत्व—'महती सेवा' इस विग्रह में हो सकता है। यदि महतां सेवा यह षष्ठ्यन्त विग्रह होने पर समानाधिकरण के अभाव में आत्व नहीं होता, क्योंकि एकार्थ प्रदियादत्व तथा वैकविभक्तित्वरूप (अर्थात् एक अर्थ को कहते हों एवं दोनों समान विभक्तिक हों) का समानाधिकरण नहीं है।

इसी प्रकार कृदन्त में भी विशिष्ट सूत्रों की व्याख्या, विशिष्ट प्रश्न, जैसे—'सुप्यजातौ विनिताच्छिल्ये' सूत्र उष्णं कदाचित् भुंक्ते में णिनि करता, यहाँ वाक्यमात्र का ही प्रयोग किया जाना अपेक्षित है।

इसी प्रकार स्त्री प्रत्यय में टाप्, ङीप्, ङीष्, ङीन्, ति, ऊङ्, इन प्रत्ययों का विवेचन सोदाहरण किया गया है। साथ ही उपादेय सूत्रों का विशेष विवेचन किया गया है, जैसे—पुंयोगादाख्यायाम् में पुंयोग केवल दाम्पत्य मात्र का ही नहीं होता किन्तु जन्यजनक भाव भी गृहीत होता है। अतएव 'कैकेयी कामाःफलिता स्तवेति' इस उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

इन सबके अतिरिक्त पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट भाग भी संलग्न किया गया है, जिसमें व्युत्पत्ति-संशोधन, सोदाहरण कारक, समास, कृदन्त प्रकरण से सम्भावित प्रश्नों का संकलन छात्रों के लिए विशेषकर उपादेय होगा।

कॉलेज बुक डिपो, त्रिपोलिया बाजार, जयपुर के संचालक सहृदय श्री जैन महोदय की प्रेरणा से छात्रहित में यथाबुद्धि विवेचन किया गया है। आशा है इससे एम. ए. के छात्रों का विशेष हित होगा। इस पुस्तक के प्रणयन तथा पाण्डुलिपि निर्माण में श्री भँवर लाल शर्मा, व्याख्याता राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, भानपुरकलाँ का तथा डॉ. श्यामनारायण का पूर्ण सहयोग रहा है, एतदर्थ हम आप दोनों का हृदय से आशीर्वचन करते हैं। साथ ही श्री जैन साहब, कॉलेज बुक डिपो का समभिनन्दन करते हैं।

अन्त में सभी से सानुरोध निवेदन है कि गच्छतः स्खलन न्यास से जो कुछ स्खलन इसमें हुआ हो उसे शुद्ध करने की कृपा करें।

विदुषां वंशवदः

चण्डीप्रसाद आचार्य

अथ कारकप्रकरणम्

प्रथमाविभक्तिविवेचनम्

प्रश्न 1. प्रातिपदिकार्थ सूत्र की व्याख्या करते हुये निम्नांकित बिन्दुओं का विवेचन कीजिये—

(क) प्रातिपदिकार्थ क्या है ?

(ख) 'परिमाणमात्र' का सोदाहरण विवेचन कीजिये ।

1. प्रातिपदिकार्थलिङ्ग परिमाणवचनमात्रे प्रथमा ।।2/3/46।।

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः । मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः । प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्राद्याधिक्ये, परिमाणमात्रे, संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् । उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम् । अलिङ्गा नियतलिङ्गश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम् ।

अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राद्याधिक्यस्य । तटः, तटी, तटम् ।

परिमाणमात्रे-द्रोणो व्रीहिः । द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः । प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम् । प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः । वचनम्-सङ्ख्या । एकः, द्वौ, बहवः । इह उक्तार्थत्वाद् विभक्तेरप्राप्तौ वचनम् ।

सूत्र-व्याख्या—जिस अर्थ की नियत (व्यापक) रूप से उपस्थिति (बोध) होती है वह ही नियतोपस्थितिक प्रातिपदिकार्थ कहलाता है । उसी प्रातिपदिकार्थ के उच्चारण करने पर अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्ति से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उस (नियतोपस्थितिक प्रातिपदिकार्थमात्र) में प्रथमा विभक्ति होती है । सूत्र में स्थित मात्र शब्द का प्रत्येक के साथ योग है, अतः प्रातिपदिकार्थमात्र के अतिरिक्त लिङ्गमात्र की अधिकता में, परिमाणमात्र की प्रतीति में, एवं केवल संख्या अर्थ के प्रत्यायक शब्दों से प्रथमा विभक्ति होती है ।

अलिङ्ग और नियतलिङ्ग रूप से उभयविध शब्दों में प्रातिपदिकार्थमात्र से प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे—अलिङ्ग में अधिकरण शक्ति प्रधान-उच्चत्व, नीचत्व विशिष्ट स्थान अर्थ वाले उच्चैस् और नीचैस् से प्रथमा एकवचन के अव्यय होने से लुक् सकार का रुत्व विसर्ग, प्रत्यय लक्षण से पदत्व उच्चैः बना है । यहाँ

'सपूर्वायाः' से विकल्प आदेश है तथा केवल प्रातिपदिकार्थ का बोध है। इसी प्रकार 'कृष्ण' शब्द नियतलिङ्ग पुंस्त्व विशिष्ट वसुदेव के पुत्र रूप अर्थ का प्रत्यायक है प्रथमा—कृष्ण। भक्तजनों के पापों को दूर करने वाला। नित्य स्त्रीलिङ्ग क्विप् प्रत्ययान्त नीर्घत्व विशिष्ट विष्णुपत्नी रूप अर्थ वाचक से प्रथमा—श्रीः। ज्ञप्ति को ज्ञान कहते हैं, अतः यहाँ भावार्थक ल्युट् प्रत्ययान्त केवल ज्ञान रूपार्थ नित्य नपुंसक से प्रथमा—ज्ञानम्। लिङ्ग विषयक प्रतीति जहाँ नहीं होती है वे अव्यय एवं नियतलिङ्ग वाले शब्द प्रातिपदिकार्थ मात्र के उदाहरण हैं।

अनेक लिङ्गयुक्त यथा 'तट' शब्द है, वैसे शब्दों में प्रातिपदिकार्थ की अपेक्षा लिंग रूप अर्थ की प्रतीति भी है वे लिंगमात्राधिक्य के उदाहरण हैं। जैसे—पुल्लिग में तटः, स्त्रीलिंग में जाति लक्षण ङीषन्त तटी, नपुंसक में सु को अम् पूर्वरूप से 'तटम्' बना।

परिमाण परिच्छेदक मात्रार्थक है सांकेतिरार्थक नहीं है। अतः विस्तः, पुरुषः, घृतम्, काण्डम्, द्रोणः आदि से प्रथमा विभक्ति उत्पन्न हुई है।

परिमाणमात्र के उदाहरण 'द्रोणो व्रीहिः' में द्रोण प्रातिपदिक से परिमाण रूप अर्थबोधिका प्रथमा उत्पन्न है। द्रोण परिमाण विशेष का वाचक है प्रकृत्यर्थ द्रोणरूपार्थ का परिमाण रूप प्रत्ययार्थ में विशेष्य विशेष्य भाव सम्बन्ध (अभेदो वा) से अन्वय है, वह सम्बन्ध अभेदस्वरूप है। प्रकृत में जहाँ 'अभेद' शब्द है वहाँ विशेष्य-विशेषण भाव रूप सम्बन्ध ज्ञान मानसिक करना चाहिये। द्रोणाभिन्नं यत् परिमाणम्= अर्थात् द्रोण स्वरूप परिमाण, इस प्रत्ययार्थ=परिमाण का व्रीहिरूपार्थ में परिच्छेद्य-परिच्छेदक भावरूप सम्बन्ध से अन्वय है। नापने वाले को परिच्छेदक कहते हैं यथा प्रकृत में द्रोण, जो वस्तु नापी जाय उसे परिच्छेद कहते हैं। यथा—व्रीहि=धान। व्रीहिपद से उत्तर प्रथमा प्रातिपदिकार्थ ही है, जातिनिर्देश है, अतः एकवचन है, वस्तुतः—'व्रीहयः' यह निर्देश उचित था अनेक व्रीहियों का परिच्छेद्य है। एक नहीं।

द्रोणपदार्थ प्रत्ययार्थ परिमाण में अभेद सम्बन्ध से विशेषण है, परिमाण रूप अर्थ में विशेष्यता है, एवं विशेषणता भी है। परिच्छेद्य भाव से व्रीहि अर्थ में केवल विशेष्यता है='द्रोणाभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिः' यह अर्थ सम्पन्न हुआ।

अब यहाँ यह शंका होती है कि प्रातिपदिकार्थ में ही द्रोण से प्रथमा सिद्ध थी पुनः परिमाण में प्रथमा करने के लिये सूत्र में परिमाण ग्रहण क्यों किया? द्रोणार्थ रूप प्रातिपदिकार्थ में 'द्रोण' शब्द से प्रथमा विभक्ति आने पर प्रत्ययार्थ भी नामार्थ ही हुआ, उसका व्रीहिरूप नामार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध होकर द्रोण स्वरूप व्रीहि=द्रोणाभिन्न व्रीहि इस अनिष्टार्थ की प्रतीति होगी। यह परस्पर बाधित है तथा परिच्छेद एवं परिच्छेद्य का भेद है अभेद नहीं है, नामार्थ=प्रातिपदिकार्थ का नामार्थ=प्रातिपदिकार्थ के साथ अभेदान्वय ही है—"नामार्थनामार्थयोरभेदान्वयः।"

यदि नामार्थ का नामार्थ में भेद सम्बन्ध से अन्वय करना है तो प्रत्ययार्थ द्वारा ही होता है। अर्थात् नामार्थ का प्रत्ययार्थ में अन्वय एवं प्रत्ययार्थ का नामार्थ में अन्वय एवं इसलिये सूत्र में परिमाण ग्रहण किया है। 'नामार्थनामार्थयोरभेदान्वयः' नियम अस्वीकार करने पर 'राजा पुरुषः' यहाँ राज पदार्थ का स्वत्व सम्बन्ध से पुरुष में अन्वय होने लगेगा एवं 'भूतलं घटः' यहाँ भूतल का आधेयता सम्बन्ध से घट में अन्वय होने लगेगा।

किन्तु यह परिमाणग्रहण पद संस्कार पक्ष में द्रोण से प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा कर द्रोणः सिद्ध करने के पश्चात् व्रीहिः का उसके साथ संयोजन करने पर अभेदान्वय प्राप्त है जो वह बाधित (असम्भव) है। अतः यहाँ द्रोणपरिच्छिन्न में लक्षणा करेंगे (अर्थात् द्रोणपरिच्छेदक से नपी हुई वस्तु) द्रोणपरिच्छिन्न का अभेद से व्राहिर्थ में अन्वय करेंगे तो कोई दोष नहीं रहेगा, फिर सूत्र में परिमाण ग्रहण क्यों किया ? इसका समाधान यह है कि 'द्रोण' शब्द अनेकार्थ है, यथा महाभारत में प्रसिद्ध द्रोणाचार्य, एवं दोण=काक का नाम भी है—

के शवं पतितं दृष्टवा द्रोणो हर्षमुपागतः।
रुदन्ति कौरवाः सर्वे हाहा केशव केशव !॥

यहाँ जलस्थित शव को देखकर काक हर्ष से भर गया एवं जलस्थित शव भक्ष्य न होने से सियार रोने लगे। द्रोण परिमाण भी है, अतः नियतोपस्थितिक नहीं है, प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा अप्राप्त है अतः सूत्र में परिमाण ग्रहण किया है। इसी प्रकार प्रातिपदिकार्थ सूत्र में प्रवृत्तिनिमित्त (धर्म) एवं तदाश्रय (धर्मी) दोनों प्रातिपदिकार्थ से गृहीत हैं। 'द्रोण' शब्द द्रोणत्व द्रोण को जिस प्रकार बोधन करता है उसी प्रकार वह परिमाणत्व परिमाण का भी बोधन करता है। अतः प्रातिपदिकार्थ से अप्राप्त प्रथमा के विधानार्थ सूत्र में 'परिमाण' शब्द का ग्रहण किया गया है।

सूत्र में स्थित 'वचनम्' का शब्दार्थ संख्या है, तथा एकः, द्वि एवं बहु शब्द से एकत्व, द्वित्व एवं बहुत्व संख्या कही गयी है, अतः जो अर्थ प्रकृति से उक्त हो तदर्थक विभक्ति से यहाँ क्रमशः एकवचन, द्विवचन एवं बहुवचन 'उक्तानाभप्रयोगः' इस न्यास से अप्राप्त रहा। यह न्याय अपूर्व नहीं है किन्तु अनन्यलब्ध अर्थ ही शब्द (या विभक्ति) का वाच्य होता है, अपूर्व अर्थ बोधकता जहाँ न रहे वहाँ अर्थ बोधक प्रत्ययादिकी उत्पत्ति न होना स्वाभाविक ही है। तथापि इस सूत्र में वचन ग्रहण-सामर्थ्य से एकादि से क्रमशः विभक्ति तदर्थवादिका हुई है। सर्वथा अनन्वितार्थक विभक्ति न लाकर प्रकृत्यर्थ में अन्वय योग्य विभक्ति ही उत्पन्न हुई है। यथा एकः, द्वौ, बहवः यहाँ एकत्व, द्वित्व, बहुत्व अर्थों की वाचिका प्रकृतियाँ हैं, विभक्तियाँ, अनुवादिका हैं, विभक्ति का फल सुबन्त होकर पदसंज्ञा आदि हैं। अतः यहाँ नियतोपस्थितिक अर्थ में भिन्न अर्थ का अभाव रहने से प्रातिपदिकार्थ से प्रथमा हुई है।

2. सम्बोधने च ॥ 2/3/47 ॥

इह प्रथमा स्यात् । हे राम !

सूत्र-व्याख्या—प्रातिपदिकार्थ की अपेक्षा जहाँ सम्बोधन रूप की अधिक प्रतीति रहे वहाँ सम्बोधन में प्रातिपदिक से प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे—हे राम ! यहाँ उत्पन्न विभक्ति का 'एङ् ह्रस्वात्' से लोपे हुआ है। जो सम्मुख नहीं है उसको सन्मुख करने के व्यापार को सम्बोधन कहते हैं—'अनभिमुखक्य अभिमुखीकरणं सम्बोधनम्' यहाँ विभक्ति का अर्थ सम्बोधन रूप उस प्रकृत्यर्थ के प्रति विशेष है एवं क्रिया के प्रति विशेषण है। सम्बोधनार्थ का क्रिया में अन्वयबोध होता है, यथा—

सम्बोधनपदं यच्च तत् क्रियायां विशेषणम् ।
वजानि देवदत्तेति निघातोऽभ तथा सति ॥

तथा सिद्ध वस्तु ही जहाँ उपस्थित रहती है वहाँ ही प्रथमा होती है। बाल्यावस्था में 'राजन् ! भवयुध्यस्व' (तुम राजा हो जाओ और युद्ध करो) इस प्रकार के वाक्य में सम्बोध्य राजत्व रूपार्थ प्रथमतः सिद्ध नहीं है, अतः यहाँ सम्बोधन विभक्ति नहीं होती है। तथा हे देवदत्त ! "मेरे गमन का काल प्राप्त हुआ।" यहाँ सम्बोधन हुआ है।

प्रश्न 2 कारक किसे कहते हैं ? सम्बन्ध को कारक क्यों नहीं माना गया ? सप्रमाण विवेचन कीजिए।

3. कारके च ॥ 1/3/23 ॥

इत्यधिकृत्य ।

सूत्र-व्याख्या—कर्तृ कर्मादि व्यपदेश में निमित्त को कारक कहते हैं।—'करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशान् इति कारकम्।' क्रियान्वित्वम् कारकत्वम्—अर्थात् क्रियाजनक एवं क्रिया में साक्षात् अन्वत्री को कारक कहते हैं। 'राज्ञः पुरुषः' इसी षष्ठीयुक्त वाक्य में कारक की परिभाषा का समन्वय न होने से षष्ठी कारक विभक्ति नहीं है। अतः कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण ये ही कारक माने गये हैं।

प्रश्न 3. कर्तुरीप्सिततम सूत्र की व्याख्या निम्न तथ्यों के विवेचन सहित कीजिए—

(क) माषेष्वश्वं बध्नाति—यहाँ माष में द्वितीया क्यों नहीं होती ?

(ख) सूत्र में तमप् ग्रहण के प्रयोजन का विवेचन कीजिये।

(ग) अभिधानं त प्रायेण तिङ् कृत् तद्धित् समासैः—इसकी सोदाहरण व्याख्या करें तथा इसमें प्रायेण पदोपात्तन का रहस्य समझावें।

द्वितीया-विभक्ति विवेचनम्—

4. कर्तुरीप्सिततमं कर्म ॥1/4/49॥

कर्तुः क्रियाया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

कर्तुः किम्—माषेष्वश्वं बध्नाति, कर्मण ईप्सिता माषा न कर्तुः । तमप्ग्रहणं किम् ?—पयसा आदेनं भुङ्क्ते । कर्मेत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम् । अन्यथा गेहं प्रविशत्यभैव स्यात् ॥

सूत्र-व्याख्या—कर्ता में रहने वाले जिस प्रकृत-धात्वर्थ व्यापार से उत्पन्न फल का, जो फलतावच्छेदक सम्बन्ध से आश्रय है उस से सम्बन्ध करने के लिये जो अत्यन्त इष्ट है, उसकी कारक संज्ञापूर्वक कर्मसंज्ञा होती है । फल एवं व्यापार रूप से धातु के दो अर्थ हैं । व्यापार का जनक कर्ता आदि हैं, व्यापार जन्य है एवं जनक भी है तथा फल जन्य है जो व्यापार से उत्पन्न होता है । व्यापार का अनाश्रय होते हुये जो फलाश्रय है उसकी कर्म संज्ञा होती है । अन्य कारक से अनधीन व्यापाराश्रय की कतृसंज्ञा होती है । यथा—

'चैत्रो ग्रामं गच्छति' इस वाक्य में गम् धात्वर्थ व्यापाराश्रय चैत्र है । चैत्रनिष्ठ क्रिया जन्य फल संयोग है, संयोगाश्रयत्व से अतिशय सम्बन्ध करने को इष्ट ग्राम है, अतः उसकी कारक संज्ञा होकर कर्म संज्ञा हुई तथा कर्मवाचक प्रातिपदिक से द्वितीया होकर 'चैत्रो ग्रामं गच्छति' व्यापार का अनधिकरण संयोगाश्रय चैत्र नहीं, किन्तु ग्राम होने से ग्राम में द्वितीया हुई ।

सूत्र में कर्ता की क्रिया से अत्यन्त इष्ट पदार्थ की ही कर्म संज्ञा करना अभिप्रेत है, क्योंकि (कर्तुः) ग्रहण न करने पर 'माषेषु अश्वं बध्नाति' इसमें अश्वनिष्ठ भक्षण क्रिया जन्य फलाश्रय रूप से सम्बन्ध करने को इष्ट माषों की भी कर्म संज्ञा होकर 'माषान् अश्वं बध्नाति' यह होने लगेगा । कर्तुः ग्रहण करने पर यहाँ बन्धन क्रिया कर्ता क्षेत्र का स्वामी है । उसमें रहने वाली क्रिया बन्धन है, उसका फलाश्रय अश्व है, उसकी ही कर्म संज्ञा हुई है । अश्व तो यहाँ कर्म है उसको माषभक्षण इष्ट है । "कर्मणः ईप्सिता भाषा न कर्तुः" इससे यही सूचित किया है ।

"तमम् ग्रहणं किम् ?"—सूत्र में तमम्ग्रहण क्यों किया है ? इसका आशय यह है कि 'कर्तुरुद्देश्यं कर्म' के साथ पर ईप्सित और तमप् दोनों की ही आवश्यकता है । जहाँ कर्ता भोजन कर चुका था किन्तु उसको भाजनार्थ पुनः प्रवृत्त करने के लिए पयोलाभ का लालच यदि कोई देता है वहाँ 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' यही भोजन कर्ता का उद्देश्य भूतपय होने से वहाँ उस (पय) की कर्म संज्ञा नहीं होती एतदर्थ 'ईप्सित' ग्रहण किया है । फलाश्रयत्व से सम्बन्ध को ओदन ही इष्ट है, पय नहीं तमप् ग्रहण न करने पर 'वारणार्थानाम् ईप्सितः' एवं सूत्र का एक समान विषय होगा, ऐसी परिस्थिति में 'अग्नेर्माणवकं वारयति' यहाँ अग्नि की कर्म संज्ञा होगी, यदि अपादान संज्ञा–विशेष से इसका बाध होगा तो माणवक की भी अपादान संज्ञा कर 'अग्नेर्माणवकात् वारयति' यह अनिष्ट रूप आपत्ति होगी । अतः तमप् करने पर अतिशय इष्ट की कर्म संज्ञा तथा केवल इष्ट की अपादान संज्ञा यह विषय-विभाग निर्दोष सिद्ध हुआ । यहाँ फल पद से धातु वाच्य फल गृहीत हुआ, अन्य नहीं ।

'अधिशीङ्' सूत्र से कर्म की अनुवृत्ति यहाँ आती है तो पुनः कर्म ग्रहण क्यों किया ? वहाँ से कर्म आधार—संयुक्त आता तो आधारभूत, की कर्म संज्ञा होती—'गेहं प्रविशति', वह गेह प्रवेशन क्रिया जन्य संयोग का आधार है। किन्तु हरिं भजति, पुस्तकं चैत्रः पठति, वहाँ हरि एवं पुस्तक आधार-भूत कर्म न होने से उनकी कर्म संज्ञा न होगी। अतः आधारभूत अनाधार भूत फलाश्रय की कर्म संज्ञार्थ कर्मग्रहण सार्थक है।

प्रश्न 4. अभिधानन्तु प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। इस मूल पंक्ति की व्याख्या सोदाहरण कीजिये। 'यहाँ आयेगा' पदोपक्षय का स्वरूप भी समझावें।

5. अनभिहिते ॥2/3/1॥

इत्यधिकृत्य ।

सूत्र-व्याख्या—यह अधिकार सूत्र है, विभक्ति-विधायक अग्रिम सूत्रों में इसकी अनुवृत्ति होती है। अभिहितक कथित को कहते हैं। अन्नभिहित=अनुक्त या अकथित समानार्थक हैं।

6. कर्मणि द्वितीया ॥2।3।2

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहितेतु कर्मणि 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इति प्रथमैव। अभिधानन्तु प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। तिङ्-हरिः सेव्यते। कृत्-लक्ष्म्या सेवितः। तद्धितः-शतेन क्रीतः शत्यः। समासः—प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः। क्वचिन्निपातेनाभिधानम्, यथा-विष वृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेतुमसाम्प्रतम्। साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—अनुक्त कर्म-संज्ञा वाचक शब्द से द्वितीया विभक्ति उत्पन्न होती है। यथा–भक्त हरि की सेवा करता है—भक्तो हरिं भजति, यहाँ भक्तनिष्ठ व्यापार से उत्पन्न प्रीति रूप फलाश्रय हरिकी कर्म संज्ञा है, तद्वाचक 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई है। कर्तृ-कर्मादि संज्ञायें अर्थ की होती हैं, उसका वाचक केवल शब्द है, उसी प्रकार कारक संज्ञा भी अर्थ की है शब्द वाचक है। (अर्थस्येयं संज्ञा न शब्दस्य)। जहाँ कर्मादि का अभिधान रहे वहाँ प्रथमा विभक्ति ही होगी। प्रायः यह अभिधान तिङ्, कृत्, तद्धित एवं समास से होता है। नीचे एक-एक उदाहरण ज्ञानार्थ दिया जा रहा है, यथा—

(1) तिङ्—'हरिः सेव्यते' (चैत्रेण)—यह कर्माणि प्रयोग है। यहाँ लट्लकार कर्म में है। जिस अर्थ में जो होता है, उसका वह अर्थ है। लकार का कर्म रूप अर्थ है, उसके स्थान में जायमान 'त' प्रत्यय का भी कर्म अर्थ है, स्थानी के अर्थ बोधन करने में समर्थ हो वही आदेश होता है। हरि रूप कर्म 'त' प्रत्यय से उक्त है, अतः हरि से प्रथमा, यहाँ कर्ता अनुक्त है अतः कर्तृवाचक से तृतीया (चैत्रेण) हुई है।

(2) कृत्—'लक्ष्म्या सेवितो हरिः' यहाँ लक्ष्मी कर्त्री है उनुक्त होने से उससे तृतीया, सेवितः में कृत्यत्यय क्त कर्म में विहित है उससे हरि रूप कर्म उक्त है, अतः कर्मवाचक से प्रथमा।

(3) **तद्धित**—'शतेन क्रीतः शत्यः' यहाँ क्रयण (खरीद) करने में शत प्रकृष्ट उपकारक है, वह करण है अतः 'शतेन' में करण में तृतीया है, तद्धित प्रत्यय यत् कर्मार्थक है, उससे क्रयण कर्म अश्वादि उक्त है, अतः प्रथमा हुई है 'क्रीतम अश्वम्' नहीं हुआ।

(4) **समास**—'प्राप्तः आनन्दो यं सः' यहाँ प्राप्ति कर्म आनन्द समास से उक्त है, अतः वहाँ प्रथमा ही हुई है 'प्राप्तम्-आनन्दम्' न हुआ।

(5) 'विषवृक्षोऽपि' यहाँ 'संवर्धन'-क्रिया कर्म-विषवृक्ष से द्वितीया प्राप्त थी जो 'विषवृक्षम्' होना चाहिये किन्तु 'अपि' निपात अनेकार्थक है, उससे यहाँ कर्मरूप अर्थ उक्त है, अतः प्रथमा विभक्ति हुई है। विषवृक्ष का पौधा लगाकर वह वृक्षाकार प्रवृद्ध हुआ। उसका स्वयं काटना अनुचित है, "वह राक्षस हमसे ही वरदान प्राप्त कर वृद्धिगत हुआ उसका मैं कैसे नाश करूँ, यह तो सर्वथा अनुचित है" यह शङ्करोक्ति तारकासुर के सम्बन्ध में देवगण समक्ष पुरा कही गई थी। इसी प्रकार "क्रमादमुं नारद इत्यबोधिसः" इस प्रकार की गुजरात प्रान्त के महाकवि माघ की कृति में ज्ञानाश्रय नारद की कर्म संज्ञा न हुई 'इति' निपात् से कर्म-अर्थ उक्त है।

प्रश्न 5. अभीप्सित कितने प्रकार का होता है, यह समझाते हुए सूत्र की व्याख्या करें।

7. तथायुक्तं चानीप्सितम् ।।1/4/50।।

ईप्सिततमवदनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति। ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते।

सूत्र-व्याख्या—ईप्सिततम के समान क्रियायुक्त अनीप्सित कारक की भी कर्म संज्ञा होती है। यथा 'गाँव को जाता हुआ मार्गस्थ तृण का स्पर्श करता है।' यहाँ तृण-स्पर्श ईप्सित नहीं है किन्तु मध्यमार्ग स्थित होने से उसका स्पर्श अनिच्छया भी हो जाता है, यथा—'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति।' शत्रु के घर में धोखे से भात खाते समय विष भी खालेता है, यह विष ईप्सित नहीं है तो भी कर्म संज्ञा हुई है, यथा—'ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते।' जहाँ असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति मरण को ही अपना श्रेयः साधन मानकर इच्छा से विष-पान करता है, वहाँ तो 'विषं भुङ्क्ते' में विष ईप्सियततम ही है, अतः वहाँ द्वितीया हुई है।

प्रश्न 6. द्विकर्मक धातुओं का परिगणन प्रयोजन समझते हुये अकथितञ्च सूत्र का विषय स्पष्ट करें।

8. अकथितञ्च ।।1।4।51।।

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कमसंज्ञं स्यात्।

"दुह्याच्पच्दण्डरुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम् ।
कर्मयुक् स्याद कथितं तथा स्यान्नीहृक्कृषवहाम् ।"

दुहादीनां द्वादशानां नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्तव्य-मित्यर्थः। गांदोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। अविनीतं विनयं

याचते । तण्डुलान् ओदनं पचति । गर्गान् शतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्धि गाम् । माणवकं पन्थानं पृच्छति । वृक्षमवचिनोति फलानि । माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । शतं जयति देवदत्तम् । सुधां क्षरिनिधिं मघ्नाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । ग्राम-मजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा ।

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा । बलिं भिक्षते वसुधाम् माणवकं । धर्मं भाषते । अभिधत्ते वक्ति इत्यादि । कारकं किम् ? माणकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति ।

अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽश्वाच कर्मसंज्ञक इति वाच्यम् ।" कुरून् स्वपिति । मासमास्ते गोदोहमास्ते । क्रोशमास्ते ।

सूत्र-व्याख्या—अपादान आदि विशेष से अविवक्षित कारक की कर्म संज्ञा होती है । उन संज्ञाओं की विवक्षा जहाँ न रहे उसके 'अकथित' कहते हैं । कर्ता में लकार करने पर कर्म अनुक्त हो जाने से उस कर्म को भी अकथित कहते हैं, उस से द्वितीया विभक्ति होती है । अकथित कर्म प्रदर्शनार्थ यह कारिका प्रस्तुत की गई है—'दुह्याच्' ।

कारिका में उल्लिखित 16 धातुओं की वाच्य क्रियाओं से उत्पन्न फलों के आश्र भूत अर्थों की कर्म संज्ञा तो 'कर्तु रीप्सिततमम्' व रेगा । वह कर्म इन धातु वाच्य व्यापारों का प्रधान कर्म कहलाता है, उन प्रधान कर्मों से योग रखने वाला अपादानादि विशेष से अविवक्षित कारक की कर्मसंज्ञा इससे होती है, (अतः) यह गौण–(अप्रधान) कर्म कहा जाता है । किस कर्म में किससे लकार हो उस समय 'गौणे कर्मणि' से ज्ञात होता है, यथा 'गोदुह्यते' पयः' 'अजा ग्रामं नीयते' ।

(1) 'गाय से दूध दोहता है'—यहाँ अलगाव में पञ्चमी अपादान से होनी चाहिए थी किन्तु कारकविवक्षाधीन है अतः अपादान त्वेन गौ की विवक्षा नहीं की, इससे कर्मसंज्ञा—'गां दोग्धिणयः ।' हुई ।

(2) 'बलिराज से पृथ्वी माँगता है',—यहाँ वसुधा कर्म से सम्बद्ध बलि का अपादानत्वेन अविवक्षा है, अतः कर्म संज्ञा से द्वितीया 'बलिं याचते वसुधाम्' बना ।

(3) 'अविनीत से विनय की याचना करता है'—यहाँ अविनीत की अपादानत्वेन अविवक्षा है, इससे कर्मसंज्ञा हुई—'अविनीतं विनयं याचते ।'

(4) 'चावल से भात पकाता है'—यहाँ तण्डुल की इससे कर्म संज्ञा हो गई—'तण्डुलान् ओदनं पचति ।'

(5) 'गर्गों से सौ रुपये दण्ड रूप में ग्रहण करता है'—यहाँ गर्ग की अपादानत्वेन अविवक्षा होने से इससे कर्म संज्ञा कर—'गर्गान् शतं दण्डयति' बना । वास्तव में महान् पूज्य गर्ग अदण्ड्य है किन्तु वैदुष्य प्रयुक्त वैमनस्य के कारण यह उक्ति एवं गर्ग शतदण्डनन्याय है ।

(6) 'व्रज में गाय को रोकता है'—यहाँ व्रज वास्तव में अधिकरण रहा है किन्तु अधिकरणत्वेन विवक्षा न करने से इस सूत्र से कर्म संज्ञा होकर 'व्रजं गाम् अवरुणद्धि' बना ।

(7) 'बालक से मार्ग पूछता है'—यहाँ बालक की कर्म संज्ञा–'माणवकं पन्थानं पृच्छति' हुई है।

(8) 'वृक्ष से फलों को बटोरता है'—यहाँ वृक्ष की अपादान-संज्ञा की विवक्षा न होने से कर्म संज्ञा से–'वृक्षम् अवचिनोति फलानि' यह बना।

(9) 'बालक के लिए धर्म देता है या उपदेश करता है' यहाँ दानार्थ धातु है लेकिन बालक की सम्प्रदानत्व की अविवक्षा एवं कर्मत्वेन से विवक्षा होने से द्वितीया- 'माणवकं धर्म ब्रूते शास्ति इति वा' बना।

(10) 'देवदत्त को जीतकर उससे सौ रुपये लेता है' यहाँ देवदत्त की अपादानत्वेन अविवक्षा से कर्मसंज्ञा से 'शतं जयति देवदत्तम्।' बना।

(11) 'सुधा (अमृत) के लिए समुद्र का मन्थन करता है'—यहाँ सम्प्रदानत्वेन सुधा की अविवक्षा से कर्म संज्ञा से 'सुधां क्षीरनिधिं मध्नाति' बना।

(12) 'देवदत्त को ठगकर सौ रुपये ग्रहण करता है'—यहाँ देवदत्त की अपादानत्व से अविवक्षा है इससे कर्म संज्ञा में—'देवदत्तं शतं मुष्णाति' बना।

(13, 14, 15, 16)—'गाँव से बकरी को ले जाता है,' 'गाँव से बकरी का अपहरण करता है, या कर्षण करता है, या गाँव से हरण करता है'—यहाँ सर्वत्र अधिकरणत्वेन अविवक्षा तथा कर्मत्वेन विवक्षा होने से अजां ग्रामं नयति, हरति आदि।

पूर्वोक्त 16 धातुओं के समानार्थक (पर्यायवाचक) धातुओं के योग में भी अकथितञ्च सूत्र विहित कर्मसंज्ञा होती है। यथातद्राजस्य ॥2/4/62॥ इस सूत्र भाष्य में पृच्छधातु के पर्याय चुद् धातु को द्विकर्मक कहा गया है—'योहि उभयोर्दोषो न तत्रैकश्चोद्यो भवति' इस प्रसंग को लेकर 'अचोद्यं मां त्वं चोदयसि अहमपि त्वां किमचोद्यं चोदयामि।' यहाँ चुद् धात्वर्थ पृच्छार्थक है, इससे याच् समानार्थकभिक्ष, ब्रू समानार्थक भाष, अभिपूर्वकवच्, इनके योग में भी इससे कर्मसंज्ञा हुई है। 'माणवकस्य' यहाँ षष्ठी कारक विभक्ति नहीं है।

अकर्मक धातुओं के योग में देश, काल, क्रिया एवं गमन करने के योग्य मार्ग की कर्म संज्ञा होती है, यथा—

(1) 'कुरून् स्वपिति'—यहाँ 'स्वप्' धातु शयनार्थक अकर्मक है। उसके योग में देश–(कुरु नामक देश) की कर्मसंज्ञा हुई है एवं कर्मवाचक शब्द से द्वितीया विभक्ति से कुरून्'। काल में 'मासमास्ते' यहाँ मास की कर्मसंज्ञा, आस् धातु अकर्मक है। भाव के उदाहरण में 'गोदोहमास्ते' यहाँ गोदोहन क्रिया से स्थिति क्रिया का काल ज्ञान है। अध्वा में 'क्रोशमास्ते' यहाँ क्रोश रूप मार्ग की कर्म संज्ञा हुई है।

प्रश्न 7. "गतिबुद्धि प्रत्यव समानार्थ शब्द कर्माकर्मणाम् अणि कर्ता स णौ" इस सूत्र की सपदकृत्य व्याख्या करें।

9. गति बुद्धि प्रत्यवसानार्थ शब्द कर्माकर्मणाम् अणि कर्ता स णौ ॥1।4।52॥
गत्याद्यर्थानां शब्द कर्मकाणाम् अकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात्।

"शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ।
आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयेद् विधिम् ॥1॥
आसयत्सलिले पृथ्वीं यः स मे श्री हरिर्गतिः ।"

गतीत्यादि किम् ? पाचयत्योदनं देवदत्तेन । अण्यन्तानां किम्, गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः ।

'नीवह्योर्न' । नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन । 'नियन्तृकर्तृकस्य बहेरनिषेधः' । वाहयति रथं वाहान् सूतः । 'अदिखाद्योर्न ।' आदयति खादयत्यन्नं बहुना ।

'भक्षेरहिंसार्थस्य न' । भक्षयति बलिवर्दान् सस्यम् । 'जल्पतिप्रभृतीमुपसङ्ख्यानम्' । जल्पयति भाषयति पुत्रं देवदत्तः 'दृशेश्च' । दर्शयति हरिं भक्तान् । सूत्रे ज्ञान सामान्यार्थानामेव ग्रहणम्; न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते । तेन स्मरति जिघ्रति इत्यादीनां न । स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन ।

'शब्दायतेर्न'—शब्दाययति देव दत्तेन । धात्वर्थ—संगृहीत कर्मत्वेनाकर्मकत्वात् प्राप्तिः । येषां देश कालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति ते ऽया कर्मका न त्वविवक्षित कर्माणोऽपि । तेन मासमासप्रति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वं भवत्येव । देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ तु न ॥

सूत्र-व्याख्या—गति अर्थ वाली, ज्ञानार्थक, भक्षणार्थक, शब्द रूप कर्मकारक वाली एवं अकर्मक इन धातुओं की क्रियाओं का जो प्रयोज्यकर्ता है वह ण्यन्त इन (धातुओं) के योग में कर्म संज्ञक होता है, 'णिचि अनुत्पन्ने यः कर्ता अर्थात् शुद्ध धात्वर्थ क्रिया का (प्रयोज्य कर्ता)' । 'शभवः स्वर्गम् अगच्छातान् हरिः स्वर्गमयंत्' यहाँ गत्यर्थक गम् धातु वाच्य क्रिया का कर्ता शभवः हैं, वे अण्यन्तावस्था के कर्ता हैं, उनकी णिजन्त णिजन्त काल में कर्म संज्ञा होने से 'शभून्' बना ।

स्वे=स्वकीया वेदार्थम् अविदुः तान् श्री हरिर्वेदार्थम् अवेदयत् । यहाँ ज्ञानार्थक धातु के अण्यन्त कर्ता 'स्वे' हैं, उनकी ण्यन्त काल में कर्म संज्ञा होने से 'स्वान्' हुआ है ।

'देवा अमृतम् आश्नन् तान् आशयत्'—यहाँ भक्षणर्थक धातु के अणिजन्त कर्ता 'देवा' को णिजन्त काल में कर्म संज्ञा से देवान् ।

"विधिः वेदमध्यैत तं वेदमध्यापयत्"—यहाँ शब्द कर्मकारक वाली धातु के अण्यन्त कर्ता विधिः है उसकी ण्यन्तकाल में कर्म संज्ञा से 'विधिम्' हुआ है । "पृथ्वी सलिले आस्ते तां हरिः आशयत्"—यहाँ अकर्मक आस् धातु का अण्यन्त कर्त्री पृथ्वी की ण्यन्त काल में कर्म संज्ञा से 'पृथ्वीम्' बना ।

श्लोकार्थ—"शत्रुगण स्वर्ग गये उनको श्री हरि ने प्रेरणा दी । आत्मीय पुरुषों ने वेदार्थ का ज्ञान किया उनको श्री हरि ने प्रेरणा दी । देवताओं ने अमृत पान किया, उनको हरि ने पान करवाया । ब्रह्मा ने वेद पढ़ा उसमें श्री हरि प्रेरक रहे ।

पृथ्वी जल में डूबी हुई थी, उसमें श्री हरि प्रेरक रहे थे ऐसे वे हरि मेरे रक्षक हैं या मैं उनका शरणागत हूँ।" इसका आशय निम्न प्रकार है—

(1) गम्धात्वर्थ संयोग जनक व्यापार है, ण्यन्त का संयोग जनक व्यापार जनक व्यापार अर्थ है।

(2) विद्धात्वर्थ ज्ञान जनक व्यापार है, ण्यन्त का ज्ञान जनक व्यापार जनक व्यापार अर्थ है।

(3) अश् धात्वर्थ गलबिलाधः संयोग जनक व्यापार है, ण्यन्त का गलबिलाधः संयोग जनक व्यापार जनक व्यापार अर्थ है।

(4) इङ् धात्वर्थ अध्ययन जनक व्यापार है, ण्यन्त का अध्ययन जनक व्यापारानुकूल व्यापार अर्थ है।

(5) आस्धात्वर्थ स्थित्यनुकूल व्यापार है, ण्यन्त का स्थित्यनुकूल व्यापार जनक व्यापार अर्थ है।

यहाँ धात्वर्थ के भीतर अनुकूल शब्द का अर्थ जनक है। शुद्ध गम् धात्वर्थ फल संयोग है। ण्यन्त गम् का फल संयोग जनक व्यापार है। विद् धात्वर्थ फल ज्ञान है, ण्यन्त विद् का ज्ञान जनक व्यापार जनक व्यापार है। उसका फल ज्ञान जनक व्यापार है। अश् धात्वर्थ फल गलबिलाधः संयोग है। ण्यन्त अश् का गलबिलाधः संयोग जनक व्यापार है। इङ् धात्वर्थ फल अध्ययन है, ण्यन्त इङ् धात्वर्थ फल अध्ययन जनक व्यापार है। आस् धातु का फल स्थिति है, ण्यन्त आस् का फल स्थित्यनुकूल व्यापार है। ण्यन्त स्थल में प्रयोजक व्यापार का फल प्रयोज्य-निष्ठ व्यापार होता है सर्वत्र।

यहाँ यह शङ्का होती है कि णिच्रहित शुद्ध धात्वर्थ फल की कर्म संज्ञा 'कर्तुरीप्सितमम्' से होती है उसी प्रकार ण्यन्त-स्थल में द्वितीय व्यापार का प्रथम व्यापार को फल मानकर प्रयोज्य कर्तृ संज्ञक शत्रु आदि की कर्म संज्ञा भी 'कर्तुरीप्सिततमम्' से हो जायेगी फिर 'गतिबुद्धिः यह सूत्र क्यों किया ? यह व्यर्थ होकर नियमार्थ है, नियम इस प्रकार है, ण्यन्त व्यापार प्रयोज्य व्यापाराश्रय की कर्म संज्ञा हो तो गत्याद्यर्थक ण्यन्त धातुओं के योग में ही जो सूत्र में उच्चरित हैं, अन्यत्र नहीं।

इस नियम से ण्यन्त पाचि धात्वर्थ द्वितीय व्यापार का जो प्रथम व्यापार फल है उसका जो आश्रय प्रयोज्यकर्ता देवदत्तादि हैं उनकी कर्म संज्ञा न हुई। अतः इस प्रकार के प्रयोज्य कर्ता से तृतीया ही होती; यथा—'देवदत्तः पचति तं पचन्तं देवदत्तं चैत्रः प्रेरयति' यहाँ पच् धात्वर्थ विक्लित्यनुकूल व्यापार अर्थ है। ण्यन्त का विक्लित्यनुकूल व्यापार जनक व्यापार अर्थ है। यहाँ द्वितीय व्यापार का प्रथम व्यापाराश्रय देवदत्त प्रयोज्य कर्ता है, अतः नियम से कर्म संज्ञा न हुई 'देवदत्तेन' तृतीयान्त प्रयोग हुआ।

अण्यन्तानां किम् ?—यज्ञदत्त जाता है उसको देवदत्त प्रेरणा करता है, प्रेरक देवदत्त को विष्णुमित्र प्रेरणा करता है। इस अर्थ में अण्यतावस्था का कर्ता जो यज्ञदत्त है उसकी कर्मसंज्ञा होती है किन्तु ण्यन्तावस्था के कर्ता देवदत्त की कर्म संज्ञा न हो

जाय, इसके लिये सूत्र में अण्यन्त कहा है। यहाँ दो णिच् है, अतः तीन व्यापार घटित धात्वर्थ हैं—संयोग-जनक-व्यापार, जनक व्यापार-जनक-व्यापार, यह ण्यन्त द्वययुक्त गम् धात्वर्थ हुआ, संयोग रूप फलाश्रय ग्रामादि होता है, द्वितीय देवदत्त-निष्ठ व्यापार का फलाश्रय यज्ञदत्त है, उसकी कर्मसंज्ञा हुई है। तृतीय व्यापार का द्वितीय व्यापार रूप फलाश्रय देवदत्त है, किन्तु णिच् उत्पन्न होने पर वह कर्ता है, उससे तृतीया हुई। तृतीय व्यापाराश्रय विष्णु मित्र है, उसकी कर्तृ संज्ञा से प्रथमा हुई--"यज्ञदत्तो गच्छति तं देवदत्तः प्रेरयति तं विष्णुमित्रः प्रेरयति इति यज्ञदत्तं देवदत्तेन गमयति विष्णुमित्रः।"

इस सूत्र में 'ईप्सिततम' की अनुवृत्ति है, अतः यह भी फलाश्रय की ही कर्म संज्ञा करता है, इसलिये देवदत्तादि को तृतीय व्यापार का द्वितीय व्यापार रूप फलाश्रय बनाने के लिये यहाँ दो बार ण्यन्त-पर्यन्त अनुधावन किया गया है। एक ण्यन्त से देवदत्त फलाश्रय नहीं होगा।

ण्यन्त नी (धातु) और ण्यन्त वह् (धातु) इनके योग में प्रयोज्य कर्ता की गतिबुद्धि से कर्म संज्ञा नहीं होती है, गति के बिना प्रापण संभव नहीं है। अतः इन दोनों को भी गत्यर्थकत्व में मानना आवश्यक है। 'सेवक भार को वहन करता है, उसको चैत्र प्रेरणा करता है' यहाँ भृत्य प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा न हुई—"भृत्यो भारं वहति नयति वा तं चैत्रः प्रेरयति इति नाययति वाहयति भारं भृत्येन चैत्रः।"

पशु-प्रेरक ण्यन्त क्रिया का कर्ता=प्रयोजक कर्ता रहे, वहाँ ण्यन्त वह् धातु के योग में प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा का निषेध का निषेध होता है अर्थात् कर्म संज्ञा होती है। 'वाहाः रथं वहन्ति तान् सूत=(पशुप्रेरणः) प्रेरयति = वाहयति वाहान् रथं सूतः।' अश्व रथ को वहन करते हैं, उनको पशुप्रेरक (रथ चलाने वाला) प्रेरणा करता है।

ण्यन्त भक्षणार्थक अद्धातु एवं भक्षणार्थ ण्यन्त खाद् धातु, उनके योग में अण्यन्तावस्था का कर्ता=प्रयोज्य कर्ता, उसकी कर्म संज्ञा नहीं होती है। अतः प्रयोज्य कर्तृवाचक से तृतीया विभक्ति होती है। "बटुः अन्नम् अति=खादति तं कमलेशः प्रेरयति इति आदयति खादयति वा अन्नं बटुना कमलेशः।"

अहिंसार्थक भक्षधातु ण्यन्त के योग में यह प्रतिषेध लगता है अर्थात् प्रयोज्य की कर्म संज्ञा नहीं होती है। हिंसार्थक ण्यन्त भक्ष के योग में प्रयोज्य की कर्म संज्ञा होती है। अहिंसार्थक में बटुना।

हिंसार्थक में यथा—'बलीवर्दाः सस्यम् भक्षयन्ति तान् अन्यः प्रेरयति इति' इसमें प्रयोज्य कर्ता बलीवर्द की कर्म संज्ञा से 'बलीवर्दान्' हुआ है। "बैल घास खाते हैं उनको दूसरा प्रेरणा करता है।"

जल्पति सदृश ण्यन्त धातुओं के योग में प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा होती है। 'पुत्र धर्म विषयक बोलता है, या भाषण करता है उसको देवदत्त प्रेरणा करता है।'

यहाँ पुत्र जो प्रयोज्य कर्ता है उसकी कर्म संज्ञा अप्राप्त रही, उसका विधान इस वार्तिक ने किया है। **ण्यन्त दृश्धातु** के योग में प्रयोज्य कर्ता की अप्राप्त कर्म संज्ञा को यह विधान करता है। यथा भक्त हरि को देखते हैं उनको चैत्र प्रेरणा करता है। यहाँ प्रयोज्य कर्ता भक्त का कर्म संज्ञा से 'भक्तान्' हुआ।

'गति बुद्धि०' सूत्र में बुद्ध्यर्थक—ज्ञानार्थक जो ग्रहण किया गया है, वहाँ सामान्य ज्ञानार्थक धातुओं का ही ग्रहण है, विशेष इन्द्रियजन्य ज्ञानार्थक का ग्रहण नहीं है। 'दृशेश्च' यह वार्तिक इसकी शेष वचन का ज्ञापक है। अन्यथा यह व्यर्थ होगा। इस ज्ञापन का यह फल है कि—'देवदत्तः स्मरति जिघ्रति वा तम् चैत्रः प्रेरयति' यहाँ देवदत्त प्रयोज्य कर्ता की ज्ञान विशेषार्थक स्मृ एवं घ्रा ण्यन्त धातुओं के योग में कर्म संज्ञा न होकर 'देवदत्तेन' हुआ। स्मरण एवं सूँघना का व्यापार विशेष ज्ञान स्वरूप है; क्योंकि चिन्तन एवं गन्धग्रहण विशेष इन्द्रिय से जन्य है। 'देवदत्तः शब्दं करोति' यहाँ क्यङ् से णिच् प्रत्यय से शब्द रूप कर्म 'शब्दाययति' शब्द के कुक्षिप्रविष्ट है, 'शब्दाययति' अकर्मक है उसके योग में प्रयोज्य कर्ता देवदत्त की अकर्मक धातु के योग में 'गतिबुद्धि' से कर्म संज्ञा प्राप्त थीं जिसका इस वार्तिक ने निषेध किया--शब्दाययति देवदत्तेन। 'देवदत्त' शब्द की इच्छा करता है। उसको रमेश प्रेरणा करता है।

प्रश्न 8. येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न संभवति तेऽकर्मकाः, इसका सोदाहरण तात्पर्य बताइये।

'गति बुद्धि०' सूत्र में अकर्मक पद से किन धातुओं का ग्रहण करना विहित है? गत्यादि धातु सकर्मक है अतः नियम से सजातीय की अपेक्षा कर "सकर्मक ण्यन्त धातुओं के योग में प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा हो तो गत्याद्यर्थक सूत्रोपात्त धातुओं के योग में ही" अकर्मक धातुओं में पूर्व सूत्र से ण्यन्त योग में प्रयोज्य की कर्म संज्ञा हो ही जायेगी, पुनः सूत्र में अकर्मक का ग्रहण क्यों किया? वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि देश, काल, भाव, गन्तव्य, अध्वा इनको छोड़कर द्रव्य रूप कर्म जिनका न रहे, वे गतिबुद्धि में अकर्मक धातु पद बोध्य हैं, अन्य नहीं। अतः द्रव्य कर्म है उसकी अविवक्षा करके अकर्मक धातुओं का वहाँ ग्रहण नहीं होता है। इसीलिये 'देवदत्तः पचति तं चैत्र प्रेरयति' यहाँ तण्डुलादि कर्म की अविवक्षा करने पर भी पच् अकर्मक नहीं, अतः 'देवदत्तेन पाचयति' यहीं होता है। मास रूप कर्म रहते हुये भी अकर्मक कहा गया है अतः वहाँ 'मासम् आसयति' 'देवदत्तम्' यह प्रयोग हुआ है।

प्रश्न 9. हृक्रोरन्यतरस्याम् सूत्र का विषय समझाते हुये, अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन भक्तिन इसमें विकल्प से कर्म संज्ञा कौन करता है।

10. हृक्रोरन्यतरस्याम् ॥1/4/53॥

हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्मसंज्ञः स्यात्। हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम्। अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्। अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा।

सूत्र-व्याख्या—ण्यन्त हृ एवं कृ धातु के योग में जो अण्यन्तावस्था का कर्ता=प्रयोज्यकर्ता है, उसकी कर्म संज्ञा विकल्प से होती है। यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है, उत्पत्त्यनुकूल, व्यापारानुकूल व्यापारार्थक ण्यन्त कारि' के योग में 'गति-बुद्धि' नियम से प्रयोज्य की कर्मसंज्ञा अप्राप्त थी, उसका यह कर्मत्व विधान करता है। प्रापणा (वहना) नुकूल व्यापारानुकूल व्यापारार्थक 'हारि' के योग में भी गति बुद्धिनियम से 'कर्तृरीप्सिततमम्' से कर्मत्व अप्राप्त को यह कर्मत्व विधान करता है। अतः इसका अप्राप्त विभाषात्व सिद्ध हुआ। विकारार्थक कृधातु अकर्मक है, एवं अभ्यवहार=भोजन अर्थ में भक्षणार्थत्व होने के कारण 'गति' सूत्र से कर्मसंज्ञा प्रयोज्य कीण्यन्त योग में प्राप्त है।

इस प्रकार यह प्राप्त विभाषा दोनों पक्षों से प्राप्ताप्राप्त विभाषात्व इस सूत्र से सिद्ध हुआ है। यथा–'हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम्' यहाँ भृत्य की कर्मसंज्ञा विकल्प से हुई है। आत्मनेपदी अभिपूर्वक वद् एवं दृश् धातुएँ ण्यन्त रहते अण्यन्त प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा विकल्प से होती है। यथा 'भक्तः देवम् अभिवदति, पश्यति वा तं चैत्र प्रेरयति' यहाँ भक्त जो प्रयोज्य कर्ता है उसकी ण्यन्त धातु के योग में कर्मत्व वैकल्पिक से 'भक्तम्,' 'भक्तेन' हुआ।

प्रश्न 10. 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इस सूत्र की व्याख्या सोदाहरण कीजिए।

11. अधिशीङ्स्थासां कर्म ॥1।4।46॥

अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात्। अधिशेते, अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः।

सूत्र-व्याख्या—अधि उपसर्ग पूर्वक शीङ्, स्था एवम् आस, इन धातुओं की वाच्य क्रियाओं का जो कर्म द्वारा आधार कारक है, उसकी कर्म संज्ञा होती है। सूत्र में तीन धातुओं का द्वन्द्व समास है, द्वन्द्व के पूर्वत्वेन समीप अधिका प्रत्येक धातु से यहाँ योग है,—'द्वन्द्वान्ते (द्वन्द्व समीपे) श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' अर्थात्— अधिपूर्वकशीङ्, अधिपूर्वकस्था एवं अधिपूर्वक आस् इनका वाच्य जो व्यापार, उससे उत्पन्न होने वाला जो फल, उसका जो आधारभूत आश्रय उस कारक की अधिकरण संज्ञा को बाँधकर यह (सूत्र) कर्म संज्ञा करता है। "वैकुण्ठ में हरि शयन करते हैं, या रहते हैं, एवं विद्यमान हैं" यहाँ वैकुण्ठ की कर्म संज्ञा हुई है।

प्रश्न 11. 'पायेऽभिनिवेशः' इस प्रयोग में 'पाप' शब्द की 'अभिनिविशश्च' सूत्र से कर्म संज्ञा निराकरण का कारण लिखें।

प्रश्न 12. निविषात्वे यदि शुकश्रिरिवापदे इस नैषधयद्यपि पद शब्द में द्वितीया क्यों नहीं होती ?

12. अभिनिविशश्च ॥1/4/47॥

'अभिनि' इत्येतत्सङ्घातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्मस्यात्। अभिनिविशते सन्मार्गध्। 'परिक्रयणे सम्प्रदानम्' इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्याऽन्यतस्यां ग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् क्वचिन्न। पापें अभिनिवेशः।

सूत्र-व्याख्या––'अभिनिविश्' इस समूहपूर्वक विश्धातु के आधार की कर्म संज्ञा होती है। अभिनिवेश=आग्रह। सन्मार्ग विषयक आग्रहयुक्त चैत्र यहाँ अधिकरण कारक संज्ञा न होकर सन्मार्ग की कर्मसंज्ञा हुई है। यहाँ यह शङ्का होती है कि 'पापे अभिनिवेश:' यहाँ पाप विषयक आग्रहवान् अर्थ में 'पापम्' ऐसा क्यों न हुआ? 'परिक्रयणे' सूत्र से 'अन्य-तरस्याम्' की अनुवृत्ति एवं व्यवस्थित विभावा से क्वचित् कर्मसंज्ञा का अभाव ही होता है। अतः पाप की कर्म संज्ञा न होकर अधिकरण संज्ञा से सप्तमी हुई है किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि भाष्यकार के अनुसार केवल छः स्थलों पर ही व्यवस्थित विभाषा मानना उचित है—

"देवत्रातो गलो ग्राह इति योगे च सद्विधिः।
मिथस्ते न विभाषन्ते गवाक्षः संशितव्रतः।।"

अन्यत्र नहीं। तब यहाँ कर्म संज्ञा क्यों नहीं हुई? एषु अर्थेषु अभिनिविष्टानाम्' (इन अर्थों के विषय में आग्रह युक्तों की) यहाँ कर्म संज्ञा न दिखाकर एवं अधिकरण संज्ञा दिखाकर इस भाष्य प्रयोग द्वारा यह प्रयोग ज्ञापन होता है कि—'अभिनिविश्' इस प्रकार की आनुपूर्वी (वर्णमाला) का जहाँ अविकृत रूप रहे वहाँ ही इससे कर्मसंज्ञा होती है। भाष्य प्रयोग में शकार का षत्वष्टुत्व है, 'पापे अभिनिवेश:' में वि के इकार का गुण से एकार रूप विकार है, अतः कर्मसंज्ञा का अभाव होकर आधार में अधिकरण ही विहित हुआ है।

13. उपान्वध्याङ्वसः ।।1।4।48।।

प्रश्न 13. "उभसर्वतसोः कार्य्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाम्रे डितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते।।"
इस कारिका की सोदाहरण व्याख्या कीजिये।

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्मस्यात् उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः। 'अभुक्त्यर्थस्य न'। वने उपवसति।

"उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयम्रे डितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते।।"

उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णाभक्तम्। उपरि उपरिलोकं हरिः। अध्यधि लोकम्। अधोऽधो लोकम्। अभितः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि। अभितः कृष्णम्। परितः कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्। हा कृष्णाभक्तम्। तस्य शोच्यतेत्यर्थः। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।

सूत्र-व्याख्या—उप, अनु, अधि एवं आङ् पूर्वक वस् धातु वाच्य व्यापार जन्य जो फल, तदाश्रय को आधार की कर्म संज्ञा होती है। वैकुण्ठ जो वासादि अर्थों का फलाश्रय-आधार है, उसकी कर्म संज्ञा हुई है। 'वैकुण्ठे' न हुआ। "वन में उपवास करता है"। यहाँ उपवास रूप अर्थ के वाचक वस् धातु के आधार वन की कर्मसंज्ञा न हुई 'वने' यहाँ अधिकरण सप्तमी है, इसमें प्रमाण क्या है? इसका समाधान यह है—

भाष्य में 'वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः' इस वार्तिक में 'अर्थ' शब्द निवृत्ति-परक है, यथा 'मशकार्थोधूमः' यहाँ मशक की निवृत्ति के लिए धुँआ है, उसी प्रकार यहाँ वार्तिक में भोजन की निवृत्ति अर्थात् उपवास अर्थ में वस् धातु का आधार की कर्मसंज्ञा नहीं होती है। उसी का भावार्थ 'अभुक्तयर्थस्य न' यह संस्कृत वाक्य है, वार्तिक नहीं है। 'उभयतः, सर्वतः, धिक्, उपरि-उपरि, अधः-अधः, इन आम्रेडितान्तों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। उनसे अन्यत्र अन्य शब्दों के योग में भी इस प्रयोगानुसार द्वितीया होती है। यथा—'कृष्णम्', 'अभक्तम्', 'लोकम्' में, 'अभितः', परितः, समया (समीप में), हा, निकषा (समीप में), एवं प्रति इन शब्दों के योग में (शब्दार्थ सम्बन्ध में) द्वितीया होती है। कृष्णम्, ग्रामम्, लङ्काम्, अभक्तम्, यहाँ इससे द्वितीया। 'बुभुक्षितम्' यहाँ प्रति के योग में द्वितीय है—'भूखे को कुछ भी अच्छा नहीं लगता है।' 'संसार में आकर जो कृष्ण-भक्त नहीं वह चिन्तनीय है' यहाँ अभक्त की निन्दा गम्यमान है।

14. अन्तराऽन्तरेण युक्ते ॥2।3।4॥

आभ्यां योगे द्वितीया स्यात्। अन्तरा त्वां मां हरिः। अन्तरेण हरिं न सुखम्।

सूत्र-व्याख्या—अन्तरा एवं अन्तरेण इनके योग में द्वितीया विभक्ति होती है। यहाँ अन्तरेण टाबन्त भिन्न है। अतः साहचर्य से अन्तरा टाबन्त भिन्न का ग्रहण है। टाबन्त भिन्न 'अन्तरा' शब्द तृतीयान्त भिन्न है अतः अन्तरेण तृतीयान्त भिन्न का यहाँ ग्रहण करना है। इस प्रकार परस्पर साहचर्य से दोनों अव्यय हैं, उन्हीं का ग्रहण होता है। अन्तरा आदि के अर्थ से योग रहने पर ही वहाँ द्वितीया अभिप्रेत है अन्यत्र नहीं यह 'योगे' शब्द से बोधन होता है। "अन्तरा त्वां मां वा कृष्णस्य मूर्तिः" यहाँ मध्यार्थक अन्तरा पदार्थ के साथ कृष्ण पदार्थ का सम्बन्ध नहीं अतः कृष्ण से द्वितीया न हुई किन्तु षष्ठी। "अन्तरा त्वां मां च कमण्डलुः" यहाँ प्रथमा। यहाँ प्रथमा ने उपपद विभक्ति का बाध किया है। परस्पर शपथ खाते हैं कि तुम्हारे और मेरे मध्य में हरि ही हैं। हरि साक्षात्कार के बिना संसार में सुख नहीं है।

प्रश्न 14. कर्म प्रवचनीय संज्ञा का विवेचन कीजिये।

प्रश्न 15. संज्ञाप्रणयन लाघवार्थ होना अपेक्षित होते हुए भी यहाँ महती संसार करण का प्रयोजन् क्या है।

15. कर्मप्रवचनीयाः ॥1।4।83॥

इत्यधिकृत्य।

सूत्र-व्याख्या—यह अधिकार सूत्र है, जो उत्तर सूत्रों में जाकर विधेय स्वरूप इस पद को यह वहाँ समर्पण करता है। 'कर्मप्रवचनीय' शब्द योगरूढ़ है=कर्म शब्द क्रियार्थक है। यथा—'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' सूत्र में कर्म=क्रिया, व्यतिहारे=व्यत्यासे अर्थ है। 'कर्म प्रोक्तवन्तः ये ते कर्म प्रवचनीयाः' यहाँ कर्म उपपद रहते प्रपूर्वक वच् धातु से भूत अर्थ में अनीयर प्रत्यय होता है। भूतकाल में क्रिया को कह चुका हो,

सम्प्रति क्रिया का जो वाचक नहीं, द्योतक भी नहीं एवं सम्बन्ध का वाचक नहीं किन्तु सम्बन्ध विशेष का जो द्योतक है उसको कर्म-प्रवचनीय कहते हैं।

"क्रियाया: द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः॥"

प्रश्न 16. 'जपमनु प्रावर्षत्' यहाँ अनुर्लक्षणे का समन्वय कर कर्मप्रवचनीयत्व क्या होता है, समझाइये।

16. अनुलक्षणे ॥1।4।84॥

लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्त संज्ञः स्यात्। गत्युपसर्ग संज्ञापवादः।

सूत्र-व्याख्या—जहाँ लक्षण अर्थ द्योत्य रहे, वहाँ अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। यह संज्ञा गति एवं उपसर्ग संज्ञा की बाधिका है। अर्थात् लक्ष्य-लक्षण भाव सम्बन्ध में अनु कर्म प्रवचनीय ही है। गति संज्ञक एवं उपसर्ग संज्ञक नहीं है। संज्ञाद्वय बाध रूप ही प्रयोजन है, अन्यथा 'लक्षणेत्थम्' से यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा सिद्ध ही थी।

17. कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ॥2।3।8॥

एतेन योगे द्वितीया स्यात्। जपमनु प्रावर्षत्। हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः। पराऽपि हेतौ इति तृतीयाऽनेन बाध्यते। लक्षणेत्थंभूते त्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञा विधान-सामर्थ्यात्।

सूत्र-व्याख्या—कर्मप्रवचनीय से बोध्य जो सम्बन्ध, उस सम्बन्ध का जो प्रतियोगी तद्वाचक से द्वितीया विभक्ति होती है। सूत्र में युक्तग्रहण से सम्बन्ध प्रतियोगी अर्थ का लाभ हुआ है, अतः विशेष्य भूत अर्थ रूप अनुयोगी तद्वाचक से द्वितीया नहीं होती है।

ज्ञान का जनक जो ज्ञान है, उस ज्ञान का जो विषय है उसको लक्षण कहते हैं—ज्ञान जनक ज्ञान विषयत्वं लक्षणत्वम्।

यथा वर्षण ज्ञान काल का उत्पादक ज्ञान जपाधिकरण काल उस ज्ञान का विषय जप है, वह लक्षण हुआ। ज्ञान से जन्य जो ज्ञान उस ज्ञान की विषयता जहाँ रहे वह लक्ष्य है।

यथा जप काल ज्ञान से उत्पन्न वर्षण काल का ज्ञान उस ज्ञान में या समान वर्षण=वृष्टि वह लक्ष्य है—ज्ञानजन्य ज्ञान विषयत्वं लक्ष्यत्वम्।

इस प्रकार लक्ष्य-लक्षण भाव सम्बन्ध का ज्ञान कर यहाँ 'जपमनु प्रावर्षत्' जप पूर्वोक्त सम्बन्ध का प्रतियोगी है, उससे द्वितीया विभक्ति की उत्पत्ति हुई है। यहाँ निश्चित जप ज्ञान काल या उससे अनिश्चित काल में हुई वृष्टि काल का निश्चय भी हुआ है। अवर्षण समय में वृष्टि निमित्तक जपानुष्ठान हुआ, यहाँ जय वृष्टि में हेतु है, यहाँ हेतु में तृतीया प्राप्त थी किन्तु पुनरपि तृतीया को बाधकर 'तनुलेक्षणे' ने कर्मप्रवचनीय संज्ञा-विधान पुनः किया। अतः यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा प्रयुक्त

द्वितीया ही होती है। अन्यथा 'लक्षणेत्थंभूत' से लक्षण में तृतीया विहित थी पुनः 'अनुर्लक्षणे' की प्रवृत्ति व्यर्थ ही होगी।

18. तृतीयाऽर्थे ॥1/4/85॥

अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्त संज्ञः स्यात्। नदीमन्ववसिता सेना। नद्या सह संबद्ध त्यर्थः। षिञ् बन्धने क्तः।

सूत्र-व्याख्या—तृतीया विभक्त्यर्थ के द्योतक अनु की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है। यहाँ तृतीयार्थ=सहार्थ है। नदी के साथ सम्बद्ध सेना अर्थ में सम्बद्धार्थक अनु के योग में नदी की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर द्वितीया हुई है। नदी प्रतियौगिक साहित्यवती सेना। अनु, अव पूर्वक बन्धनार्थक षिञ् धातु से क्तप्रत्यय करने पर अन्ववसित शब्द निष्पन्न हुआ है।

19. **हीने** ॥1/4/86॥

हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत्। अनुहरिं सुराः, हरेर्हीना इत्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—जहाँ अनु का हीन=छोटा अर्थ द्योत्य रहे, वहाँ अनु की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है। 'देवता हरि से छोटे हैं' यहाँ अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा से हरि से द्वितीया विभक्ति हुई है।

20. उपोऽधिके च ॥1/4/87॥

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात्। अधिके सप्तमी वक्ष्यते। हीने—उपहरिं सुराः।

सूत्र-व्याख्या—अधिक एवं हीनार्थ द्योतित होने पर वहाँ उप की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। उधिकार्थक उप के योग में 'यस्मादधिकम्' से सप्तमी कहेंगे। यहाँ हीन अर्थ में उप की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'हरि से देवगण हीन हैं' के अर्थ में हरि से द्वितीया-विभक्ति हुई है।

प्रश्न 17. "लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः" इस सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिये।

21. लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः ॥1/4/90॥

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादयः उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे—वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थंभूताख्याने—भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा। भागे—लक्ष्मीर्हरिं प्रति पर्य्यनु वा, हरे र्भाग इत्यर्थः। वीप्सायाम्-वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिञ्चति। अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्। एषु किम् ?—परिषिञ्चति।

सूत्र-व्याख्या—प्रथम लक्षणार्थ बतला दिया गया है। किसी ज्ञान को उत्पन्न करने वाला जो ज्ञान, उसका विषय लक्षण, **इत्थंभूताख्यान**=किसी प्रकार को प्राप्त जो हो, उसका कहना। वीप्सा भाग=अंश, क्रिया द्वारा सकल अभिप्रेत पदार्थ का सम्बन्ध=व्याप्ति, इन अर्थों के होने पर प्रति, परि एवं अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। **लक्षण** अर्थ में यथा—'वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत्' यहाँ बिजली

विद्योतन ज्ञान का उत्पन्न करने वाला ज्ञान हुआ वृक्षज्ञान, तद् विषय वृक्ष होने से प्रति आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है।

वृक्ष के सामने या ऊपर या पश्चात् बिजली चमकती है।

इत्थंभूताख्यान में यथा—'भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा' भक्त विष्णु के प्रति किञ्चित्प्रकार भक्ति आदि को पाया हुआ है। भागार्थ में यथा—'लक्ष्मीर्हरिं प्रति-पर्यनु वा'—लक्ष्मी हरि का अंश है। क्रिया साकल्येन सम्बन्धुम् इच्छा=वीप्सा अर्थ में यथा—'वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिञ्चति'—यहाँ सिञ्चन क्रिया द्वारा उद्यान स्थित सकल वृक्षों का सम्बन्ध करता है। 'नित्यवीप्सयोः'—सूत्र से वृक्षम् का यहाँ द्वित्व हुआ है। अर्थात् किसी भी वृक्ष को छोड़ता नहीं है, सबको जल से युक्त करता है। जहाँ जहाँ उद्यान स्थित वृक्ष वृत्ति वृक्षत्व है वहाँ वहाँ जल सेचत्व है। यह व्याप्ति को वीप्सा वीप्सार्थक प्रत्यादि का क्रिया के साथ योग नहीं प्रत्युत अप्राप्त उपसर्ग संज्ञा यहाँ है, अतः परिसिञ्चति यहाँ 'उपसर्गात् सुनोति' सूत्र से धातु के आदि सकार को षकारादेश न हुआ। यहाँ अप्राप्ति मूलक अपवाद सदृश अर्थ है।

22. अभिरभागे ॥1/4/91॥

भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात्। हरिम् अभि वर्तते। भक्तो हरिम् अभि। देवं देवमभिसिञ्चति। अभागे किम्? यदत्र ममाभिष्यात् तद् दीयताम्।

सूत्र-व्याख्या—भाग से भिन्नार्थक अर्थात् लक्षण, इत्थंभूताख्यान और वीप्सा अर्थ में अभि शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। भाग अर्थ में यथा—कर्मप्रवचनीय संज्ञा के अभाव में धात्वर्थ क्रिया के साथ योग होने से अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है। अतः 'अभि स्यात्' यहाँ आदि सकार का 'उपसर्गात् सुनोति' से षकार होता-'अभिष्यात्' हुआ। इसमें जो मेरा अंश=हिस्सा हो वह मुझे दीजिये।

प्रश्न 18. वर्णनाप्यनर्थकिन न भयित्तघम्, इस सिद्धान्त के रहते हुये यहाँ अधिपरी का अनर्थकत्व कैसे होगा।

23. अधिपरी अनर्थकौ ॥1/4/96॥

उक्त संज्ञौ स्तः। कुतोऽध्यागच्छति। कुतः पर्य्यागच्छति। गति संज्ञाबाधात् गतिर्गताविति निघातो न।

सूत्र-व्याख्या—निरर्थक अधि एवं परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अधि, परि के प्रयोग से जहाँ किसी अर्थ विशेष की प्रतीति नहीं हो, वे निरर्थक होते हैं। गति संज्ञा का कर्मप्रवचनीय संज्ञा ने बाध किया अतः यहाँ निघात=अनुदात नहीं होता।

24. सुः पूजायाम् ॥1/4/94॥

सुसिक्तम्। सुस्तुतम्। अनुपसर्गात् न षः। पूजायां किम्? सुषिक्तं किं तवात्र। क्षेपोऽयम्।

सूत्र-व्याख्या—पूजा अर्थ में वर्तमान सुशब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। 'सुसिक्तम्'—यहाँ उपसर्ग संज्ञा के अभाव से षत्व न हुआ—'अच्छी तरह सिञ्चा हुआ'

अर्थ है। निन्दा अर्थ में 'सुषिक्तम्' यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा की 'सु' की उपसर्ग संज्ञा होने से षत्व संज्ञा हुई।

25. अतिरतिक्रमणे च ॥1/4/95॥

अतिक्रमणे, पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् अतिदेवान् कृष्णः।

सूत्र-व्याख्या—अतिक्रमण एवं पूजा अर्थ में अति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। कृष्ण सब देवताओं को अतिक्रमण करने वाले हैं, कृष्ण सब देवताओं की अपेक्षा पूज्य हैं। यहाँ उभयार्थ में अति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से कृष्ण से द्वितीया विभक्ति हुई है।

प्रश्न 19. 'सर्पिषोऽपि स्यात्' इसमें 'अपि पदार्थ०' सूत्र की प्रवृत्ति की विशेषता का सम्यक् वर्णन प्रस्तुत करें।

26. अपिः पदार्थे सम्भावनाऽन्ववसर्गे गर्हा समुच्चयेषु ॥1/4/96॥

एषु द्योत्येत्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात्। सर्पिषोऽपि स्यात्। अनुपसर्गत्वान्न षः। सम्भावनायां लिङ्। तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन सम्बध्यते। सर्पिष इति षष्टीतु अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोखयवावयविभाव सम्बन्धे। इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थ द्योतकतानाम। द्वितीया तु न प्रवर्तते, सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिनेत्युक्तत्वात्। अपि स्तुयाद् विष्णुम्। सम्भावनम्=शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्तु मित्युक्तिः। अपि स्तुहि। अन्ववसर्गः=कामचारानुज्ञा। धिग् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम्=गर्हा। अपि सिञ्च, अपि स्तुहि। समुच्चये।

सूत्र-व्याख्या—सूत्र में प्रयुक्त नहीं हुआ जो पदान्तर है उस के अर्थ को ही पदार्थ पद से गृहीत किया गया है। पदार्थ=अप्रयुज्यमान पद का अर्थ, अन्ववसर्ग=कामचारानुज्ञा, गर्हा=निन्दा, एवं समुच्चय इन अर्थों में विद्यमान अपि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

पदार्थ में यथा—'सर्पिषोऽपि स्यात्'='घृत का बिन्दु भी हो' यहाँ पदार्थ के द्योतक 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग प्रयुक्त षत्व नहीं हुआ। इस स्थल में 'स्यात्' में सम्भावना में लिङ् का प्रयोग हुआ है। सम्भावना ही का जो विषयीभूत भवन (सत्ता) है उसमें 'बिन्दु' इस कर्त्ता की दुर्लभताप्रयुक्त क्रिया का दौर्बल्य प्रकट करता हुआ अपिशब्द 'स्यात्' इस क्रिया के साथ सम्बद्ध होता है। 'सर्पिषः' यहाँ जो षष्ठी, वह अपि शब्द के बल से गम्यमान जो बिन्दु उसके साथ सर्पिष् के अवयव-अवयविभाव सम्बन्ध में हुई, यही अपि शब्द की पदार्थ द्योतकता है।

इस स्थान में द्वितीया विभक्ति नहीं होती है क्योंकि सर्पिष् का सम्बन्ध (योग) बिन्दु के साथ है, अपि के साथ नहीं, यह बात बतला दी है। 'अपि स्तुयाद् विष्णुम्' यह सम्भावना का उदाहरण है, शक्ति के उत्कर्ष प्रकाश के निमित्त जो अत्युक्ति उसको सम्भावना कहते हैं। 'अपि स्तुति'='स्तुति कर'—यह अन्ववसर्ग का उदाहरण है।

अभिलाषा के अनुकूल जो अनुज्ञा हो उसको अन्ववसर्ग कहते हैं। गर्हा=निन्दा, शूद्र की स्तुति करे तो देवदत्त को धिक्कार है—'धिक् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम्।

समुच्चय अर्थ में यथासिञ्चो या स्तुति करो=अपि सिञ्च अपि स्तुहि। यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा से उपसर्ग संज्ञा न होने से धातु के सकार का षकार न हुआ।

प्रश्न 20. "कालाध्वनोरत्यन्त संयोगे" इस सूत्र की 'मासस्यद्विरधीते' में प्रवृत्ति न होने का कारण समझाइये।

27. कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।।2/3/5।।

इह द्वितीया स्यात्। मासं कल्याणी, मासमधीते, मासं गुड़धानाः। क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशमधीते। क्रोशं गिरिः अत्यन्त संयोगे किम्? मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्य एकदेशे पर्वतः।

सूत्र-व्याख्या—विराम रहित संयोग का नाम अत्यन्त संयोग है। अत्यन्त संयोग में कालवाचक एवं मार्गवाचक शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। 'मासं कल्याणी' यहाँ 'मास' शब्द काल वाचक है, इससे द्वितीया विभक्ति हुई है। मास-पर्यन्त निरन्तर दुःख का अभावपूर्वक सुख ही है। मासमधीते=एक मास में अध्ययन के उपयोगी काल में व्यवधान रहित निरन्तर अध्ययन करता है। मासं गुड़धाना= एक मास पर्यन्त भोजन में निरन्तर गुड़ से युक्त धाना (भुने हुये यव) की प्राप्ति हो रही है। क्रोशं कुटिला नदी=एक कोस तक नदी वक्र है लगातार। कोस तक निरन्तर अध्ययन करता है। एक कोस तक निरन्तर पर्वत है। अत्यन्त संयोग कहने से यहाँ 'महीने में दो बार पढ़ता है' में वह द्वितीया विभक्ति न हुई, यथा—'मासस्य द्विरधीते' = क्रोशरूपी मार्ग के एक कोने पर पर्वत है, अतः यहाँ क्रोशस्य हुआ।

प्रश्न 21 'स्वतन्त्र कर्ता' एवं 'साधकतमंकरणम्' इन दोनों सूत्रों की व्याख्या स्वतन्त्र तथा तमप् पदोपादान का स्फुट प्रयोजन समझाते हुये व्याख्या करें।

28. स्वतन्त्रः कर्ता ।।1/4/54।।

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात्।

सूत्र-व्याख्या—स्वम्=आत्मा, तन्यम्=प्रधानम् अस्य स स्वतन्त्रः=स्वाधीनः ऐसा लोक में कहा जाता है। स्वतन्त्र के पाँच नाम हैं—(1) स्वतन्त्र (2) अनावृत्त (3) स्वैरी (4) स्वच्छन्द (5) निरग्रह=बन्धन या प्रतिबन्ध रहित। स्वतन्त्र शब्द का अवयव तन्त्र शब्द भी अनेकार्थ है—(1) कुटुम्बकार्य (2) सिद्धान्त (3) श्रेष्ठ औषधि (4) प्रधान (5) जुलाहा (तन्तुवाय में) (6) शास्त्र भेद (7) परिच्छद। यहाँ स्वतन्त्र शब्द प्रधानार्थक है। सूत्र में 'कारकम्' का अधिकार से क्रिया का यहाँ लाभ हुआ है। क्रिया का प्रधान आश्रय की कर्तृसंज्ञा होती है। अन्य कारकों का व्यापार कर्तृव्यापाराधीन है। कर्ता का व्यापार अन्य कारकों के व्यापार के अधीन नहीं है, यही प्राधान्य कर्ता में है। अन्य कारकों का व्यापार कर्तृ-व्यापाराधीन है। उनमें परतन्त्रता=पराधीनता है। कर्त्ता तीन प्रकार का है: (1) शुद्ध (2) प्रयोजक

हेतु और (3) कर्मकर्त्ता+'धात्वर्थ व्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम् = धातु का अर्थ जो व्यापार, वह जिसमें रहे उसे कर्त्ता कहते हैं। विवक्षितपद से कारण विवक्षाधीन है—विवक्षातः कारकाणि भवन्ति। स्थाली पचति, स्थाल्या पचति, स्थाल्यां पचति, इन प्रयोगों से कारक के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त प्रदर्शन सम्भव नहीं है। विवक्षाधीनत्व कर्तृत्व कर्मत्वादि है। यथा कमलेशः पुस्तकं पठति। रमेशो विश्वनाथ-मन्दिरं गच्छति। वसुमति सिद्धपुरं तिष्ठति, वीणा वदति, मीना पठति, आदि कर्तृकारक के उदाहरण हैं।

प्रश्न 22. 'स्थाल्याँ पचति' यहाँ स्थाली की तथा 'गंगायां घोषः' यहाँ पर गंगा एवं स्थाली की करण संज्ञा क्यों नहीं होती ?

29. साधकतमं करणम् ॥1/4/42॥

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करण संज्ञं स्यात्। तमब्ग्रहणं किम् 'गङ्गायां घोषः'।

सूत्र-व्याख्या—यहाँ क्रियापद धात्वर्थ जो व्यापार, उससे उत्पन्न जो फलसिद्धि, उसमें जो अतीव उपकारक (जिसके व्यापार के बाद फलसिद्धि होती है, यथा बाण) जो कारक होता है उसकी करण संज्ञा होती है। यथा—'रामेण धनुषो बाणेन वाली हतः'—यहाँ राम से कर्त्ता में तृतीया है, बाण से करण में तृतीया है, हतः में क्तप्रत्यय से कर्म उक्त है, अतः बाली से प्रथमा विभक्ति है, प्राण का वियोग रूप फल सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक बाण है, धनुष नहीं, अतः बाण की करणसंज्ञा से तृतीया—'बाणेन' हुई। यद् व्यापारानन्तरं फलसिद्धि स्तत्प्रकृष्टत्वम्।

तमब् ग्रहणं किमर्थम् ?—इस सूत्र में कारक का अधिकार है, एवं क्रियते अनेन इति करणम्, इस करण महासंज्ञा से क्रियाःसिद्धि में साधक यह अर्थ-लाभ हो जायगा, पुनः सूत्र में साधक पद व्यर्थ होकर 'अधिक' शब्द अधिक अर्थ का बोधन करता है उससे साधकतम = प्रकृष्टोपकारक का लाभ हो ही जाता है पुनः यहाँ तमप् ग्रहण व्यर्थ है—क्यों किया ? अब ग्रन्थकार तमप् का फल इस प्रकार बताते हैं—'गङ्गायां घोषः'। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार यहाँ करण महासंज्ञा को अन्वर्थ मानकर करण से ही साधक का लाभ किया।

उसी प्रकार 'आधारोऽधिकरणम्' वहाँ अधिकरण इस महासंज्ञा से ही आधार का लाभ होगा, पुनः आधार पद व्यर्थ होकर आधारतमार्थ अर्थात् जिसके सर्व अवयव जहाँ आधार रहे, वहाँ ही अधिकरण संज्ञा होगी यथा 'तिलेषु तैलम्' तिल के यावत् तैल का आधार है। गौण आधार में अब अधिकरण संज्ञा नहीं होगी तब 'गङ्गायां घोषः' यहाँ झोपड़ा का आधार तट है, उसमें सामीप्य मूलक लक्षणा से गङ्गापद मुख्यार्थ को त्याग कर तटार्थ बोधक है। झोपड़ा का सर्वावयव से गङ्गा आधार नहीं है। अधिकरण संज्ञा वहाँ भी हो एतदर्थ तमप् ग्रहण व्यर्थ होकर कल्पना (ज्ञापन) करता है कि "अस्मिन् कारकाधिकारे शब्द सामर्थ्यजन्यार्थप्रकर्षो ना श्रीयते"

= इस कारक प्रकरण में कोई शब्द व्यर्थ होकर अर्थगत प्रकर्ष (यथा साधकतम यथा आधारतम) का समाश्रयण नहीं कर सकता है, तथाच मुख्य, गौण यत्किञ्चित् अवयव से आधार सब की अधिकरण संज्ञा हुई यथा—गङ्गायां घोषः । तिलेषु तैलम् । वटे गावः । कटे आस्ते आदि ।

प्रकृत में साधक पद पूर्व ज्ञापन से केवल उपकारक अर्थ को बोधन करता है । क्रिया सिद्धि में उपकारक धनुष भी है, उसकी भी करण संज्ञा होने लगेगी । उसकी व्यावृत्ति के लिए प्रकृष्टार्थ लाभार्थ तमप् है । फलसिद्धि बाण व्यापारानन्तर ही है उसी की ही करण संज्ञा हुई । धनुष् देश से निकालकर लक्ष्य देश में गमन रूप व्यापार बाण में है, वेधनोत्तर प्राण वियोग उसमें प्रकृष्टोपकारक बाण । आभीरपल्ली को झोंपड़ी कहते हैं । शक्यार्थ का सम्बन्ध = सामीप्यादि रहे एवं जहाँ शक्यार्थ बाध रहें वहाँ लक्षणा-वृत्ति का समाश्रयण होता है ।—शक्यसम्बन्धों लक्षणा । अथवा शक्यता में रहने वाले कर्म का आरोप लक्षणा कहलाती है—"शक्यतावच्छेदकधर्मारोपो लक्षणा" इसी पक्ष में 'गङ्गायां मीनघोषौ स्तः' यहाँ द्वन्द्व समास की सिद्धि हुई है ।

प्रश्न 23. नाम्ना सुतीश्च शरितने क्षन्तः यहाँ किससे तृतीया होती है ?

30. कर्तृकरणयोस्तृतीया ।।2/3/18।।

अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेणहतो बाली । प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् ।। प्रकृत्या चारुः, प्रायेण याज्ञिकः, गोत्रेण गार्ग्यः, समेनैति, विषमेणैति, द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति, सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ।

सूत्र-व्याख्या—अनुक्त कर्ता एवं करण में तृतीया होती है । राम अनुक्त कर्ता है एवं बाण अनुक्त कारण है, दोनों से तृतीया 'रामेण बाणेन बालीहतः' यहाँ बाली कर्मक्त प्रत्यय से उक्त है अतः उक्त होने से प्रथमा । यहाँ हन् धात्वर्थ प्राणवियोग का जनक व्यापार इस अर्थ का बोधक है । फलाश्रय राम है । फलसिद्धि में प्रकृष्टोपकारक बाण है । प्रकृति आदि जिनमें ऐसे शब्दों से तृतीया होती है, यथा—स्वभाव से कोमल अर्थ में 'प्रकृत्या चारुः ।' आदि उदाहरणों में तृतीया इसने की है । 'प्रकृत्या अभिरूपः' यहाँ कृधात्वर्थ क्रियानिरूपित करणत्व से ही तृतीया सिद्ध है । इसी प्रकार अन्य भी ।

प्रश्न 24. 'दिवः कर्म चोरी' सूत्र में चकारार्थ विवेचित करते हुए सूत्र व्याख्या कीजिए ।

31. दिवः कर्म च ।।1।4।43।।

दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्, चात् कारण-संज्ञम् । अक्षैरक्षान् वा दीव्यति ।

सूत्र-व्याख्या—दिव धातु वाच्य-व्यापार से उत्पन्न जो फल, उसकी सिद्धि में जो प्रकृष्ट उपकारक उसकी कर्मसंज्ञा एवं करण में संज्ञा होती है । यहाँ चकार समुच्चायार्थक है, अतः एक ही समय में साधकतम में करणत्व एवं कर्मत्व इन दोनों

का समावेश है। यथा—'अक्षैः अक्षान् दीव्यति'—यहाँ करण संज्ञा से तृतीया एवं कर्मसंज्ञा से द्वितीया। पासो का नाम अक्ष है, इसके तीन भेद हैं—देवनाक्ष, शकटाक्ष एवं विभीतिकाक्ष। इस सूत्र में देवनाक्ष का ग्रहण है।

प्रश्न 25. 'मासमधीतो नायातः' यहाँ मास शब्द की करण संज्ञा 'अपवर्गे-तृतीया' सूत्र से क्यों नहीं होती ?

32. अपवर्गे तृतीया ॥2।3।6॥

अपवर्गः=फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां 'कालाध्वनोरत्यन्त' संयोगे तृतीया स्यात्। अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः। अपवर्गे किम् ? मासमधीतो नायातः।

सूत्र-व्याख्या—फल प्राप्ति होने पर काल वाचक एवं अध्व (मार्ग) वाचक से अत्यन्त संयोग में तृतीया होती है। अपवर्ग का अर्थ त्याग या मोक्ष। क्रिया की समाप्ति में एवं साकल्य अर्थ में भी अपवर्ग ग्राह्य है। फल प्राप्ति होने पर क्रिया की समाप्ति होती है। काल वाचक एवं मार्ग वाचक से तृतीया का उदाहरण यथा—अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकः=ऋक्यजुः समूहः, अधीतः। यहाँ अध्ययनजन्य ज्ञान प्राप्ति रूप फल प्राप्त है, अतः अहन् एवं क्रोश से तृतीया हुई।

मासपर्यन्त अध्ययन करने पर भी अनुवाक के अध्ययनजन्य ज्ञान प्राप्तिरूप फल न हुआ, वहाँ 'कालाध्वनो' से द्वितीया ही हुई, यथा—'मासमधीतो नायातः'।

प्रश्न 26. 'सहार्थेन युक्ते अप्रधाने' इस सूत्र वृत्ति में सहार्थकों का ग्रहण कैसे किया गया है, जबकि सूत्र में 'सह' शब्द का ही उपादान है ?

33. सहयुक्तेऽप्रधाने ॥2/3/19॥

सहार्थेन युक्ते अप्रधाने तृतीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकं सार्धं समं योगेऽपि। विनाऽपि तद्योगे तृतीया, वृद्धो यूनेत्यादिनिर्देशात्।

सूत्र-व्याख्या—सहशब्दार्थ युक्त अप्रधान कर्तृ वाचक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। यथा—"पुत्र सहित पिता आये।" यहाँ आगम क्रिया का प्रधान कर्ता पिता है, क्रिया में अनन्वयी पुत्र अप्रधान है, अतः पुत्र से तृतीया, प्रधान कर्ता से पिता में प्रथमा कारक विभक्ति हुई है। 'सह' शब्द के समानार्थक शब्दों के योग में भी इस सूत्र से अप्रधान में तृतीया की प्रवृत्ति होती है। यहाँ अप्रधान न कहते तो प्रधान कर्ता पिता (पितृ) से तृतीयापत्ति होती। वस्तुतः अप्रधाने व्यर्थ है, प्रधान कर्तृवाचक से कारक बिभक्ति बलवती है, वह उपपद तृतीया विभक्ति को बाध करेगी 'उपपद विभक्तेः कारक विभक्तिर्बलीयसी' सह परिभाषा है। 'वृद्धो यूना' में तृतीया निर्देश से यह सिद्ध होता है कि सहार्थ योग न भी रहे वहाँ भी इससे तृतीया होती है 'सह' शब्द विद्यमान भी है। "सदैव दशभिः पुत्रैभरि वहति गर्दभी' यहाँ भी तृतीया इस से हुई है।

प्रश्न 27. 'पादाभ्यां खञ्जः' इस प्रयोग में किस से विभक्ति हुई है, सूत्र लिखें।

34. येनाङ्गविकारः ॥2।3।20॥

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात् । अक्ष्णा काणः । अक्षिसम्बन्धि काणत्वविशिष्टः । अङ्गविकारः किम्—अक्षि काणमस्य ।

सूत्र-व्याख्या—सूत्र में अवयव वाचक 'अङ्ग' शब्द 'अर्श आदिभ्योऽच्' से मत्वर्थीय अच् प्रत्ययान्त है। यहाँ अच् प्रत्ययान्त अङ्ग का अर्थ=अङ्गी = शरीर अर्थ है। 'येन' में यत् शब्द से अङ्ग विशिष्ट अङ्गी में विशेषणतया भासमान अङ्ग को बोधन करता है। **अर्थ**—जिस अङ्ग विकृत से अङ्गी का विकार प्रतीयमान रहे वहाँ विकृत अवयव वाचक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। नेत्र सम्बन्धिकाणत्व विशिष्ट में 'अक्षि' शब्द से तृतीया होकर 'अक्ष्णा काणः' की सिद्धि हुई। लेश मात्र भी दर्शनसाहित्य ही काणत्व है। इस पुरुष की आँख काणी है—यहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं है। यहाँ शरीर रूप अङ्गी का विकार प्रतीयमान नहीं है, अतः यहाँ प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा ही है।

प्रश्न 28. निम्नलिखित प्रयोगों में किस से विभक्ति हुई है। सूत्र लिखें—

(क) कमण्डलुना छात्रः (ख) जटाभिस्तापसः ।

35. इत्थंभूत लक्षणे च । 2।3।21॥

किञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्यं लक्षणे तृतीया स्यात् । जटाभिस्तापसः । जटाज्ञाप्य तापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः ।

सूत्र-व्याख्या—इत्थंभूत अर्थात् इस प्रकार का वह है, इस अर्थ का जानने वाला जो अर्थ, उसके बोधक प्रातिपदिक से तृतीया विभक्ति होती है। जटाभिः तापसः । यहाँ जटा से तृतीया=जटाओं से वह तपस्वी है, यहाँ लक्षण जटा है।

36. संज्ञोऽन्य तरस्यां कर्माणि ।।2।3।22।।

सम्पूर्वस्य जानतेः कर्मणि तृतीया बा स्यात् । पित्रा पितरं व सञ्जानीते ।

सूत्र-व्याख्या—सम्पूर्वक 'ज्ञा' धातु के कर्म से तृतीया विभक्ति विकल्प से होती है। ज्ञा धात्वर्थ कर्म पिता है अतः तृतीया, पक्ष में द्वितीया = पित्रा पितरंवा ।

प्रश्न 29. करण तथा कारण का भेद समझाते हुए 'हेतौ' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिये।

37. हेतौ ।।2।3।23।।

हेत्वर्थे तृतीया स्यात् । द्रव्यादि साधारणं निर्व्यापार-साधारणं च हेत्वर्थम् । कारणत्वन्तु क्रियामात्रविषयं व्यापार नियतं च । दण्डेन घटः, पुण्येन दृष्टो हरिः । फलमपीह हेतुः । अध्ययनेन वसति । गम्यमानापि क्रिया कारक विभक्तौ प्रयोजिका । अलं श्रमेण, श्रमेणसाध्यं नास्तीत्यर्थः । इह साधनाक्रियां प्रति श्रमः करणम् । शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः शतेन परिच्छेद्येत्यर्थः । अशिष्ट व्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया । दास्या संयच्छते कामुकः । धर्म्येतु भार्य्यायै संयच्छते ।

सूत्र-व्याख्या—हेतु अर्थ में तृतीया होती है। द्रव्यादि साधारण और निर्व्यापार साधारण का नाम हेतु है। अर्थात् जो द्रव्य, गुण, और कर्म व्यापार से युक्त होकर क्रिया का जनक हो, वह करण है। यथा—'दण्डेन घटः' यहाँ दण्ड

निरूपित हेतुत्ववान् दण्ड है, इस कारण तृतीया हुई है। पुण्येन दृष्टो हरिः—यहाँ हरि दर्शन हेतु पुण्य से तृतीया हुई है। क्रोधेन रक्तः—यहाँ रक्त त्व में क्रोध हेतु है अतः क्रोध से तृतीया हुई है। यहाँ हेतु से फल का भी ग्रहण होता है। अध्ययनेन वसति—अध्ययन हेतु वास करता है, यहाँ वास का फल अध्ययन है, वही हेतु है।

वाक्य 'घटक' शब्द से अवाच्य अध्याहारादि से लभ्यं क्रिया को लभ्यमान क्रिया कहते हैं। वह भी कारक विभक्ति की उत्पत्ति में हेतु है। यथा—अलं श्रमेण = यह कार्य श्रम से साध्य नहीं है। यहाँ क्रिया की ऊहा की जाती है, इस ऊहित क्रिया का श्रम करण है, तर्कित क्रिया साधन है, उस साधन क्रिया निरूपित करणत्व श्रम में 'श्रमेण' यह तृतीया हुई। शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः = सौ बच्छड़ों को जल पिलाता है। यहाँ तर्कित परिच्छेदन क्रिया निरूपित करणत्व शत में है, अतः शतेन परिच्छिद्य अर्थ है। शास्त्र एवं धर्म विहित आचारवान् को शिष्ट कहते हैं एवं सकल पदार्थ के तत्व को पूर्ण रूप से जानने वाला भी शिष्ट है दुराचारी को अशिष्ट कहते हैं। अशिष्ट व्यवहार में दाण-धातु के प्रयोग स्थल में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है, यथा—दास्या संयच्छते कामुकः = कामी पुरुष रतिफलक दासी को दान देता है। दासी संगम निन्दित कर्म है। संयच्छते में दाण् को यच्छ आदेश है। यहाँ अधमर्थि दान होने से चतुर्थी न हुई किन्तु तृतीया हुई है। शिष्ट व्यवहार में धर्मार्थ दान को करें वहाँ चतुर्थी होती है। यथा—भार्यायै संयच्छते।

प्रश्न 30. 'दास्या संयच्छते' की तरह 'भार्यायै संयच्छते' में 'भार्या' शब्द से तृतीया विभक्ति क्यों नहीं होती ?

प्रश्न 31. दाधात्वर्थ का विवेचन करते हुए 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत कीजिये।

38. कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ॥1।4।32॥

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्।

सूत्र-व्याख्या—जिसको उद्देश्य करके अच्छी तरह दान दिया जाय उसको सम्प्रदान कहते हैं। इससे वृत्ति में 'दानस्य' का लाभ हुआ है। दा धातु का जो कर्म उससे सम्बन्ध कराने के लिए जो इष्ट है, अर्थात् जिसको उद्देश्य करके दान किया जाय उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। सम्प्रदान तीन प्रकार का है—

1. प्रेरक, 2. अनुमन्तृक, 3. अनिराकर्तृक। यथा—

(1) **प्रेरक**—भक्ति द्वारा भक्त राम को प्रेरणा मुक्ति के लिये करता है तब राम भक्त को मुक्ति देते हैं। 'रामो भक्ताय मुक्तिं ददाति।'

(2) अनुमन्तृक वह है जिसमें न प्रेरणा की जाय, न निराकरण किया जाय। यथा 'तापसः वने रामाय फलभूले ददाति।' यहाँ राम फल एवं भूल की प्राप्ति के लिये न प्रेरणा करते हैं और मना करते हैं।

(3) अनिराकर्तृक वह है जिसमें प्रेरणा, निराकरण और अनुमति भी न हो, यथा—'पुरुषोत्तमाय पुष्पं ददाति' यहाँ प्रेरणा, निषेध एवं ग्रहणविषय निश्चय नहीं प्रतीयमान है।

प्रश्न 32. 'पत्ये शेते' इस प्रयोग में 'हा' धातु के अभाव में भी चतुर्थी कैसे हुई ?

39. चतुर्थी सम्प्रदाने ॥2।3।13॥

विप्राय गां ददाति। अभिहित इत्येव। दानीयोविप्रः। क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्। पत्ये शेते। कर्मणः करण-संज्ञा, सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा। पशुना रुद्रं यजते, पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—सम्प्रदान में चतुर्थी होती है। विप्र यहाँ दान कर्म का उद्देश्य है, वह कर्म सम्बन्ध से इष्ट है, अतः 'विप्राय' यहाँ चतुर्थी हुई। विप्र को उद्देश्य कर गाय को चैत्र देता है। सम्प्रदान रूप अर्थ अन्य से अनुक्त रहे यहाँ चतुर्थी होती है। 'दानीयो विप्रः' यहाँ दान का उद्देश्य विप्र कृत्प्रत्यय अनीयर से उक्त है, अतः विप्र से प्रथमा विभक्ति हुई। चतुर्थी की यहाँ प्राप्ति नहीं है।

क्रिया से जिसके सम्बन्ध की इच्छा की जाय उसकी भी सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा—'पत्ये शेते' यहाँ स्त्री-शयन-क्रिया द्वारा प्रति-प्राप्ति की इच्छा करती है, अतः पति से चतुर्थी हुई है। यज धातु के कर्म की करण संज्ञा होती है एवं सम्प्रदान की कर्म संज्ञा होती है। यथा—'पशुना रुद्रं यजते' यहाँ रुद्र को पशु देता है, पशु यज का कर्म या उसके कारण से पशुना, रुद्र सम्प्रदान था उसकी कर्म संज्ञा होकर बना रुद्रम्।

प्रश्न 33. रुच्यर्थ धातुओं की परिभाषा समझाते हुए 'रुच्यार्थानां प्रियमाणः' सूत्र की व्याख्या कीजिए।

40. रुच्यार्थानां प्रीयमाणः ॥1।4।33॥

रुच्यार्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः। अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः हरिनिष्ठ प्रीतेर्भक्तिः कर्मी। प्रीयमाणः किम् ? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि।

सूत्र-व्याख्या—रुच्यार्थक धातुओं के प्रयोग में तृप्त होने वाले कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा—हर ये रोचते भक्तिः = हरि को भक्ति अच्छी लगती है। अभिलाप् धातु के कर्ता से भिन्न कर्ता रुच् धातु का होता है अर्थात् अभिपूर्वक 'लष्' धातु का कर्म जो भक्ति है, वह यहाँ रुच् धात्वर्थ क्रिया की कर्मी है। इस प्रकार रुच् धातु एवं अभिलष् धातु में भेद है। अतः अभिलष् धातु के योग में सम्प्रदान संज्ञा न हुई, यथा—'हरिः भक्तिम् अभिलषति' यहाँ हरि से प्रथमा, और भक्ति से कर्म में द्वितीया हुई है।

दोनों धातुएँ एकार्थक नहीं हैं, इसी भ्रम के निवारण हेतु ग्रन्थकार स्वयं लिखते हैं कि 'अन्यकर्तृकोऽभिलाषोरुचिः अन्य का अर्थ है भिन्नः, = भेदवान् = भेदाश्रय,

भेद अपने प्रतियोगी में नित्य साकांक्ष है कि प्रायोगिक भेद, स्वप्रतियोगिक भेद तो स्व में रहता ही नहीं, क्योंकि प्रतियोगी की सत्ता तद् अभाव विषयक बुद्धि में प्रति बन्धक है। अतः प्रकृत में 'अभिलष्' धातु का जो कर्ता, तत्कर्तृ प्रतियोगिक भेदवत् जो कर्म उस धातु का वह है कर्ता जिसका ऐसा रुच् धातु है। हरिनिष्ठ प्रीति की भक्ति कर्त्री है। प्रीत्याश्रय हरि है, हरि के अन्तःकरण में समवाय सम्बन्ध से प्रीति विद्यमान है। प्रीत्याश्रय पुरुष अभीष्ट वरदाता होता है। अतः भक्त भक्ति = पूज्य में अनुराग करता है। प्रीत्याश्रय न होने से मार्ग वाचक की सम्प्रदान संज्ञा न हुई अपितु 'पथि' यहाँ अधिकरण में सप्तमी हुई है—'देवदत्त को मार्ग में लड्डू अच्छा लगता है।' हर्षार्थक मुद् धातु से ण्वुल् प्रत्यय से मोदक शब्द (हर्ष देने वाला) की सिद्धि हुई है— ब्राह्मणों मोदकः प्रियः, अलङ्कार प्रियो विष्णुः नमस्कार प्रियो भानुः, जलधारप्रियः शिवः।

प्रश्न 34. 'श्लाघ ह्नुङ्स्थाशपादि' सूत्र में ज्ञीप्स्य मान पदार्थ का क्या तात्पर्य है?

41. श्लाघ ह्नुङ् स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ।।1।4।34।।

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात्। गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते, शपते वा। ज्ञीप्स्यमानः किम्, देवदत्तस्या श्लाघते पथि।

सूत्र-व्याख्या—श्लाघ्, ह्नुङ् एवं शप् इन धातुओं के योग में जिसको जनाया जाय उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा 'गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते, शपते वा, गोपी काम के वश होकर कृष्ण की प्रशंसा करती है। सपत्नी से दूर करती है, स्थिर होकर अपना अभिप्राय प्रकट करती है और कृष्ण को उपालम्भ देती है। इनसे कृष्ण विषयक अनुराग को जानती है, अतः कृष्ण की सम्प्रदान संज्ञा यहाँ हुई है। जिसको जनाया जाय = यद्विषयक अनुराग का व्यक्तिकरण किया जाय यह कहने से 'देवदत्तस्य श्लाघते पथि' यहां मार्गरूपार्थक की सम्प्रदान संज्ञा न हुई, वहाँ 'पथि' में अधिकरण में सप्तमी विभक्ति हुई।

प्रश्न 35. 'उत्तमर्णाधमर्ण' शब्दार्थ समझाते हुए धारेरुत्तमर्ण सूत्र की व्याख्या कीजिये।

42. धारेरुत्तमर्णः ।।1।4।35।।

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्णः उक्तसंज्ञः स्यात्। भक्ताय धारयते मोक्षं हरिः। उत्तमर्णः किम्? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे।

सूत्र-व्याख्या—ऋण देने वाले को उत्तमर्ण कहते हैं एवं ऋण ग्रहण करने वाले को अधमर्ण कहते हैं। ण्यन्त धृ धातु का प्रयोग हो वहाँ उत्तमर्ण की सम्प्रदान संज्ञा होती है। भक्त ने प्रथम रूपी ऋण (कर्ज) हरि को दिया, ऋण के धारण करने वाले हरि जो अधमर्ण हैं वे उत्तमर्ण भक्त को ऋण चुकाने के लिये मोक्ष प्रदान करते हैं। यथा—'भक्ताय धारयते मोक्षं हरिः' = हरि भक्त के लिए मोक्ष को धराते हैं। ग्राम यहाँ उत्तमर्ण नहीं हैं अतः सम्प्रदान संज्ञा न हुई। किन्तु अधिकरण में सप्तमी है।

प्रश्न 36. 'ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा, प्रकर्षविवक्षा यान्तु परत्वात्कर्म संज्ञा' इस पंक्ति का विवेचन करते हुए 'स्पृहेरीप्सितः' सूत्र की व्याख्या कीजिये।

43. स्पृहरीप्सितः ॥1।4।36॥

स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात्। पुष्पेभ्यः स्पृहयति ईप्सियतः किम्? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति। ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा, प्रकर्षविवक्षायान्तु परत्वात्कर्मसंज्ञा-पुष्पाणि स्पृहयति।

सूत्र-व्याख्या—ण्यन्त स्पृह् धातु के योग में ईप्सित की सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा—पूष्पेभ्यः स्पृहयति = फलों के निमित्त इच्छा करता है। यहाँ ईप्सित पुष्प हैं। वन की सम्प्रदान संज्ञा न हुई क्योंकि वेईप्सित नहीं अतः वहाँ 'वने' यह सप्तमी हुई। वे फूल अत्यन्त अच्छे लगते हैं, इस प्रकार की इच्छा में ईप्सिततमत्व की विवक्षा है। यहाँ परत्व के कारण 'कर्तृरीप्सिततमम्' से कर्म संज्ञा से पुष्प से द्वितीया ही होती है। यथा—पुष्पाणि स्पृहयति।

प्रश्न 37. 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' यहाँ 'यं प्रति कोपः' इस पदोपादान का प्रयोजन सिद्ध करते हुए सूत्र की व्याख्या कीजिये।

44. क्रुधद्रुष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ॥1।4।37॥

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्त संज्ञः स्यात्। हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्याति, असूयति। यं प्रतिकोपः किम्? भार्याम् ईर्ष्यति, मैसमान्योऽद्राक्षीदिति। क्रोधः = अमर्षः। द्रोहः = अपकारः। ईर्ष्या = अक्षमा। असूया = गुणेषु दोषाविष्करणम्। द्रुहादयोऽपि क्रोपप्रभवा एव गृह्यन्ते। अतो विशेषणं सामान्येन यं प्रति कोप इति।

सूत्र-व्याख्या—क्रुध्, द्रुह्, ईर्ष्य, असूय इन धातुओं के प्रयोग में जिसके प्रति क्रोध किया जाय उस कारक को सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा—हरये क्रुध्यति आदि = हरि के अर्थ (लिये) क्रोध करता है, अपकार करता है, ईर्ष्या करता है, एवं गुणों में दोष निकालता है। यदि हरि के प्रति क्रोधादि की अभिव्यक्ति है। अतः हरि की सम्प्रदान संज्ञा एवं उससे चतुर्थी होकर 'कृष्णाय' बना। अन्य पुरुष के दर्शनवती अपनी स्त्री को धमकाता है कि इसको अन्य पुरुष न देखें। यहाँ वास्तव में स्त्री के प्रति क्रोध की अभिव्यक्ति वह पुरुष नहीं करता है किन्तु उसका अभिप्राय अन्य पुरुष दर्शनाभाव में है, अतः 'भार्याम्' यहाँ कर्म में द्वितीया ही हुई है।

सूत्र में कथित चारों शब्दों में भिन्नार्थत्व है। यथा—अमर्ष को क्रोध कहते हैं। अपकार को द्रोह कहते हैं। अक्षमा को ईर्ष्या कहते हैं एवं गुणों में दोष देखने को असूया कहते हैं। द्रुहादि भी क्रोध से उत्पन्न हैं अतः सामान्यतः सभी धात्वर्थों का विशेषण 'यम्प्रति कोपः। कहा है, 'न हि अकुपितः' कुध्यति आदि।

45. क्रुधद्रुहोरूपसृष्टयोः कर्म ॥1।4।38॥

सोपसर्गयोरनयोर्यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। क्रूरमभि क्रुध्यति अभिद्रुह्यति।

सूत्र-व्याख्या—उपसर्गपूर्वक क्रुध् एवं द्रुह के योग में जिसके प्रति क्रोध गम्यमान रहे उस कारक की कर्म संज्ञा होती है। यह पूर्व सूत्र का बाधक है। क्रूरमभिक्रुध्यति, द्रुह्यति = क्रूर पुरुष पर क्रोध एवं द्रोह करता है, यहाँ क्रूर की पूर्व सूत्र से प्राप्त सम्प्रदान संज्ञा का निषेध होकर इस सूत्र से (यहाँ) कर्मसंज्ञा हुई है।

प्रश्न 38. 'विप्रश्नः' शब्दार्थ का सोदाहरण विवेचन कीजिये।

46. राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ॥1।4।39॥

एतयोः कारकं सम्प्रदान संज्ञं स्यात्। यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते। कृष्णाय राध्यति, ईक्षतेवा। पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—राध् एवं ईक्ष् धातु के प्रयोग में जिसका विविध प्रकार का प्रश्न हो उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा—कृष्णाय राध्यति ईक्षते = नन्द द्वारा कृष्ण के विषय में अनेक प्रश्न पूछने पर कृष्ण के भाग्य विषयक ग्रहों का महादैवज्ञ वैयाकरण शिरोमणि गर्गाचार्य आलोचना करते हैं, यहाँ कृष्ण की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हुई है।

प्रश्न 39. प्रत्याङ्भ्याम् इत्यादि सूत्र में पूर्वस्य कर्त्ता कहने का क्या तात्पर्य है?

47. प्रत्याङ्भ्याम् श्रुवः पूर्वस्य कर्ता ॥1।4।40॥

आभ्यां परस्य श्रृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तना रूप व्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात्। विप्राय गां प्रति श्रृणोति, आश्रृणोति वा। विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितः प्रतिजानीते इत्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—प्रति पूर्वक एवं आङ् पूर्वक 'श्रु' धातु के योग में जो पूर्व प्रेरणा रूप व्यापार का कर्ता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा—'विप्राय गां ददाति' यहाँ यजमानं को ब्राह्मण ने प्रेरणा गोदानार्थ ही दी थी तदनन्तर वह ब्राह्मण को उद्देश्य कर गाय रूप कर्म का दान करता है। प्रति जानीते = दान देने की प्रतिज्ञा करता है।

48. अनुप्रतिगृणश्च ॥1।4।41॥

आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्व व्यापारस्य कर्तृ भूतम् उक्त संज्ञं स्यात्। होत्रेऽनुगृणाति प्रतिगृणाति = होता प्रथमं शंसति, तम् अध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—अनुपूर्वक एवं प्रतिपूर्वक गृधातु के योग में पूर्व व्यापार के कर्तृ कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा—होत्रेऽनुगृणाति, प्रतिगृणातिः होतात्प्रथम कहता है पश्चात् अध्वर्यु उसको उत्साहित करता है। यहाँ पूर्व व्यापार का कर्ता होता है। अतः उसकी सम्प्रदान संज्ञा, उससे चतुर्थी में 'होत्रे' बना।

49. परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ॥1।4।44॥

नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणं तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात्। शतेन शताय वा परिक्रीतः। तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या। मुक्तये हरिं भजति।

'क्लृपि सम्पद्यमाने च ।' भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते इत्यादि । उत्पातेन ज्ञापिते च । वाताय कपिला विद्युत् । 'हित योगे च ।' ब्राह्मणाय हितम् ।

सूत्र-व्याख्या—नियत समय तक धनादि देकर जो भृत्य = सेवक को अत्यन्त स्वाधीन कर लेना ही परिक्रयण कहलाता है। उस परिक्रयण में अत्यन्त साधक की सम्प्रदान संज्ञा विकल्प से होती है । यथा–सौ रुपये देकर स्वीकार किया हुआ 'सेवक' यहाँ परिक्रयण में प्रकृष्ट उपकारक 'शत' है, अतः उसकी सम्प्रदान संज्ञा हुई, चतुर्थी से 'शताय' हुआ । सम्प्रदान के अभाव में करण में तृतीया से 'शतेन' हुआ ।

जिस कार्य के लिये कारण वाचक शब्द का प्रयोग किया हो उसकी तादर्थ्य संज्ञा होती है । उससे चतुर्थी होती है । यथा—मुक्तये हरिं भजति = मुक्ति के लिए हरि का भजन करता है । यहाँ मुक्ति रूप कार्य के निमित्त हरि का भजन है, मुक्तिरूप कार्यार्थ मुक्ति की सम्प्रदान संज्ञा से चतुर्थी 'मुक्तये' हुई । क्लप् धातु के योग में उत्पन्न होने वाला जो कारक है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है । यथा—भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते = भक्ति ज्ञान के लिए होती है । यहाँ क्लप् धातु के सामानार्थक सम्पूर्वक पद् धातु और 'ज्ञा' धातु है । वार्तिक में पर्य्यायवाचक धातुओं के ग्रहण निमित्त अर्थ शब्द है । 'ज्ञानाय' यहाँ चतुर्थी । अशुभ घटना के सूचक को उत्पात कहते हैं । जहाँ उत्पात से जो जाना जाय तद्वाचक से चतुर्थी होती है, यथा—वाताय कपिलाविद्युत् = पीतवर्षा की बिजली से आँधी बहुत आती है । यहाँ वात से चतुर्थी हुई है । आतपाय अतिलोहिनी = अत्यधिक लाल वर्ण की बिजली धूप के निमित्त होती है । कृष्णा सर्वविनाशाय = काली विद्युत् सब के नाश निमित्त होती है । दुर्भिक्षाय सिता भवेत् = सफेद वर्षा की (शुभ्र) विद्युत् दुर्भिक्ष (अकाल) के निमित्त होती है । यहाँ उत्पात वाचक से चतुर्थी हुई । हित शब्द के योग में जिसका हित प्रतीयमान रहे उससे चतुर्थी विभक्ति होती है । ब्राह्मणाय हितम् (अध्ययनम्), यहाँ ब्राह्मण के लिए अध्ययनादि शुभ कर्म हित सम्पादक है । यहाँ चतुर्थी से 'ब्राह्मणाय' हुआ । यह वार्तिक अपूर्व नहीं है । तत्पुरुष समास में 'चतुर्थी तदर्थ' सूत्र हित सुबन्त का चतुर्थ्यन्त के साथ समास संज्ञा बोधक है, उससे ही ज्ञापन होता है कि 'हित' शब्द के योग में कारक से चतुर्थी होती है । अन्यथा चतुर्थ्यन्त मिलेगा नहीं, हित के साथ समास न होने पर उक्त सूत्र में किया गया हित ग्रहण व्यर्थ ही होगा । अतः उससे लब्धार्थ का यह अनुवादक मात्र है—'हित योगे च' । कात्यायनादि की कृति नहीं है ।

प्रश्न 40. 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इस सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिये ।

50. क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ॥2।3।14॥

क्रियार्थाक्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात् । फलेभ्यो याति । फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः । नमस्कुर्मो नृसिंहाय । नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः । एवं 'स्वयं भुवे' नमस्कृत्येत्यादावपि ।

सूत्र-व्याख्या—गुणत्व का अनाश्रयण एवं विभाग का असमवायी जो कारण है उसको क्रिया कहते हैं। संयोगजन्य संयोग एवं विभागजन्य विभाग उसमें क्रिया लक्षण अतिव्याप्त न हो एतदर्थ यहाँ विशेषण दिया गया है। यहाँ क्रिया अर्थ: प्रयोजनं यस्या सा क्रियार्था = क्रिया के निमित्त क्रिया के अर्थ जिसके उपपद क्रिया हो ऐसे स्थानी = अप्रयुज्यमान तुमुन् प्रत्ययान्त के कर्म से (तद्वाचक से) चतुर्थी होती है। यथा—फलेभ्यो याति = फलों को लेने के निमित्त वह जाता है। यहाँ आहर्तुम् का कर्म फल है, फलों के आहरणार्थ यानक्रिया है। जिस क्रिया का फल कर्म है उस क्रिया वाचक शब्द 'आहर्तुम्' का यहाँ प्रयोग नहीं है। किन्तु अध्याहारादि से उसकी मानसिक प्रतीति यहाँ गम्यमान है। क्यों वह जाता है? आहरण के लिए, किस का आहरण? फलों का। 'नमस्कुर्मो नृसिंहाय' = नृसिंहावतार-धारण करने वाले भगवान् की हम लोग नमस्कार करते हैं।

यहाँ अप्रयुज्यमान 'अनुकूलयितुम्' का कर्म नृसिंह है, अतः चतुर्थी हुई। नृसिंहत्व विशिष्ट जात्यन्तर है। इसी प्रकार स्वयंभू भगवान् को अनुकूल करणार्थ हम लोग प्रणाम करते हैं। यहाँ भी 'स्वयंभुवे' चतुर्थी हुई है। यह सूत्र कर्मार्थक द्वितीया का बाधक है।

प्रश्न 41. 'तुमर्थाच्च' इति सूत्र में भाववचनात् इसका विवाक्षित क्या है?

51. तुमर्थाच्च भाववचनात् ॥2।3।15॥

भाववचनाच्च (3/3/11) इति सूत्रेण योविहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात्। यागाय याति = यष्टुमातीत्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—'भाववचनाच्च' इस सूत्र से विहित जो प्रत्यय तदन्त से चतुर्थी होती है। यथा—यागाय याति = यज्ञ करने के निमित्त वह जाता है, यहाँ 'याग' शब्द 'यजनं यागः' भाव में घञ् प्रत्यय कर उपधावृद्धि कर कुत्व से बना है। अतः याग से चतुर्थी होकर 'यागाय' बना है जो भावार्थक प्रत्ययान्त एवं भावप्रत्यय की प्रकृति का ही अर्थ है, किन्तु यहाँ तुम् का अर्थ द्योतक है।

प्रश्न 42. 'प्रभुर्बुभूषु भुवनत्रयस्यय:' इस साध पद में 'प्रभु' शब्द के योग में चतुर्थी न होकर षष्ठी विभक्ति का करना उचित है या नहीं। विवेचना कीजिए।

52. नमःस्वस्ति स्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च ॥2।3।16॥

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात्। हरये नमः। उपपदविभक्तेः कारक-विभक्तिर्बलीयसी। नमस्करोति देवान्। प्रजाभ्यः स्वस्ति अग्नये स्वाहा। पितृभ्य स्वधा। अलमिति पर्य्याप्त्यर्थ-ग्रहणम्। तेन दैत्यभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त इत्यादि। प्रभ्वादि योगे षष्ठ्यपि साधुः। तस्मै प्रभवति स एषां ग्रामणीरिति निर्देशात्। तेन प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्येति सिद्धम्। वषट् इन्द्राय। चकारः पुनर्विधानाय। तेनाशीर्विवक्षायां परामपि चतुर्थी चाशिषीति षष्ठी बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति। स्वस्ति गोभ्यो भूयात्।

सूत्र-व्याख्या—नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम्, वषट्, इनके योग में उद्देश्य वाचक शब्द से चतुर्थी होती है। यथा—'हरये नमः' यहाँ हरि को उद्देश्यकर

नमस्कार विधेय है। जहाँ एक समय में एक कारक की उपपद निमित्तक विभक्ति प्राप्त है एवं कारक विभक्ति भी प्राप्त है तो वह कारक विभक्ति बलवती होकर उपपदविभक्ति को बाध करती है। यथा—नमस्करोति देवान्, मुनित्रयं नमस्कृत्य। यहाँ भाष्य वार्तिक प्रामाण्य से 'अलम्' केवल पर्याप्ति अर्थ वाचक का ग्रहण है, अन्यार्थ—भूषण, अलंकार निषेधादिका नहीं है।

अलम् के पर्याय वाचक यद्यपि प्रभु, समर्थ, शक्त भी है किन्तु प्रभु आदि के योग में षष्ठी विभक्ति भी होती है, यथा—"तस्मै" 'एषाम्' द्विविध सौत्रप्रयोग है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रभु के योग में षष्ठी से तीनों भवनों का स्वामी बनने की इच्छा वाला अर्थ में 'भुवनत्रयस्य प्रभुः' यह सुसङ्गत है। सूत्र में चकार योग विभाग द्वारा उसी अर्थ का जो सूत्र प्रतिपादित है, उसका विधायक है। पृथक् 'च' योग विभाग बाधक बाधनार्थ है, अतः आशीर्वाद अर्थ में 'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्' यहाँ पर भी 'चतुर्थी चाशिषि' को बाधकर षष्ठी न होकर चतुर्थी ही होकर गो से 'गोभ्यः' बना है।

प्रश्न 43. 'तृणायमत्त्वा रघुनन्दनो नः' इसमें 'तृण' शब्द में किस सूत्र से चतुर्थी होती है ?

53. मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु ॥2/3/17॥

प्राणिवर्ज्ये मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्। तिरस्कारे न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा। श्यना निर्देशात् तानादिक योगे न। न त्वां तृणं मन्ये। अप्राणिष्वित्यपनीय—'नौ काकान्नशुकश्शृगालवर्जेष्विति वाच्यम्।' तेन न त्वां नावम् अन्नं वामन्ये इत्यत्राप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न। न त्वां शुने श्वानं वा मन्ये इत्यत्रप्राणित्वेऽपि भवत्येव।

सूत्र-व्याख्या—प्राणी को छोड़कर तिरस्कार अर्थ में दिवादि मन् धातु का जो कर्म तद्वाचक से उसमें चतुर्थी होती है। पक्ष में द्वितीया। मैं तुम को तृण के समान भी नहीं मानता हूँ, यहाँ तृणाय 'तृणम्' हुआ है। यदि सूत्र में द्विवादि एवं तनादि उभय मन् का ग्रहण होता तो लाघवार्थ मन् कर्मणि यह आचार्य कहते, पुनः 'मन्य' यह गुरुभूत निर्देश से श्यन् विकरण दिवादिगण पठित मन् का ही यहाँ ग्रहण है, वह श्यन् निर्देश तनादि की व्यावृत्ति करने में उपलक्षण है विशेषण नहीं। अतः दिवादिका मन् लट्, लोट्, लङ् एवं विधि में श्यन् विकरण है, अन्य लकारों में श्यन् विकरण नहीं है वहाँ भी यह चतुर्थी का विधान करेगा। उपलक्षण को स्वयं रहने की आवश्यकता नहीं है तो भी इतर का व्यावर्तक हो सकता है—अविद्यमानं सत् व्यावर्तकम् यथा 'काकवन्तो देवदत्तस्यगृह्यः।' यहाँ अप्राणिषु इस पद को निकाल कर उसके स्थान में यह पढ़ना चाहिये। अतः न त्वां 'नावम्' 'अन्नम्' यहाँ अप्राणि होते हुये भी निषेध से द्वितीया ही हुई है। तुम को मैं कुत्ते के समान भी नहीं समझता हूँ, यहाँ श्वन् से शूनम्, शुने प्राणी होते हुये भी हुआ।

प्रश्न 44. प्रकरण विशेषता से दाधात्वर्थ की विविधता का सोदाहरण विवेचन करते हुये उत्पथेन सत्पथं गच्छति में विभक्ति समन्वय कीजिए ।

54. गत्यर्थकर्मणि द्वितीया चतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनिः ॥2/3/12॥

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मणि एते स्तश्चेष्टायाम् । ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति । चेष्टायां किम् ? मनसा हरिं व्रजति । 'अनध्वनि' इति किम् पन्थानं गच्छति । गन्त्राधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः । यदा तूत्पथात्पन्था एवाक्रमितृमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव । उत्पथेन पथे गच्छति ।

सूत्र-व्याख्या—अध्व वाचक शब्द भिन्न गत्यार्थक धातु के कर्म से चेष्टा अर्थ में द्वितीया एवं चतुर्थी होती है । गाँव को जाता है यहाँ 'ग्रामायं ग्रामम्' हुआ है । शरीर के व्यापार को चेष्टा कहते हैं='प्राणिनां हिताहितपरिहारार्था चेष्टा' । 'मनसा हरिं व्रजति ।' यहाँ चेष्टा अर्थ नहीं है । अतः यहाँ केवल हरि से द्वितीया कर्म में हुई है—'पन्थानम्' यह मार्गार्थि से केवल द्वितीया ही हुई है । गमन कर्ता से अधिष्ठित मार्ग में जाने की इच्छा हो तो वहाँ चतुर्थी ही होगी यथा—उत्पथेन सत्पथे गच्छति=उन्मार्ग से सुमार्ग में जाता है, इस विशेषार्थ बोधन में भाष्यकार का वार्तिक ही प्रमाण है ।

यहाँ अधिष्ठित शब्द से 'शब्द प्रयोग' काल में कर्तृ वृत्ति व्यापार में जन्य जो फल उसका ग्रहण करना उचित है ।' 'क्रुद्धोऽध्यापकः=खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटान् ददाति', रजकाय वस्त्रं ददाति, शिष्याय मतिं ददाति, रोगिणे ओषधं ददाति । मैत्रावरूणाय दणुप्रदानम्, आदि स्थलों में दाधात्वर्थ भिन्न-भिन्न है ।

प्रश्न 45. 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' सूत्र में ध्रुवपदार्थ क्या है ?

55. ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥1/4/24॥

अपायः=विश्लेषस्तस्मिन् साध्ये ध्रुवम्=अवधिभूतं कारकम् अपादानं स्यात् ।

सूत्र-व्याख्या—यहाँ ध्रुवपद स्थिरार्थक नहीं है, किन्तु विभाग का जनक व्यापार का आश्रय न रहते हुये विभाग का जो आश्रय तदर्थक है । चल एवं अचल से दो प्रकार का अपादान है,- ''धावतोऽश्रवात् पतति'= दौड़ते हुये घोड़े से गिरता है, यह चल अपादान है । अचल अपादान, यथा—पर्वतात् पतति=पर्वत से गिरता है । वृक्षात् पर्णं पतति=वृक्ष से पत्ती गिरती है । भेड़ आपस में टक्कर से हटते हैं = मेषौ परस्पराद् अपसर्थतः ।

प्रश्न 46. 'बुद्धिकृतमपि अपादानमपिगृह्यते' इसका सोदाहरण विवेचन कीजिए ।

56. अपादाने पञ्चमी ॥2/3/28॥

ग्रामादायाति । धावतोऽश्रवात् पतति । कारकं किम् ? वृक्षस्य पर्णं पतति । 'जुगुप्साविरामप्रभादार्थानामुपसङ्ख्यानम् ।' पापाज्जुगुप्सते, विरमति । धर्मात्प्रमाद्यति ।

सूत्र-व्याख्या—अपादान में पञ्चमी विभक्ति प्रातिपदिक से होती है—**ग्रामाद्** आयाति = गाँव से आता है जिस स्थान से वह चला उस स्थान से चलने वालों का विभाग हुआ, विभागाश्रय यहाँ ग्राम है. विभाग जनक क्रिया का आश्रय कर्ता है, अतः विभागाश्रय की अपादान संज्ञा पूर्वक यहाँ पञ्चमी है। धावतोऽश्वात् पतति = दौड़ते हुये घोड़े से वह गिरता है। यहाँ पतन का विभागाश्रय घोड़ा है, तद्वाचक अश्व से पञ्चमी। अश्व का विशेषण शतृप्रत्ययान्तार्थ है तद्वाचक धावत् से भी पञ्चमी विशेष्य-विशेषण की समान विभक्ति हो, अभेदान्वय बोध में धावनक्रियाश्रय-भिन्न अश्व यह इन दोनों पदार्थों का अर्थ है। यह चल अपादान का उदाहरण है। वृक्षसम्बन्धवत् पर्णकर्मक वर्तमानकालिक पतन एतदर्थक = 'वृक्षस्य पर्णं पतति' यहाँ वृक्षकारक नहीं है। अतः सम्बन्ध में षष्ठी हुई है, वहाँ सम्बन्ध 'अवयव-अवयवी' है। निन्दा, विरति एवं प्रमाद बोधक धातुओं के कारक की अपादान संज्ञा होती है। यथा—पापात् जुगुप्सते = पाप के कारण संसार में निन्दा का पात्र वह होता है। यहाँ गुप् धातु से सन्प्रत्यय निन्दा अर्थ में है।

पापात् विरमति—यहाँ 'पापात्' अपादाने पञ्चमी है। धर्मात् प्रमाद्यति—वह धर्म कार्य में आलस्य लक्षण प्रमाद करता है। यहाँ इस वार्तिक की आवश्यकता नहीं है। यहाँ भी 'ध्रुवमपाये' सूत्र से अपादान संज्ञा होकर अपादान कारक से पञ्चमी सिद्ध ही है। यथा—जो मनुष्य जिस कार्य से निन्दित लोक में होता है, उस कार्य से वह पृथक् होता है। यहाँ पापविभागाश्रय होने से अपादानत्व सिद्ध ही है। पाप से विराम को प्राप्त करने में भी पृथक् कारणार्थ की यहाँ स्पष्ट प्रतीति है। जो जिससे प्रमाद करता है, वह उससे अलग होता है। अतः धर्म का भी विभागाश्रयत्वेन उसका अपादानत्व सिद्ध ही है, तो वार्तिक अनावश्यक है। अतः इसका अनारम्भ ही उचित है।

प्रश्न 47. 'कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे' यहाँ 'भीत्रार्थानां भय-हेतुः' सूत्र से तृतीया क्यों नहीं होती ?

57. भीत्रार्थानां भयहेतुः ॥1/4/25॥

भयार्थानां त्राणार्थानां प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात् । चौराद् (चोराद्) बिभेति । चौरात् त्रायते । भयहेतुः किम् ? अरण्ये बिभेति, त्रायते वा ।

सूत्र-व्याख्या—भय अर्थ वाले एवं रक्षा अर्थ वाले धातुओं के प्रयोग में भय का जो हेतु = कारण है उसकी अपादान संज्ञा होती है। चोर से डरता है, चोर से वह अपनी रक्षा करता है, यहाँ चोर से अपादान संज्ञा पूर्वक पञ्चमी हुई है—'चौरात्। अरण्ये = वन में डरता है' यहाँ अरण्य भय का कारण नहीं है अतः अरण्य से सप्तमी हुई है। यहाँ भी जिससे जो डरता है या जो जिससे रक्षार्थ अलग होता है, में विभागाश्रय चोर है पूर्व से अपादानत्व सिद्ध है ही अतः इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न 48. 'पराजेरसोढ़' इस सूत्र में असोढपदार्थ का स्फुट विवेचन कीजिए।

58. पराजेरसोढ़: ॥1/4/26॥

पराजे: प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात्। अध्ययनात् पराजयते, गलायतीत्यर्थ:। असोढ़ किम्? शत्रून् पराजयते = अभिभवतीत्यर्थ:।

सूत्र-व्याख्या—परा उपसर्गपूर्वक जिधातु के योग में असह्य कारक की अपादान संज्ञा होती है। यथा—अध्ययनात् पराजयते = पढ़ने से ग्लानि = सुस्तता का अनुभव करता है। यहाँ अध्ययन से पञ्चमी विभक्ति हुई है। यहाँ भी जो जिससे ग्लानि का अनुभव करता है, वह उससे अलग होता है, सामान्य सूत्र से यहाँ अपादानत्व सिद्ध है ही, अत: इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। 'शत्रुओं का तिरस्कार करता है' यहाँ 'शत्रून् पराजयते' में असाध्य अर्थ शत्रु नहीं अत: शत्रुपद से कर्मार्थिक द्वितीया हुई है। यद्यपि जिधातु परस्मैपदी है किन्तु वि यापरा उपसर्गपूर्वक वह आत्मनेपदी होता है। यथा—'विपराभ्यां जे:'।

प्रश्न 49. 'वारणार्थ' धातु कौनसी-कौनसी है, सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

59. वारणार्थानामीप्सित: ॥1/4/27॥

प्रवृत्तिविघात: = वारणम्। वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं स्यात्। यवेभ्यो गां वारयति। ईप्सित: किम्? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे।

सूत्र-व्याख्या—कुछ काम करने में प्रवृत्त को वहाँ से उठा देना, उसी को वारण कहते हैं। वारणार्थक धातुओं के योग में इष्ट कारक की अपादान संज्ञा होती है। अर्थात् वारणार्थ धात्वर्थ व्यापारजन्य जो फल है, उसके आश्रय की अपादान संज्ञा होती है। यथा—यवेभ्यो मां वारयति = यवभक्षण रूप कार्य से वह गाय का निवारण करता है। यहाँ ईप्सित यव है अत: उसकी अपादान से पञ्चमी 'यवेभ्य:' हुई। क्षेत्र = खेत ईप्सित नहीं है, अत: क्षेत्र की अपादान संज्ञा नहीं हुई, अपितु अधिकरण में सप्तमी 'क्षेत्रे' हुई है। धात्वर्थ यहाँ प्रवृत्ति = संयोगजनक व्यापार रूप है। विधात पूर्वोक्त व्यापार का अभाव है।

दोनों अंशों का मिलाकर यह अर्थ हुआ कि संयोग का उत्पादक व्यापार का अभाव जनक व्यापार। गाय की इच्छा है कि यव मेरे उदरस्थ हो जाय, एतदर्थ गाय की प्रवृत्ति है, खेत के मालिक ने उस व्यापार से गाय को अलग कर दिया अलग करने वाले को ईप्सित यव है, वह यवरक्षार्थ ही रोकने में प्रवृत्त है। संयोग रूप फलाश्रय गाय है। अत: 'गाम्' यहाँ कतुरीप्सितमम् से कर्मत्व प्रयुक्त द्वितीया हुई है।

संयोगजनकव्यापाराभाव रूप फलाश्रय यव है, उसकी इससे अपादान संज्ञा से पञ्चमी 'यवेभ्य:' अतिशय ईप्सित में कर्मसंज्ञा, सामान्यत:, ईप्सित की अपादान संज्ञा से कर्म एवं अपादान का संघर्ष नहीं है। विषय विभाग है। अन्यथा विशेष

संज्ञा = अपादान से कर्मत्व शक्ति का बाध होता, इसीलिये कर्मसंज्ञा में केवल ईप्सित न कहकर 'ईप्सिततम' का ग्रहण किया है। यथा—'अग्नेर्माणवकं वारयति' यहाँ अग्नि की अपादान संज्ञा से पञ्चमी एवं ईप्सिततम माणवक की कर्मसंज्ञा हुई है।

प्रश्न 50. 'येनादर्शनमिच्छति' इसका क्या अभिप्राय है? विवेचन करते हुये सोदाहरण सूत्र व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।

60. अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति ।।1/4/28।।

व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात्। मातुर्निलीयते कृष्णः। अन्तर्धौ किम्? चौरान्न दिदृक्षते। इच्छति ग्रहणं किम्? अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात्।

सूत्र-व्याख्या—छिप जाना अर्थ को अन्तर्धा कहते हैं। छिपा उससे जाया जाता है कि जिसको स्वयं को दिखाने की इच्छा न हो। अर्थात् व्यवधान रहने पर भी जिससे अपना अदर्शन की इच्छा मात्र प्रतीयमान हो उसकी अपादान संज्ञा होती है। यथा—मातुर्निलीयते कृष्णः = कृष्ण की इच्छा यहाँ यह है कि माता मुझ को न देखे, एतदर्थ वह उससे छिपता है, अतः मातृ की अपादान से पञ्चमी 'मातुः' हुई।

व्यवधान न होने पर अपादान संज्ञा नहीं होती है। यथा—सामने से तस्कर (चौर) आ रहा है। किन्तु उसको भय से देखने की इच्छा वह नहीं करता है, अतः यहाँ चौर की कर्मसंज्ञा से द्वितीया होकर 'चौरान्' यह द्वितीयान्त शब्द प्रयोग हुआ है। सूत्र में इच्छति ग्रहण इसलिये किया है कि देखने की इच्छा न हो और कदाचित् दिखाई भी पड़े तो वहाँ भी अपादानार्थ वह है।

प्रश्न 51. 'नटस्य गाथां शृणोति' में 'आख्यातोपयोगे' सूत्र से पञ्चमी क्यों नहीं होती? सप्रमाण विवेचन कीजिये।

61. आख्यातोपयोगे ।।1।4।29।।

नियमपूर्वक विद्या स्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात्। उपाध्यायाद् अधीते। उपयोगे किम्? नटस्य गाथां शृणोति।

सूत्र-व्याख्या—नियमपूर्वक विद्या के स्वीकारने (उपभोग) में प्रवक्ता की अपादान संज्ञा होती है। पढ़ाने वाले को प्रवक्ता कहते हैं। यथा-उपाध्यायण्त् अधीते = वह उपाध्याय से पढ़ता है। नट सम्बन्धिनी गाथा श्रवण में गुरुशिष्य परम्परा गम्यमान नहीं है। अतः नट की अपादान संज्ञा नहीं हुई। उपाध्याय से निःसरण शब्द को शिष्य ग्रहण करता है, यहाँ उपाध्याय विभागाश्रय है, अतः इसमें पूर्व से ही अपादानत्व सिद्ध है।

प्रश्न 52 'जनिकर्तुः प्रकृति' सूत्र के प्रत्येक पद की विवेचनपूर्वक व्याख्या कीजिये।

62. जनिकर्तुः प्रकृतिः ।।1/4/30।।

जायमानस्य हेतुरपादान संज्ञः स्यात्। ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते।

सूत्र-व्याख्या—जन् धातु वाच्यक्रिया के कर्ता का जो हेतु है उसकी अपादान संज्ञा होती है। ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते = ब्रह्मा से प्रजा उत्पन्न होती है। यहाँ उत्पत्यर्थक जन धातु की कर्तृभूत प्रजायें हैं, उनका उत्पादक ब्रह्मा है, अतः पंचमी से 'ब्रह्मणः' हुआ।

प्रश्न 53. 'भुवः प्रभवः' सूत्रार्थ सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

63. भुवः प्रभवः ॥1/4/31॥

भवनं भूः। भूकर्तुः प्रभवस्तथा। हिमवतो गङ्गा प्रभवति। तत्र प्रकाशते इत्यर्थः। 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च।' प्रसादात्प्रेक्षते, आसनात्प्रेक्षते। प्रासादमारुह्य आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः। श्वसुराज्जिह्रेति, श्वसुरं वीक्ष्येत्यर्थः 'गम्यमानाऽपि क्रिया कारक विभक्तीनां निमित्तम्।' कस्मात्वं नद्याः। 'यतश्वाध्वकाल निर्माणं तत्र पञ्चमी।' तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ। 'कालात्सप्तमी वक्तव्या।' वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा। कार्तिक्या आग्रहायणी मासे।

सूत्र-व्याख्या—जहाँ से कोई वस्तु उत्पन्न होता है उसको प्रभव कहते हैं, जो प्रभाव 'भू' धातु वाच्य क्रिया कर्त्ता का कारण हो उस उत्पादक की अपादान संज्ञा होती है। यथा—हिमवतः गङ्गा प्रभवति = हिमालय पर्वत से गङ्गा प्रकाशित होती है। यहाँ उत्पादक कारण होने से अपादान संज्ञा से 'हिमवतः' हुआ है। जहाँ ल्यबन्तार्थ की प्रतीति रहे किन्तु ल्यबन्तार्थ प्रतिपादक क्रिया वाचक शब्द उपयुक्त रहे वहाँ कर्म एवं अधिकरण कारक की अपादान संज्ञा होती है। महल पर चढ़कर देखता है, आसन पर बैठकर देखता है, यहाँ प्रसादमारुह्य एवं आसने उपविश्य न कहकर आरुह्य, उपविश्य उपयुक्त है। उसका कर्म प्रासाद एवं अधिकरण आसन दोनों से अपादान प्रयुक्त पञ्चमी आसनात् एवं प्रासादात्।

यहाँ ल्यबन्तार्थ क्रिया जन्यफला श्रयत्वरूप कर्मत्व प्रासाद में है, एवं कर्ता के द्वारा प्रेक्षण क्रिया का अधिकरण आसन है यहाँ सम्बन्ध स्व (आसन) वृत्ति (चैत्र) वृत्ति प्रेक्षण स्ववृत्तिवृत्तित्व स्वरूप-आसन, प्रेक्षण का सम्बन्ध है। अधिकरण कारक कर्तृ द्वारा ही क्रिया का आश्रय है, साक्षात् नहीं। पत्नी या पति उसका जनक श्वसुर कहलाता है। पुरुष के लिए स्त्री का पिता उसका श्वसुर है, पत्नी के लिए पति का पिता उसका श्वसुर है। यहाँ भीवीक्ष्य ल्यबन्त का अप्रयोग है उसका अध्याहारादिना लाभकर उसके अर्थ के कर्म श्वसुर की अपादान संज्ञा से 'श्वसुरात् जिह्रेति = श्वसुर को देखकर लज्जित होता है।

अध्याहारादि से लब्ध क्रिया भी कारक विभक्ति की उत्पत्ति में कारण हैं। यथा—तुम कहाँ से आये ? प्रश्न के उत्तर में 'नद्याः', यहाँ गम्यमान क्रिया आगत है जिसका प्रयोग नहीं है। नदी से पञ्चमी। जहाँ से मार्ग एवं काल के निर्माण में पञ्चमी की है उससे युक्त मार्ग वाची शब्द से प्रथमा और सप्तमी होती है। तथा

उससे युक्त काल वाचक शब्द से केवल सप्तमी होती है। वनात् ग्रामो योजनं योजने वा। यहाँ अध्वपरिमाण वन से हुआ है, इस कारण वन से पञ्चमी, तथा मार्ग वाचक योजन से प्रथमा एवं सप्तमी, 'कातिक्याः आग्रहायणी मासे' यहाँ काल का परिमाण है, इस कारण कार्तिकी से पञ्चमी और कालवाचक मास से सप्तमी।

प्रश्न 54. 'अन्याराद्दितरर्तेदिक्' सूत्र प्रभृत्यर्थक के योग में पंचमी कैसे करता है?

64. अन्यारादितरर्तेदिक् शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहि युक्ते ॥2/3/29॥

एतैर्योगे पञ्चमी स्यात्। अन्य इत्यर्थग्रहणम्। इतर ग्रहणं प्रयञ्चार्थम्। अन्थोभिन्न इतरोवा कृष्णात्। आराद्वनात्। ऋते कृष्णात्। पूर्वो ग्रामात्। दिशि दृष्टः शब्दो दिक् शब्दः। तेन सम्प्रति देश काल वृत्तिना योगेऽपि भवति। चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः।

अवयववाचियोगे तु न, तस्य परमाम्रोडितमिति निर्देशात्। पूर्वं कायस्य। अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक् शब्दत्वेऽपि षष्ठ्यतसर्थेति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम्। प्राक्प्रत्याग् वा ग्रामात्। आच्-दक्षिणा ग्रामात्। आहि-दक्षिणाहि ग्रामात्। अपादाने पञ्चमीति सूत्रे कार्तिक्याः प्रभृतीति भाष्य-प्रयोगात्प्रभृत्यर्थयोगेऽपि पञ्चमी। भवात्प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः। अपपरिबहिरिति समासविधानाऽज्ञापनात् बहिर्योगे पंचमी-ग्रामाद् बहिः।'

सूत्र-व्याख्या—अन्यार्थ, आरात्, इतर, ऋते, दिशावाचक शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्प्रत्ययान्त, आहिप्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति प्रातिपदिक से होती है। अन्य में शब्दवृत्ति वर्णमाला ही केवल नहीं लेनी किन्तु अन्यार्थ से उसके पर्याय-वाचक शब्दों का भी ग्रहण होता है। यथा—अन्य, भिन्न, इतर आदि।

सूत्र में इतर ग्रहण व्यर्थ है केवल स्पष्ट अर्थ ज्ञापनार्थ है। वस्तुतः 'इतर स्त्वन्यनीचयोः' कोश से नीचार्थक इतर के योग में पञ्चमी विधानार्थ इतर ग्रहण आवश्यक है, व्यर्थ नहीं है। इतर शब्द योग रूढ़ है, इः = कामः, तेन तरित इति इतरः, कामप्रधानत्वात् ईश्वर भक्ति बहिर्मुखात्यात् नीच इत्यर्थः। 'घटः पटो न' यहाँ नञ् भी भेदार्थक है, अतः पञ्चमी निवाराणार्थ वाचक शब्द योग में पञ्चमी होती है। यहाँ नञ् द्योतक है, वाचक नहीं है। दिक् शब्द से कभी दिशा में देखा गया शब्द का ग्रहण है। प्रस्प्रति देश या काल बोधक दिक् शब्द रहे तभी उसके योग में पञ्चमी होती है। यथा—चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः। यहाँ पूर्व शब्द काल वाचक है। 'तस्मात्परम्' न कहकर सूत्र में अञ्चूत्तरपद ग्रहण इसलिए किया है कि षष्ठ्यतसर्थ से प्राप्त षष्ठी बाधनार्थ है, यथा—'ग्रामात् प्राक्' यहाँ षष्ठी नहीं हुई।

आच्प्रत्ययान्त दक्षिणा के योग में ग्राम से पञ्चमी। यद्यपि प्रभृति शब्द योग में पञ्चमी अप्राप्त थी किन्तु 'कातिक्याः प्रभृति' इस भाष्य प्रयोग से प्रभृति एवं

प्रभृत्यर्थक = पर्याय वाचक शब्दों के भी योग में पञ्चमी होती है, यथा 'भवात् प्रभृति' । पञ्चम्यन्त का बहिः सुबन्त के साथ समास विधान के सामर्थ्य से बहिः के योग में पञ्चमी भी होती है, न्यायतः प्राप्त षष्ठी तो सिद्ध ही है । अतः यहाँ अपि ॥ भी गर्भित व्याख्यान करना उचित है । इससे 'करस्थ करभो बहिः में षष्ठी हुई ।

प्रश्न 55. वर्जनार्थ भिन्न वाले अपपरि के योग में कौन सी विभक्ति होती है ?

65. अपपरी वर्जने ॥1/4/88॥

एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः ।

सूत्र-व्याख्या—वर्जन अर्थ में अप एवं परि की कर्म-प्रवचनीय संज्ञा हो जाती है ।

प्रश्न 56. 'मर्यादार्थ आङ्' की क्या पहिचान है ? आङ् का अन्यार्थ कौन सा है ।

66. आङ् मर्य्यादा वचने ॥1/4/89॥

आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात् ॥

सूत्र-व्याख्या—मर्यादा अर्थ में आङ् की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । सूत्र में मर्यादायाम् कहना था पुनः वचन-ग्रहण करने से अभिविधि अर्थ में आङ् की भी कर्म-प्रवचनीय संज्ञा होती है ।

67. पञ्चम्यापङ् परिभिः ॥2/3/90॥

एतैः कर्मप्रवनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अप हरेः, परिहरेः संसारः । परिरत्र वर्जने । लक्षणादौ तु हरिं परि । आ मुक्तेः संसारः । आ सकलाद् ब्रह्म ।

सूत्र-व्याख्या—कर्मप्रवचनीय संज्ञक अप्, आङ् एवं परि के योग में पञ्चमी होती है । 'अप' शब्द आदि दोनों उदाहरणों में वर्जनार्थक है । जहाँ लक्षणार्थक परि रहेगा वहाँ 'लक्षणेत्थं भूताख्यान' से कर्मप्रवचनीय एवं द्वितीया ही होगी । 'आ मुक्तेः संसारः' में आङ् मर्यादार्थक है । मुक्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण तक संसार में स्थिति यहाँ मुक्तिक्षण छूट गया है अतः 'तेन विना मर्यादा' यहाँ आङ् मर्यादार्थक है । आ सकलाद् ब्रह्म, यहाँ ब्रह्म सत्ता की व्याप्ति सर्वत्र है । कोई ऐसा स्थल विशेष नहीं जहाँ ब्रह्म सत्ता की स्थिति न रहे–यहाँ आङ् अभिविधि में है–'तेन सह अभिविधिः' । यहाँ सकलात् में पञ्चमी, अभिविधि में आङ् योग में है ।

प्रश्न 57. प्रतिनिधि एवं प्रतिदानार्थक प्रति का सप्रमाण विवेचन कीजिए ।

68. प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥1/4/92॥

एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात् ।

सूत्र-व्याख्या—किसी के स्थान में वैसे ही गुणयुक्त की स्थापना करने को प्रतिनिधि कहते हैं । एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु को देने को प्रतिदान कहते हैं । इन अर्थों में उनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

69. प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ।।2/3/11।।

अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात् । प्रद्युम्नः कृष्णात प्रति । तिलेभ्यः प्रतियच्छत्ति भाषान् ।

सूत्र-व्याख्या—जिस से प्रतिनिधि और प्रतिदान हो उससे कर्मप्रवचनीय योग में पञ्चमी होती है । प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति = कृष्ण के प्रद्युम्न प्रतिनिधि हैं । यहाँ प्रतिनिधि अर्थ होने पर कर्मप्रवचनीय प्रति के योग में कृष्ण से पञ्चमी हुई है । प्रतिदान अर्थ में यथा—तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् = तिलों से उड़दों को देता है, यहाँ प्रतिदान अर्थ में प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में तिल से पञ्चमी 'तिलेभ्यः' हुई ।

प्रश्न 58. 'शतिन बन्धित' यहाँ पन्चमी क्यों नहीं होती ?

70. अकर्तर्यृणे पञ्चमी ।।2/3/24।।

कर्तृवर्जितं यद् ऋणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात् । शताद् बद्धः । अकर्तरीति किम् ? शतेन बन्धितः ।

सूत्र-व्याख्या—कर्तृ संज्ञक से भिन्न जो हेतु भूत ऋण है । उससे पञ्चमी होती है ।

शताद्बद्धः = सौ रुपये के कारण वह बन्धन युक्त हुआ है, यहाँ शत जो ऋण है वह कर्ता नहीं प्रत्युत बन्धन में हेतु है । अतः शत से पञ्चमी 'शतात्' हुई । कर्तृ संज्ञक शत से तृतीया 'शतेन बन्धितः' हुई ।

प्रश्न 59. 'विभाषागुणेऽस्त्रियाम्' सूत्र का बुद्धया मुक्त में समन्वय कीजिये ।

71. विभाषागुणेऽस्त्रियाम् ।।2/3/25।।

गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात् । जाड्याज्जाड्येन वा बद्धः । गुणेति किम् ? धनेन कुलम् । अस्त्रियां किम् ? बुद्ध्या मुक्तः । विभाषेति योग विभागादगुणे स्त्रियाञ्च क्वचित् । धूमादग्निमान् । नास्ति घटोऽनुपलब्धेः ।

सूत्र-व्याख्या—गुण-वाचक हेतु भूत पुल्लिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान शब्द से विकल्प से पञ्चमी होती है । तथा पक्ष में तृतीया । जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः = जड़ता से बँधा हुआ । यहाँ गुणवाचक जाड्य शब्द नपुंसक है एवं बन्धन में हेतु भूत भी है, अतः पञ्चमी से जाड्यात्, तथा तृतीया से जाड्येन बना ।

धनेन कुलम्—यहाँ 'धन' शब्द गुणवाचक नहीं है अपितु द्रव्य वाचक है, अतः यहाँ हेतु में तृतीया हुई है ।

मुक्ति में बुद्धि हेतु भूत है किन्तु वह स्त्रीलिङ्ग है, अतः इसकी अप्रवृत्ति से हेतु में तृतीया से 'बुद्ध्या मुक्तः' हुआ । यहाँ विभाषायोग विभागकर हेतु अर्थ में तृतीया एवं पञ्चमी होती है । अतः यह अर्थकर गुणवाचक से भिन्न एवं द्रव्यवाचक से भी तृतीया एवं पञ्चमी होती है । 'धूम हेतुक वह्नियुक्त पर्वतादि' यहाँ धूम द्रव्य है पञ्चमी तो भी हुई । यहाँ घड़ा नहीं है, उसकी यहाँ उपलब्धि नहीं है, यदि यहाँ होता तो वह अवश्य मिलता, नहीं मिलता है, अतः नहीं है । इस अर्थ में—'अत्र

घटो नास्ति अनुपलब्धेः।' यहाँ 'अनुपलब्धिः' शब्द स्त्रीलिङ्ग है तो भी इससे पञ्चमी हुई।

प्रश्न 60. 'नाना नारीं निष्फला लोक यात्रां' यहाँ 'नारी' शब्द से किस सूत्र से किस पद के योग में द्वितीया विभक्ति हुयी ?

72. पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ॥2/3/32॥

एभिर्योगे तृतीया स्यात्। पञ्चमीद्वितीये च। अन्यतरस्यां ग्रहणं समुच्चयार्थम्, पञ्चमीद्वितीये चानुवर्तेते। पृथग्, रामेण, रामात्, रामं वा। एवं विना, नाना।

सूत्र-व्याख्या—पृथक्, विना, नाना शब्दों के अर्थ योग में द्वितीया, तृतीया और पञ्चमी होती है। यहाँ अन्यतरस्याम् पद समुच्चार्थक है, पञ्चमी एवं द्वितीया की यहाँ—अनुवृत्ति है। यथा—रामेण, रामात् रामं वाविना नाना।

प्रश्न 61. 'करणे च स्तोकाल्प' सूत्र में असत्व वचन शब्द का अभिप्राय क्या है ?

73. करणे च स्तोकाल्प कृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य ॥2/3/33॥

एभ्योऽद्रव्यवाचकेभ्यः करणे तृतीया पञ्चम्यौ स्तः। स्तोकेन स्तोकन्द् वा मुक्तः। द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः।

सूत्र-व्याख्या=अद्रव्यवाची स्तोक, अल्प, कृच्छ्र एवं कतिपय इन शब्दों से करण में तृतीया एवं पंचमी होती है। यथा—'स्तोकेन' यह स्तोक अद्रव्यार्थक है। जहाँ 'स्तोक' शब्द विष पदार्थ के साथ अभेदान्वयी है वहाँ स्तोकत्व विशिष्ट विष रूप द्रव्य का बोधक है, वहाँ इसकी अप्रवृत्ति से करण में केवल तृतीया से 'स्तोकेन विषेण हतः'=विनाशं गतः।" बना।

प्रश्न 62. पूर्व सूत्र से असत्व वचन शब्द की अनुवृत्ति का फल स्पष्ट करते हुए दूणार्थक एवं अन्तिकार्थ का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

74. दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च ॥2/3/35॥

एभ्यो द्वितीया स्यात्। चात्पञ्चमी तृतीये। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिश्यम्। ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा। अन्तिकम्, अन्तिकात्, अन्तिकेन वा। असत्व वचनस्येत्यनु वर्तनान्नेह-दूरः पन्थाः।

सूत्र-व्याख्या—'दूर' एवं 'अन्तिकार्थ' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। चकार से पञ्चमी एवं तृतीया भी होती है—दूरं, दूरात्, दूरेण आदि।

इन विभक्तियों का कोई प्रकृत्यर्थ से अतिरिक्त अर्थ नहीं है। अतः प्रातिपदिकार्थ मात्र में ये हुई हैं। जहाँ 'दूर' शब्द द्रव्यार्थक है, यथा—दूरः पन्थाः—यहाँ इसकी प्रवृत्ति इसलिए नहीं है कि इस सूत्र में पूर्वसूत्र से असत्त्व वचन की अनुवृत्ति है।

अपादान तीन प्रकार का है—1. निर्दिष्ट विषय, 2. उपात्त विषय, एवं 3. अपेक्षित क्रियक।

जहाँ साक्षात् धातु से गति का निर्देश रहे उसको निर्दिष्ट विषय कहते हैं। यथा—अश्वात् पतति। तथा जहाँ धात्वन्तर गर्भित विषय रहे उसको उपात्त विषय कहते हैं। यथा—बलाहकात् विद्योतते।' यहाँ निःसरणाङ्ग विद्योतन अर्थ है और जहाँ साकाङ्क्ष रहे, यथा—कुतो भवान्? पाटलिपुत्रात् यहाँ आगम का अध्याहार करके अर्थ करना अपेक्षित है।

प्रश्न 63. षष्ठी शेषे सूत्र में सम्बन्धार्थ प्रतीति किस पद से होती है?

प्रश्न 64. एककातं बलर्थाः, इति वचन की सार्थकता प्रतिपादन कीजिए?

75. षष्ठी शेषे ।।2/3/50।।

कारक प्रातिपदिकार्थ व्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादि सम्बन्धः, शेषस्तत्र षष्ठी स्यात्। राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्र विवक्षायां षष्ठ्येव। सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधोदकस्योपस्कुरुते। भजेः शम्भोचरणयोः। फलानां तृप्तः।

सूत्र-व्याख्या—कारक एवं प्रातिपदिकार्थ से भिन्न अर्थ जो स्वस्वाभि भावादि सम्बन्ध है—वह शेष है, उस शेष अर्थ में प्रातिपदिक से षष्ठी होती है। राज्ञः यहाँ स्वरूप सम्बन्ध में षष्ठी हुई है। राज पदार्थ एवं पुरुष पदार्थ का स्वामि-से-वकत्व सम्बन्ध है या स्वस्वामि भाव सम्बन्ध है। यहाँ इस सम्बन्ध का प्रतियोगी राज पदार्थ है। अनुयोगी पुरुष पदार्थ है, सम्बन्ध के प्रतियोगी वाचक शब्द से षष्ठी होती है, अनुयोगी से नहीं। अतः 'राजा का पुरुष' इस अर्थ में राज्ञः पुरुषः या राजपुरुषः होता है, इसी अर्थ में पुरुषस्य राजा नहीं होता है। इससे भिन्न अर्थ में हो सकता है।

प्रकृति का अर्थ एवं प्रत्यय का अर्थ वे दोनों जहाँ एक साथ अर्थ बाधन करें वहाँ प्रत्ययार्थ की प्रधानता-विशेष्यता रहती है—'प्रकृति प्रत्ययार्थौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्' अतः 'राजन्' शब्द से ही षष्ठी होती है। यदि 'पुरुष' शब्द से षष्ठी लायेंगे तो प्रकृत्यर्थापेक्षया प्रत्ययार्थ सम्बन्धार्थ विशेषण होकर पूर्वोक्त नियम भङ्ग होगा। राजपदार्थ का प्रत्ययार्थ स्वत्व में निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय है। प्रत्ययार्थ स्वत्व का आश्रयता सम्बन्ध से पुरुषार्थ में अन्वय है। "राजनिरूपित जो स्वत्व, तदाश्रयः पुरुषः" यह अर्थ है। अथवा स्वस्वाभिभाव सम्बन्ध से राजप्रकारक पुरुष विशेष्यक बोध है।

राजपदार्थ का निरूपि तत्व सम्बन्ध से स्वत्व में स्वत्व का आश्रयदाता सम्बन्ध से पुरुष में अन्वय है। समवाय सम्बन्ध से राजत्व एवं पुंस्त्व का पुरुषार्थ में अन्वय है। संसर्गतावादि के मत में स्वस्वामि भाव सम्बन्धेन राजविशिष्ट पुरुषः यह बोध होता है।

कर्मादि कारक की भी सम्बन्ध विवक्षा में षष्ठी होती है, यथा—सतां गतम्= सज्जन सम्बन्धि पुरुष सम्बन्धि गमनम! यहाँ कर्म की सम्बन्ध विवक्षा है। सर्पिषो जानीते=सर्पिः सम्बन्धिज्ञान। मातरं स्मरति अर्थ में मातुः स्मरति। एधस् शब्द

सान्त है, दक शब्द उदकार्थक है। एधस् दक का समाहार द्वन्द्व है। एधोदक से सम्बन्ध विवक्षा में षष्ठी है। उपस्कुरुते=यहाँ गुणाधान में आत्मने पद है।

शङ्कर सम्बन्धि चरण सम्बन्धि भजन यहाँ कर्मत्व की अविवक्षा से षष्ठी। फलसम्बन्धिनी तृप्तिः यहाँ करणत्व की अविवक्षा से फलानां तृप्तः।

षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध यद्यपि अनेक हैं। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है "एक शतं षष्ट्यर्थाः षष्ट्याम् उच्चरितायां ते सर्वे प्राप्नुवन्ति" किन्तु प्रधान सम्बन्ध चार हैं—

स्वस्वामिजन्यजनकावयवाङ्गी तृतीयकः।

स्थान्या देशश्र्व विज्ञेयः सम्बन्धोऽसौ चतुर्विधः॥

1. स्वस्वामिभाव 2. जन्यजनकभाव 3. अवयवावयविभाव 4. स्थान्यादेशभाव। यथा—

साधोर्धनं पितुः पुत्रः पशोः पादो ब्रुबो वचिः।

उदाहृतश्र्वतुर्धा यः कविभिः परिशीलितः॥

1. साधोः धनम्=सज्जन का धन, यहाँ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। 2. पितुः पुत्रः=पिता का पुत्र, यहाँ जन्य जनक भाव सम्बन्ध है। 3. पशोः पादः=पशु का चरण, अवयव अवयविभाव सम्बन्ध है। 4. ब्रुवः वचि=ब्रू को वच् आदेश होता है, यहाँ स्थान्यादेश भाव सम्बन्ध है।

प्रश्न 65. 'अन्नस्य हेतोर्वसति' यहां किस सूत्र से कौनसी विभक्ति होती है ?

76. षष्ठी हेतुप्रयोगे ॥2/3/26॥

'हेतु' शब्द प्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात्। अन्नस्य हेतोर्वसति।

सूत्र-व्याख्या—हेतु वाचक शब्द के प्रयोग में हेतु द्योत्य होने पर षष्ठी विभक्ति होती है। अन्नस्य हेतोः वसति=अन्न के निमित्त निवास करता है। षष्ठी **'अन्नस्य'** हुई।

77. सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥2/3/27॥

सर्वनाम्नो हेतु शब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च। केन हेतुना वसति। कस्य हेतोः। 'निमितपर्याय प्रयोगे सर्वासां प्रायः दर्शनम्।' किं निमितं वसति केन निमित्तेन, कस्मै निमित्तायेत्यादि। एवं किं कारणं को हेतुः किं प्रयोजनमित्यादि। प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाः द्वितीये न स्तः। ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः। ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि।

सूत्र-व्याख्या—'हेतु' शब्द के प्रयोग में हेतु व्योत्य होने पर सर्वनाम शब्द से तृतीया एवं षष्ठी होती है। जैसे केन हेतुना वसति, कस्य हेतोः। 'निमित्त के पर्याय जो शब्द कारण हेतु है, उनके प्रयोग में हेतु अर्थ द्योत्य होने पर प्रायः सब विभक्तियाँ होती हैं।' वार्तिक में प्रायः शब्द से असर्वनाम से प्रथमा एवं द्वितीया होती है। यथा-ज्ञान प्राप्ति के हेतुक हरि का भजन करना चाहिये, या ज्ञान प्राप्ति का आश्रय साधनरूप हरि है।

प्रश्न 66. 'अतसर्थ प्रत्यय' कौनसे होते हैं। सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत करें।

78. षष्ठ्यहसर्थ प्रत्ययेन ।।2/3/30।।

एतद् योगे षष्ठी स्यात् । दिक्शब्देति पञ्चम्यापवादः । ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात् । उपरि, उपरिष्टात् ।

सूत्र-व्याख्या—अतसुच् प्रत्यय के अर्थ में जो प्रत्यय होते हैं तदन्त के योग में षष्ठी होती । यह सूत्र 'दिक् शब्देभ्यः' सूत्र से प्राप्त पञ्चमी का बाधक है । यथा 'ग्रामस्य दक्षिणतः' यहाँ 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ।।5।3।28।। से सप्तम्यन्त 'दक्षिणा' शब्द से अतसुन्त्र् प्रत्यय हुआ है । पुरः में असि प्रत्यय है । पुरस्तात् में अस्ताति प्रत्यय है, उपरि में रिल् प्रत्यय एवं उपरिष्ठात् में रिष्टातिल् प्रत्यय हुआ है । वे सब असतुन्च् के समानार्थक प्रत्यय हैं ।

प्रश्न 67. तत्रागारं धनपति गृहाद् उत्तरेणास्मदीयम् इस मेघदूत पद में द्वितीया किस सूत्र से होती है ?

79. एनयाद्वितीया ।।2/3/31।।

एनवन्तेन योगे द्वितीया स्यात् । एनपेति योगविभागात् षष्ठयपि । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा, एवभुत्तरेण ।

सूत्र-व्याख्या—एनप् प्रत्ययान्त के योग में द्वितीया होती है । इसमें 'एनपा' पृथक् सूत्र विभक्त कर षष्ठी की अनुवृत्ति से एनप् प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी विभक्ति होती है । इस अर्थ से 'ग्रामं ग्रामस्य उत्तरेण, प्रयोग की सिद्धि हुई है । उत्तरेण आदि में 'एनपान्य-तस्याम्' से एनप् है ।

जब एनप् प्रत्ययान्त के योग में शास्त्रकार ने द्वितीयान्त प्रयोग को ही साधुत्व बोधन किया है तो 'तत्रागारं धनपतिगृहाद् उत्तरेणास्मदीयम्' यहाँ एनप् प्रत्ययान्त उत्तरेण के योग में 'धनपतिगृहात्' में पञ्चमी विभक्ति किस प्रकार हुई ?

'दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चवारुणा तोरणेन' यहाँ तृतीयान्त तोरण का वह समानार्थक तृतीयान्त विशेषण है, एनप् प्रत्ययान्त हीं हैं, 'उत्तरेण तोखोन' यह अभिप्राय है ।

80. दूरान्तिकार्थैः षष्ठयन्यतरस्याम् ।।2/3/34।।

एतैर्योगे षष्ठी स्यात् पञ्चमी च । दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामाद् वा ।

सूत्र-व्याख्या—दूर एवं समीप अर्थ वाचक शब्दों के योग में पञ्चमी एवं षष्ठी विभक्ति होती है ।

प्रश्न 68. 'अविहर्थस्य' का अभिप्राय समझाते हुए 'सोविदर्थस्य' सूत्र की व्याख्या कीजिए ।

81. ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ।।2।3।51।।

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात् । सर्पिषो ज्ञानम् ।

सूत्र-व्याख्या—अज्ञानार्थक या धातु के प्रयोग में शेषत्व विवक्षा हो तब धातु की करण कारक से षष्ठी विभक्ति होती है । यथा—सर्पिषो ज्ञानम् =यहाँ करणभूत

घृत से अग्नि प्रज्वलित होती है । यहाँ 'ज्ञा' का ज्ञान अर्थ नहीं है । सर्पिष् रूप करण में शेषत्वविवक्षा से तृतीया न हुई अपितु इससे सर्पिष् सम्बन्धी अर्थ में षष्ठी हुई है तथा इसका घृत सम्बन्धि प्रज्वलन अर्थ हुआ है ।

प्रश्न 69. 'अधीगर्थदयेशां कर्माणि' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिये ।

82. अधीगर्थदयेशाँ कर्मणि ।।2/3/52।।

एषां कर्माणि शेषे षष्ठी स्यात् । मातुः स्मरणम् । सर्पिषो दयनम् ईशनं वा ।

सूत्र-व्याख्या—स्मरणार्थक धातु एवं दय, ईशं इनके कर्म से शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है । 'मार्तृकर्मकं स्मरणम्' अर्थ न कर कर्म मातृ पदार्थ में मातृ सम्बन्ध अर्थ में शेषत्व विवक्षा है अतः षष्ठी हुई है । अधिपूर्वक इक् धातु का अर्थ है स्मृति, इससे यहाँ स्मरणार्थ का लाभ हुआ है । यद्यपि यहाँ सूत्र में स्मृत्यर्थ लिख सकते थे किन्तु इङ् इक् सदैव अधिपूर्वक रहते हैं । इस ज्ञान की दृढ़ता सम्पादणार्थ आचार्य ने अधीगर्थ कहा है । दयनम्, ईशनम् इनके भी योग में सर्विष् से षष्ठी विभक्ति हुई है ।

प्रश्न 70. 'कृञ प्रतियत्ने' सूत्र में 'प्रतियत्ने' को सोदाहरण स्पष्ट कीजिये ।

83. कृञः प्रतियत्ने ।।2/3/53।।

कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी गुणाधाने । एधो दकस्योप स्कुरुते ।

सूत्र-व्याख्या—प्रतियत्न का अर्थ है दूसरे के गुण का ग्रहण करना । प्रतियत्न= गुणाधानम् । गुणाधान अर्थ में विद्यमान कुञ धातु का कर्म यदि शेषत्व से विवक्षित रहे तब षष्ठी होती है । यथा—एधो दकस्योहस्कुरुते = ईंधन (काष्ठ) जल का गुण, (क्लिन्नता), उसको ग्रहण करता है । यहाँ गुणाधान अर्थ में सुट् कर गन्धनावक्षेपण से कुञ् को गुणाधान अर्थ में आत्मनेपदी बनाया गया है । उदकार्थक यहाँ दक वास्तविक कर्म था किन्तु कर्मत्वेन अविवक्षा है एवं शेषत्व विवक्षा से षष्ठी होकर 'दकस्य' बना है ।

प्रश्न 71. रुजार्थ धातुओं का भाववचन विशेषण की सार्थकता बतलाते हुये रुजार्थानां सूत्र की व्याख्या कीजिए ।

84. रुजार्थानां भाववचनाम ज्वरेः ।।2/3/54।।

भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । चौरस्य रोगस्य रुजा । 'अज्वरिसन्ताप्योरीति वाच्यम् ।' रोगस्य चौरज्वरः । चौरसन्तायो वा । रोगेकर्तृकं चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः ।

सूत्र-व्याख्या—जिन धातुओं के कर्ता में धातु का अर्थ विशेषणता से रहता है, ऐसे रुजार्थक धातुओं में से ज्वर धातु को छोड़कर उनके शेष कर्म से षष्ठी होती है । यहाँ भाववचन शब्द से कर्तृस्थ भावक रुजार्थ धातुओं का ग्रहण है । चौरस्य रोगस्य रुजा, पीड़ा उसका कर्ता रोग है, 'रोग' शब्द घञन्त है, रोग से कर्ता में कर्तृकर्मणोःकृति

से षष्ठी है। चौरस्य यहाँ इस सूत्र से षष्ठी है। चौर कर्म की यहाँ शेषत्वविवक्षा है। 'चौर सम्बन्धिनी रोग कर्तृका पीड़ा' यह अर्थ है। सूत्र में 'अज्वरें:' के स्थान में 'अज्वरिरसंताप्योः' ऐसा पढ़ना चाहिये। जिससे ज्वर एवं सम्पूर्वक तप् में इस सूत्र की अप्रवृत्ति हो जाय। जिससे 'रोगस्य' यहाँ तो कर्तरिषष्ठी है किन्तु चौरस्य यहाँ इस से ज्वर के योग में षष्ठी नहीं है। किन्तु 'शेषे' सूत्र से षष्ठी कर समास हो गया तथा उससे चौर ज्वरः बना है। इससे षष्ठी जहाँ होती है वहाँ षष्ठी विधान सामर्थ्य से समासाभाव रहता है। इसी प्रकार संताप के योग में इससे षष्ठी नहीं किन्तु 'शेषे' सूत्र से षष्ठी कर समास से रोगस्य 'चौरसन्तापः' हुआ है। रोगकर्ता है जिसका ऐसा चौर सम्बन्धि ज्वर या सन्ताप—यह अर्थ है।

प्रश्न 72. 'याञ्चार्थक नाथ' धातु के योग में कौनसी विभक्ति का विधान है।

85. **आशिषिनाथः** ॥2/3/55॥

आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। सर्पिषो नाथनम्। आशिषि किम्? माणवक नाथनम्। = तत्सम्बन्धिनी याञ्चेत्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—आशीर्वादार्थ नाथ् धातु का कर्म शेषत्व से विवक्षित हो तो षष्ठी होती है। सर्पिषो नाथनम् = घृत सम्बन्धी आशीर्वाद। आशीर्वाद न रहे वहाँ इससे षष्ठी नहीं है किन्तु 'शेषे' से षष्ठी कर समास होकर माणवकनाथनम् = बालक सम्बन्धिनी याञ्चा, यह अर्थ हुआ। यहाँ याञ्चार्थक नाथ् धातु है।

प्रश्न 73. 'जासिनि' इत्यादि सूत्र की सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।

86. जासिनिप्रहणनाऽऽक्राथपिषां हिंसायाम् ॥2/3/56॥

हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। चौरस्यौज्जासनम्। निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा। चौरस्य निप्रहणनम्। प्रणिहननम्। निहननम्। प्रहणनं वा। नट अवस्कन्दने चुरादिः, चौरस्योन्नाटनम्। चौरस्य क्राथनम्। वृषलस्य प्रेषणम्। हिंसायां किम्? धानापेषणम्।

सूत्र-व्याख्या—हिंसार्थकजास्, निप्रपूर्वक हन् (निपूर्वक, प्रपूर्वक, प्रनिपूर्वक या निप्रपूर्वक हन् यथा श्रुत उलटाक्रम, केवल एक-एक पूर्वक हन्) नाट्, क्राथ, एवं पिब धातु इनका कर्म यदि शेषत्व से विवक्षित रहे तब षष्ठी होती है, हिंसा अर्थ में। क्रमिक उदाहरण निम्न हैं—

चौर को मारना = चौरस्योज्जासनम्, यहाँ चौर में कर्मत्व अविवक्षित है, सम्बन्धत्व रूप शेषत्व विवक्षित है—चौर सम्बन्धिनी हिंसा। निप्रसंघात, या उलटे, या पृथक्-पृथक्, इन सब जगह इससे षष्ठी होती है। वृषलस्य = शूद्रस्य पेषणम् = हिंसा। हिंसा अर्थ जहाँ न हो वहाँ षष्ठी इससे नहीं, किन्तु सामान्य 'शेषे' से षष्ठी एवं समास = धानापेषणम्।

प्रश्न 74. 'व्यवहृपणयोसमर्थयोः' सूत्र में 'समर्थ' शब्द का सार्थक विवेचन कीजिए।

87. व्यवहृपणोः समर्थयोः ॥2/3/57॥

शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । द्यूते, क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता। शतस्य व्यवहरणं पणनं वा। समर्थयोः किम् ? शलाका-व्यवहारः = गणनेत्यर्थः। ब्राह्मणपणनम् = स्तुतिरित्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—तुल्यार्थक वि, अव उपसर्गपूर्वक हृ एवं पण इनका कर्म यदि शेषत्व से विवक्षित हो तो षष्ठी होती है। सम = अर्थ यहाँ शकन्ध्वादि होने से दीर्घ को बाधकर पररूप है। द्यूत = जूवाँ एवं लेन-देन = क्रय-विक्रय इन अर्थों में इनकी तुल्यार्थता रहती है। जहाँ गणना = गिनती अर्थ व्यवहार का होता है वहाँ इससे षष्ठी नहीं होती है—वहाँ शेषे षष्ठी एवं समास होता है। यथा—'सौ रुपये का व्यवहार करना या पण लगना' यहाँ षष्ठी होती है। 'ब्राह्मणपणनम् = ब्राह्मण की स्तुति' यहाँ इसकी अप्रवृत्ति है। शालाका की गणना यहाँ शलाका व्यवहार ही होता है।

प्रश्न 75. 'दिवस्तदर्थस्योति' सूत्र में तत् शब्द से क्या विवक्षित है ?

88. दिवस्तदर्थस्य ॥1/3/58॥

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रय रूप व्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात्। शतस्य दीव्यति। तदर्थस्य किम् ? ब्राह्मणं दीव्यति = स्तौतीत्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—द्यूत एवं क्रयविक्रय व्यवहारार्थक दिव् धातु का शेषत्व से विवक्षित कर्म रहे, वहाँ षष्ठी होती है। स्तुति अर्थ वाला जहाँ दिव् रहे वहाँ 'ब्राह्मणं दीव्यति' यही होती है।

89. विभाषोपसर्गे ॥2/3/59॥

पूर्वयोगापवादः। शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति।

सूत्र-व्याख्या—उपसर्ग पूर्वक दिव्धातु का कर्म शेषत्व से विवक्षित रहे एवं द्यूत का क्रयविक्रय अर्थ प्रतीयमान रहे, वहाँ विकल्प से षष्ठी होती है और पक्ष में द्वितीया। यह नित्य प्राप्त पूर्व सूत्र का बाधक है।

90. प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवता सम्प्रदाने ॥2/3/61॥

देवता सम्प्रादनेऽर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणो=हविर्विशेषस्य वाचकाच्छद्वात् षष्ठी स्यात्। अग्नये छागास्य हविषो वपायाः मेदस्यः प्रेष्य अनुब्रुहि वा।

सूत्र-व्याख्या—देवताओं को उद्देश्य कर दान अर्थ में प्रेष्य एवं ब्रू धातु का जो हविषान्न रूप कर्म, उसके वाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

यहाँ त्यज्यमान आहवनीय द्रव्य का उद्देश्य अग्नि है, वह देवता है, उसको उद्देश्यकर वैध अग्नि कुणु में हविषान्न आदि का प्रक्षेप है अतः कर्मवाचक सभी से षष्ठी हुई है। यथा—हविषः वपायाः, मेदसः। प्रपूर्वक दिवादि इष् का लोट् मध्यम में प्रेष्य रूप है। प्रेष्य एवं ब्रू के योग में ही इसकी प्रवृत्ति होती है, अन्यत्र नहीं। वहाँ

'अग्नये छागस्य हविर्वपां मेदो जुहुधि' यही प्रयोग होता है। जहाँ प्रक्षेपणीय द्रव्य 'हविः' चाहिए वहाँ षष्ठी होती है अन्यत्र नहीं। यथा—'गोभयानि' कर्म रहे वहाँ इससे षष्ठी न हुई। जहाँ कमलेशाय पुशेअशान प्रेष्य अनुब्रूहि है वहाँ देवतासम्प्रदान नहीं है अतः द्वितीया हुई है।

91. कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे ।।2/3/64।।

कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात्। पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम्। द्विरह्नो भोजनम्। शेषे किम्? द्विरहन्यध्ययनम्।

सूत्र-व्याख्या—क्रिया की आवृत्ति के अर्थ में संख्या वाचक शब्द से विधीयमान कृत्वसुच् एवं उसका बाधक सुच् प्रत्यय वे दोनों अन्त में रहे तो ऐसे प्रातिपदिक के प्रयोग में काल वाचक या अधिकरण वाचक शेषत्व से विवक्षित रहे वहाँ षष्ठी होती है। यथा—'पञ्चकृत्वः अह्नः भोजनम्'—यहाँ काल अहन् से 'अहनि' अधिकरण में प्राप्त सप्तमी थी, किन्तु शेषत्व विवक्षा से षष्ठी में 'अह्नः' हुआ। 'दिवस-सम्बन्धि पाँच बार भोजन' यह अर्थ है, यहाँ भोजन क्रिया गत पञ्चत्व प्रत्यायक पञ्चन से कृत्वसुच् प्रत्यय है—'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' कृत्वोऽर्थ का क्रिया में ही अन्वय होता है। यथा—'द्विः अह्नः भोजनम्' यहाँ कृत्वसुच् का बाधक सुच् प्रत्यय है, द्विःसुजन्त है—'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' से सुच् प्रत्यय कृत्वसुच् का बाधक है, अहन् से षष्ठी 'अह्नः'—दिन सम्बन्धि दो बार भोजन। जहाँ काल वाचक अधिकरण कारक वाचक ही है, शेषत्व विवक्षा नहीं है वहाँ सप्तमी, यथा—द्विः अहनि अध्ययनम् = दिवस में दो बार पढ़ाई।

प्रश्न 76. 'कर्तृ कर्मणोः कृति' सूत्र में कृति प्रयोजन क्या है? इस विवेचन के साथ सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिये।

92. कर्तृ कर्मणोः कृति ।।2/3/65।।

कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात्। कृष्णस्य कृतिः। जगतः कर्ता कृष्णः। 'गुण कर्मणि वेष्यते।' नेताऽश्वस्य स्त्रुघ्नस्य स्त्रुघ्नं वा। कृति किम्? तद्धिते मा भूत्। कृतपूर्वी कटम्।

सूत्र-व्याख्या—सूत्र में कृति सत्सप्तमी है, औपश्लेषाधिकरण सप्तमी नहीं है। अतः उसमें परिभाषा के विधेयांश अव्यवहितत्व, पूर्वत्व, षष्ठ्यंश की यहाँ अनुपस्थिति है। सत्सप्तमी में प्रमाणोपन्यास अग्रिम सूत्र में होगा। कृत् यहाँ प्रत्ययबोधक पद है, अतः 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा से तदादि विशेष्यांश की उपस्थिति है। कृत् की विशेषण संज्ञा है, तदन्त विधि से कृदन्त तदादि के योग में, इस अर्थ का लाभ हुआ। कर्तृपद कर्तृसंज्ञा का वाचक है, कर्मपद भी कर्म संज्ञार्थक है।

कृदन्त तदादि के योग में कर्तृवाचक एवं कर्म वाचक शब्दों से षष्ठी विभक्ति होती है। यथा—कृष्णस्य कृतिः=इस संसार की रचना के कर्ता कृष्ण हैं। यहाँ [illegible] से क्तिन् भावार्थक है—'करणं कृतिः' रचना=कर्ता कृष्ण है। कर्म का

उदाहरण यथा--जगतः कृष्णस्य कृतिः = जगत् = संसार यहाँ कर्म है। षष्ठी से जगतः हुआ। यहाँ कर्तृ पदार्थ एवं कर्मपदार्थ धात्वर्थ में भेदान्वयी हैं।

अतः स्तोकाभिन्न विक्लित्ति अर्थ जहाँ प्रतीयमान रहे वहीं षष्ठी नहीं होती है। यथा--'स्तोकं पाकः'। यह सूत्र गुण-कर्म वाचक से विकल्प षष्ठी करेगा। ऐसा कात्यायनोक्त मत है। यथा--'स्रुघ्नम्' स्रुघ्नस्य = अश्व को स्रुघ्न देश को ले जाने वाला, यहाँ अश्व मुख्य कर्म है, उससे नित्य षष्ठी है। यह नी धातु द्विकर्मक है। अतः अकथितञ्च से स्रुघ्न की कर्मसंज्ञा हुई है, यहाँ अधिकरण की अविवक्षा है।

कृति किम् ? इस शंका का अभिप्राय यह है कि यहाँ कर्तृ एवं कर्म से क्रिया का आक्षेप अर्थापत्ति रूप प्रमाण से होगा। क्रिया वाचक धातु ही है, धातु से द्विविध प्रत्यय होते हैं--1. कृत्, 2. तिङ्। तिङन्त तदादि योग में 'नलोकाव्यय' सूत्र से षष्ठी का निषेध होता है, परिशेष से कृदन्त तदादि का स्वतः लाभ होता ही है पुनः सूत्र में 'कृति' (कृत्) ग्रहण क्यों किया ? वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'कृदन्त, तदादि पर्य्याप्त जो समुदाय है उसमें समवेत जो शक्ति उससे प्रतीयमान जो क्रिया, उसका कर्ता या कर्म उसके वाचक से 'षष्ठी' होती है।

जहाँ तद्धितान्त तदादि शब्द स्वरूप, उसमें रहने वाली जो समुदायार्थ बोधिका समुदाय शक्ति, उससे उपस्थापित जो क्रिया उसका जो कर्ता या कर्म तद्वाचक प्रातिपदिक से षष्ठी नहीं होती है। यथा--'कृतपूर्वीकटम्' यहाँ 'सपूर्वाच्च' सूत्र से कृतपूर्व से इनि प्रत्यय है, तद्धितान्त कृतपूर्विन् में समुदायार्थ बोधक शक्ति है, उससे उपस्थापित—

"पूर्वकालिक कट कर्मक उत्पत्ति कर्ता" यहाँ उत्पत्ति रूप धात्वर्थ एकदेश का कर्म कट से षष्ठी नहीं हुई अपितु द्वितीया से--'कृतपूर्वी कटम्'। यह कृति का फल षष्ठी व्यावृत्ति रूप दिया है। यहाँ पुनः शङ्का होती है कि यहाँ समास एवं इन् प्रत्यय एवं षष्ठी प्राप्त ही नहीं है, यह वाच्य ही अशुद्ध है।

तथाहि--कृधातु सकर्मक है, उसका अर्थ उत्पत्ति जनक व्यापार है, सकर्मक धातु से क्त प्रत्यय कर्म में होता है 'कृतः' यहाँ क्त प्रत्यय से कर्म कटरूप उक्त है, अनुक्त नहीं, अतः षष्ठी की अप्राप्ति है। एवं कृतः कः ? = विरचित कौन ? यह प्रश्न में उत्तर 'कटः' यही होता है। यहाँ अतः कृत पदार्थ कट पदार्थ में सापेक्ष है, सापेक्ष में एकार्थीभावात्मक शक्ति रूप सामर्थ्य नहीं रहता है = "सापेक्षमसमर्थवत्" अतः सामर्थ्य के अभाव से समास एवं इनि प्रत्यय रूप तद्धित वृत्ति की प्राप्ति ही नहीं है।

1. कर्मकट क्त प्रत्ययार्थ से उक्त है। 2. सापेक्ष में सामर्थ्याभाव से समास की अप्राप्ति है, सभी वृत्तियाँ एकार्थीभावरूप शक्ति स्थल में होती हैं, यहाँ असामर्थ्य से इन् अप्राप्त है। पुनः कृति ग्रहण व्यावर्त्य के अभाव में व्यर्थ है ?

समाधान--यहाँ भाष्य प्रयोगानुसारी व्याख्यान से प्रथम कट रूप कर्म की अविवक्षा कर कृधातु को अकर्मक मानकर (करणम्=कृतः) भाव में क्त प्रत्यय कर समास एवं इन् प्रत्यय कर कृतपूर्वी बनाकर बाद में कटरूप कर्म की विवक्षा करने से पूर्वोक्त तीनों शङ्काओं का समाधान होकर यहाँ प्राप्त कट से षष्ठी का निरासार्थ कृद् ग्रहण सार्थक है। अन्यत्र इस प्रकार की अविवक्षा नहीं होती यहाँ 'सिद्धस्य सिद्धिश्चिन्तनीय' से एवं भाष्यकार समर्थ के अनुग्रह बल में इसकी यथाकथञ्चित् सिद्धि हुई है।

प्रश्न 77. कर्ता तथा कर्म दोनों में यदि षष्ठी प्राप्त होती है तो किसमें किस सूत्र से षष्ठी होती है ?

93. उभयप्राप्तौ कर्मणि ।।2/3/66।।

उभयोः प्राप्तिर्यास्मिन् कृति तत्र कर्णण्येव षष्ठी स्यात्। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन।

'स्त्रीप्रत्ययोरकारकयोर्नायं नियमः।' भेदिका विभित्सा वा रुदस्य जगतः। 'शेषे विभाषा।' स्त्रीप्रत्यय इत्येके। विचित्रा जगतः कृतिर्हरे हरिणा वा। केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति। शब्दानामनुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा।

सूत्र-व्याख्या—इस सूत्र में प्राप्ति ग्रहण से कर्तृवाचक, कर्मवाचक इन दोनों का एक महावाक्य में सह प्रयोग रहेगा वहाँ ही इसकी प्रवृत्ति होती है। यह सूत्र पूर्व से प्राप्त षष्ठी का नियामक है, यथा--जहाँ कर्ता एवं कर्म दोनों को कृदन्ततदादि योग में षष्ठी प्राप्त रहे वहाँ कर्म में ही षष्ठी होती है। अर्थात् कर्तृवाचक से तृतीया होगी। यथा--'गवां दोहः अगोपेन।' यहाँ अगोप कर्ता है दोहन क्रिया का, एवं गोदोहन क्रिया की कर्म है, उभय से पूर्वसूत्र से षष्ठीद्वय प्राप्त हुई किन्तु गो से ही षष्ठी से गवां बना है, अगोप से (गोपाल भिन्न से) तृतीया 'अगोपेन' हुआ है।

यहाँ शङ्का होती है कि कृदन्त तदादि से अव्यवहित कर्ता या कर्म ही रहेगा, दोनों नहीं जो एक ही से प्राप्त है, तो पुनः यह सूत्र व्यर्थ है ? तो इसका समाधान यह है--यही सूत्र 'कृद्धि' सत्सप्तमी में प्रमाण है, अतः सप्तमी परिभाषा की यहाँ प्रसक्ति ही नहीं है।

अक या अकार के अन्त में रहे ऐसा शब्द स्त्रीलिङ्ग यदि रहे, वहाँ 'उभय प्राप्तौ' इस नियम की प्रवृत्ति नहीं होती है, वहाँ कर्ता एवं कर्म से षष्ठी होती है। भेदनं भिद् से यहाँ ण्वुल प्रत्यय है 'पर्यायार्हणोत्पत्तिषु' (3/3/119) या 'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः' से ण्वुलप्रत्यायान्त भेदिका स्त्रीलिङ्ग में टाप् इत्व से है। विभित्सा-सन्प्रत्यय न्त हलन्ताच्च (1/2/10) से कित्व है। अतः गुणाभाव करके 'अ प्रत्ययात्' (3/3/110) से अप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में है। यहाँ रुद्र कर्ता है, जगत् कर्म है, इन दोनों से षष्ठी से 'जगतः रुद्रस्य' होता है। रुद्रकर्तृक जगत् कर्मक भेदन जगत् या भेदन विषयिणी इच्छायुक्त अर्थ है। शेष कर्ता में 'उभयप्राप्तौ' सूत्र विकल्प षष्ठी करता है।

कहीं पर किसी प्रत्ययान्त योग में ही षष्ठी कर्ता को विकल्प से करता है—बिचित्रा जगतः (नित्य षष्ठी) । हरेः हरिणा यहाँ विकल्प से षष्ठी, उसके अभाव में अनभिहित कर्ता से तृतीया । कोई सामान्यतः शेष कर्ता से विकल्प षष्ठी यथा—आञ्चर्येण आचार्यस्य वा । वह अप्राप्त विभाषा है, स्त्री-प्रत्ययान्त के योग में कर्तृवाचक से 'उभयप्राप्तौ' से केवल कर्म 'जगतः' को ही षष्ठी प्राप्त थी, कर्ता को नहीं अप्राप्त षष्ठी को कर्ता से विकल्प विधायक है ।

प्रश्न 78. 'वर्तमानार्थक' क्त प्रत्यय का विधान किस सूत्र से होता है ?

94 क्तस्य च वर्तमाने ।।2/3/67।।

वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । न क्तोकेति निषेधकस्यायवादः । राज्ञां मतः, बुद्धः, पूजितो वा ।

सूत्र-व्याख्या—वर्तमान कालार्थक जो क्त प्रत्यय, तदन्त तदादि के योग में सम्बन्ध में षष्ठी होती है । यथा—राज्ञां मतः, बुद्धः, पूजितः । यहाँ मत्वर्थक ज्ञानार्थक एवं पूजार्थक धातु से क्तप्रत्यय वर्तमान काल से होता है—'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' 3/2/188।। यह सूत्र 'न लोक' का अपवाद है । राजन् से षष्ठी हुई है, मति से बुद्धि का पृथक् ग्रहण से । इससे ही षष्ठी 'कर्तुः ईप्सिततमम्' में हुई है, किन्तु वहाँ क्तप्रत्योपत्त वर्तमानस्व की विवक्षा नहीं है । यदि विवक्षा करेंगे तो 'कटं कृतवान्' यहाँ भूतकाल की प्रतीति है, कटं करिष्यति यहाँ भविष्यत् काल वस्तुतः 'क्तस्य च वर्तमाने' यहाँ वर्तमानस्य इतरकाल व्यावर्तक मात्र है, वर्तमानत्व का वाचक नहीं है । राजसम्बन्धी पूजित, ज्ञात एवं सम्मत यह पुरुष है ।

प्रश्न 79. 'अधिकरणार्थक' क्तप्रत्यय का विधान किससे होता है, इसका विवेचन करते हुए अधिकरण वाचिनश्चेति सूत्र की व्याख्या करें ।

95. अधिकरणवाचिनश्च ।।2/3/68।।

क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषासासितं शयितं गतं भुक्तं वा ।

सूत्र-व्याख्या—अधिकरण अर्थ में विहित जो क्तप्रत्यय तदन्त तदादि के योग में कर्तृवाचक प्रातिपदिक से षष्ठी होती है । यथा इदम् एषाम् आसितम्, शयितम्, गतम् भुक्तम्, यहाँ 'क्तोऽधिकरणे' से अधिकरण में क्तप्रत्यय होता है । स्थिति का आधारभूत स्थान यह 'आसितम्' का अर्थ है । एवं शयनक्रिया का आधार यह अर्थ शयितम् का है । गमन क्रिया का आधार यह 'गतम्' का अर्थ है । भोजन का स्थान यह भुक्तम् का अर्थ है । इनके योग में आसन, शयन, गमन, भोजन इन क्रियाओं का कर्ता यहाँ अनेक पुरुष हैं, उनका प्रतिपादक यहाँ इदम् शब्द है, षष्ठी विभक्ति कर्तृ वाचक इदम् से हुई, षष्ठी के बहुवचन 'एषाम्' सूत्रोदाहरण है ।

प्रश्न 80. 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम्' सूत्र के प्रत्येक पदों का विवेचन करते हुए, उसकी व्याख्या कीजिये ।

96. न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम् ।।2/3/69।।

एवं प्रयोगो षष्ठी न स्यात् । लादेशाः—कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः । उः—हरिः दिदृक्षुः अलङ्करिष्णुर्वा । उक—दैत्यान् धातुको हरिः । 'कमेरनिषेधः ।' लक्ष्म्याः कामुको हरिः । अव्ययम्—जगत्सृष्टवा, सुखं कर्तुम् । निष्ठा—विष्णुना हता दैत्याः । दैत्यान् हतवान् विष्णुः ।

खलर्थः—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा । तृन्निति प्रत्याहारः—शतृशानचाविति तृ शब्दादारभ्यः आतृनो नकारात् । शानच्—सोमं पवमानः । चानश्-आत्मानं मण्डयमानः । शतृ–वेदमधीयन् । तृन–कर्ता लोकान् । 'द्विषः शतुर्वा ।' मुरस्य मुरं वा द्विषन् । सर्वोऽयं कारक षष्ठ्याः प्रतिषेधः । शेषे षष्ठी तु स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरकस्यः जिष्णुः ।

सूत्र-व्याख्या—लकार के स्थान में आदेश उ, उकञ्, अव्यय, निष्ठा (क्त एवं क्तवतु), खलर्थ एवं तृन् ये कृत् प्रत्यय हैं—अन्त में जिनके ऐसे कृदन्तदादि शब्दों के योग में कर्मवाचक से षष्ठी विभक्ति नहीं होती है। लादेश यथा—कुर्वन् कुर्वाणः सृष्ठि हरिः = जगत् की उत्पत्ति जनक व्यापार कर्ता हरि है। यहाँ कुधातु से वर्तमानार्थक लट् के स्थान में शतृ या शानच् से कुर्वन् या कुर्वाणः की सिद्धि हुई। यहाँ सृष्टि कर्म है, उत्पत्ति रूप फलाश्रय होने से। हरिः कर्ता है, इससे षष्ठी का निषेध एवं नियम प्राप्त कर्म से षष्ठी उसका भी निषेध से द्वितीया एवं प्रथमा क्रमशः कर्म कर्तृ वाचक से हुई है। यथा हरिंदिदृक्षुः ।

यहाँ सन्नन्त दिदृक्ष से 'सनाशंसभिक्ष उः' से उप्रत्यय है, हरि कर्म से षष्ठी का निषेध। हरि को देखने की इच्छा वाला। हरिम् अलंकरिष्णुः = हरि को आभूषणों से अलंकृत करने वाला, यहाँ 'अलंकृञ्' से लादेश इष्णुच् प्रत्यय है। कर्मवाचक हरि से षष्ठी पूर्वसूत्र से प्राप्त थी, उसका निषेध कर्मणि द्वितीया से होकर 'हरिम्' बना। उक यथा—दैत्यान् धातु को हरिः, यहाँ 'लषपत' से उकञ् प्रत्यय है। यहाँ घातुकः के योग में दैत्य से षष्ठी का निषेध है। अनेक राक्षसों के नाशकर्ता हरि हैं। यदि कम् धातु से उकञ् कर उक प्रत्ययान्त तदादि योग में षष्ठी का निषेध न होकर षष्ठी होती है। यथा—लक्ष्म्याः कामुकः हरिः। यहाँ कामुक योग में कर्म वाचक लक्ष्मी से 'उभयप्राप्तौ' नियम से कर्म में षष्ठी हुई है—लक्ष्म्याः। लक्ष्मी की इच्छा करने वाले हरि हैं।

अव्यय—जगत् सृष्ट्वा यहाँ क्त्वाप्रत्ययान्त सृष्ट्वा अव्यय है। जगत् कर्म है, षष्ठी का निषेध से द्वितीया होकर एकवचन में जगत् हुआ। सुखं कर्तुम् यहाँ तुमुन् प्रत्ययान्त 'कर्तुम्' अव्यय है। निष्ठा—क्त और क्तवतु की निष्ठा संज्ञा होती है—'विष्णुना हता दैत्याः' यह कर्मणि प्रयोग है, क्त से दैत्य—रूप कर्म उक्त होने से प्रथमा, विष्णु रूप कर्ता अनुक्त से प्राप्त षष्ठी का इससे निषेध होने से कर्तरि तृतीया से विष्णुना बना। हतवान् में क्तवतु प्रत्यय कर्ता में होने से यहाँ विष्णु रूप अर्थ उक्त है, दैत्यरूप अर्थ अनुक्त है, अतः कर्मवाचक से षष्ठी निषेध से 'दैत्यान्' हुआ।

खलर्थाः—यथा—'ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा' यहाँ 'ईषद्दुस्सुषु' (3/3/126) से खल् प्रत्यय है। ईषत्कर में कृधातु से यहाँ हरि से प्राप्त षष्ठी का निषेध से तृतीया—हरिणा। यहाँ संसार रूप मायिक पपञ्च रूप अर्थ खल् से उक्त है, अतः अनुक्त कर्म न होने से प्रथमा—प्रपञ्चः॥ यहाँ तृन् केवल शब्द स्वरूप का प्रत्यायक नहीं है किन्तु शतृविधायक शास्त्र के तृ से लेकर 'तृन्' (3/2/135॥) सूत्र तक प्रत्याहार के मध्य में जितने कृप्रत्यय हैं, वे सब तृन् प्रत्याहार के संज्ञी=बोध्य हुये हैं, अतः उन प्रत्ययों के अन्त में रहने पर भी षष्ठी का निषेध करता है। यथा 'सोमं पवमानः' यहाँ 'पूङ्यजोः शानन्' ॥3/2/128॥ से शानन् प्रत्ययान्त 'पवमानः' के योग में कर्मवाचक सोम से षष्ठी का निषेध तथा उससे द्वितीया। इसी प्रकार 'ताच्छील्यवयोवचने' से विहित चानश् प्रत्यय होने पर तदन्त के योग में भी षष्ठी का निषेध होता है, यथा—आत्मानं मण्डयमानः। वेदम् धीयम् में शतृ प्रत्ययान्त है, अतः वेद से षष्ठी का निषेध है। कर्ता कटान्—यहाँ तृन् प्रत्ययान्त के योग में कटानाम् न हुआ। शतृ प्रत्ययान्त द्विष् धातु के योग में विकल्प से यहाँ निषेध की प्रवृत्ति होती है, वहाँ कर्मवाचक से षष्ठी होती भी है एवं निषेध भी। यथा—मुरस्य, मुरं वा द्विषन्। यहाँ 'अनन्तरस्य' न्याय से कारक षष्ठी का ही निषेध है, शेषत्व विवक्षा में तो शेषे सूत्र से निष्कण्ठक षष्ठी होती ही है, यथा—ब्राह्मण सम्बन्धी कार्य करने वाला या नरक सम्बन्धी जयकर्ता, यहाँ ब्राह्मणस्य, एवं नरकस्य में शेषे षष्ठी है।

प्रश्न 81. भविष्यदर्थक एवं आधमर्ण्यार्थ का अक एवं इनि प्रत्यय का विधान किस सूत्र से होता है?

97. अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः ॥2/3/70॥

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात्। सतः पालकोऽवतरति। व्रजं ग्रामी। शतं दायी।

सूत्र-व्याख्या—भविष्यत् अर्थ में विधीयमान अकप्रत्यय एवं भविष्यत् तथा आधमर्ण्य अर्थ में विहित इन् के योग में षष्ठी नहीं होती है। यहाँ अकप्रत्ययान्त तदादि एवं इन्प्रत्ययान्त तदादि अर्थ है। 'सतः पालकः अवतरति'=सज्जनों की रक्षा करने वाला अवतार लेता है। इससे ज्ञात होता है कि अवतार जिस कार्य के लिये लिया है उस पालन रूप कार्य को वह अवश्य सम्पादन करेगा। यहाँ 'पालकः' ण्वुल् प्रत्यय के अकादेश से निष्पन्न है—'तुमुन्ण्वुलौ' से ण्वुल प्रत्यय है। कर्म यहाँ 'सतः' द्वितीयान्त है। अस् धातु से लकार स्थानिक शतृ प्रत्यय एवं अकार लोप से सत् शस् सतः। व्रजं ग्रामी यहाँ 'भविष्यति गम्यादयः' से गम्, उससे णिनि प्रत्यय, उपधावृद्धि प्रथमैकवचन में विभक्ति कार्य से ग्रामी, इनके योग में व्रज की षष्ठी का निषेधकर कर्म में द्वितीया हुई है। शतं दायी=सौ रुपये वह अवश्य देगा, यहाँ 'आवश्यकाधमर्ण' से दासे आधमर्ण्य अर्थ में णिनि प्रत्यय है। ऋणग्रहणोत्तर देने वाले को दायी (देनदार) कहते हैं।

प्रश्न 82. 'गन्तव्या ते वसतिरलका नामयक्षेश्वराणाम्' यहाँ गन्तव्या के योग में किस सूत्र से षष्ठी होती है ?

98. कृत्यानां कर्तरिवा ॥2/3/71॥

षष्ठी वा स्यात् । अया मम वा सेव्यो हरिः । कर्तरीति किम् ? गेयो माणवकः साम्नाम् । भव्यगेयेति कर्तरि यद् विधानादनभिहितं कर्म । अन्नयोगो विभज्यते— 'कृत्यानाम्' । उभयप्राप्ताविति नेति चानुवर्तते । तेन नेतव्या व्रजं ग्रारः-कृष्णेन । ततः 'कर्तरिवा' । उक्तोऽर्थः ।

सूत्र-व्याख्या—कृत्य प्रत्ययान्त के योग में कर्ता से विकल्प षष्ठी होती है । पक्ष में अनभिहित कर्तृवाचक से तृतीया होती है । यथा—यथा मम वा सेव्यो हरिः । यहाँ सेव् धातु सकर्मक से कर्म में 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् प्रयय से सेव्यः हुआ । इसमें ण्यत् से हरि रूप कर्म उक्त है, अस्मदर्थ कर्ता अनुक्त होने से षष्ठी मम हुई, और पक्ष में तृतीया मया बना । सूत्र में कर्तृपद इसलिये किया गया कि जहाँ कर्ता में यत् प्रत्यय होता है वहाँ कर्म अनुक्त है । उस अनुक्त कर्म वाचक से विकल्प षष्ठी न हुई, यथा—गेयो माणवकः साम्नाम् । यहाँ माणवक रूप कर्ता में गा धातु से 'भव्यगेय' सूत्र से यत् प्रत्यय है, कर्ता उक्त है, सामरूप कर्म अनुक्त है, वहाँ कर्मवाचक से नित्य षष्ठी होती है । यहाँ योगविभाग है । 'कत्यानाम्' यहाँ उभयप्राप्तौ एवं न की अनुवृत्ति है । उभयप्राप्ति में कत्यप्रत्यय तदन्त के योग में षष्ठी नहीं होती है । यथा 'नेतव्या ब्रजं गावः कृष्णेन' यहाँ कृत्य प्रत्ययान्त नेतव्या है, यहाँ उभयप्राप्तौ नियम से ब्रज से षष्ठी प्राप्त थी उसका निषेध हुआ है ।

विद्वानों के मत में कृत्य प्रत्यय सात हैं—यत्, ण्यत्, क्यप्, केलिमर, अनीयर्, तव्य, तव्यत् ।

यतं ण्यतं क्यपञ्चेव केलिमरमनीयरम् ।
तव्यञ्च तव्यतञ्चैव कृत्यान् सप्त विदुर्बुधाः ॥

प्रश्न 83. 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्' इस सूत्र में तुल्यार्थ शब्द की परिगणना करते हुये सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत कीजिए ।

99. तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्यात् ॥2/3/72॥

तुल्यार्थैर्योगे तृतीया वा स्यात् । पक्षे षष्ठी । तुल्यः, सदृशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा । अतुलोपमाभ्याम् किम् ? तुला, उपमा वा कृष्णस्य नास्ति ।

सूत्र-व्याख्या—तुल्यार्थ शब्दों के योग में सादृश्य के प्रतियोगी वाचक शब्द से तृतीया विकल्प से होती है । तुल्यार्थक तुला एवं उपमा के योग को छोड़कर पक्ष में षष्ठी होती है । यथा कृष्णेन और पक्ष में कृष्णस्य । कृष्णस्य तुला, उपमा वा, यहाँ तृतीया न हुई । पूर्व सूत्र से कर्तृ सम्बन्ध एवं 'वा' की अनुवृत्ति आती; अतः कर्ता की निवृत्ति के लिये यहाँ 'अन्य तरस्याम्' ग्रहण किया है एवं उत्तर सूत्र में तृतीयों क चाकार से अनुकर्षण न हो जाय अतः तृतीया एवं उत्तर सूत्र में चतुर्थी इन दोन

का व्यवधान उपस्थित करने के लिये इन दोनों के मध्य में 'अन्यतरस्याम्' पद रखा है। इस प्रकार उत्तर सूत्र में चकार से षष्ठी का अनुकर्षण हुआ है।

100. चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ॥2/3/73॥

एतदर्थयोगे चतुर्थी वास्यात्, पक्षे षष्ठी। आशिषि—आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्। एवं मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा भूयात्। आशिषि किम् ? देवदत्तस्यायुष्यमस्ति। व्याख्यानात्सर्वत्रार्थ-ग्रहणम्। मद्रभद्रयोः पर्यायित्वादन्यतरो न पठनीयः।

सूत्र-व्याख्या—आशीर्वाद अर्थ में वर्तमान आयुष्य मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ, हित एवं इन शब्दों के समानार्थक शब्दों के योग में विकल्प से चतुर्थी होती है एवं पक्ष में षष्ठी भी होती है। चकार से षष्ठी का सम्बन्ध है। शुभ वस्तु कथन को आशीर्वाद कहते हैं। जहाँ सत्यकथन मात्र होता है तथा आशीर्वाद गम्यमान नहीं है, यथा—'देवदत्तस्य आयुष्यम् अस्ति' यहाँ इसकी प्रवृत्ति न हुई, शिष्टोक्त व्याख्यान से सर्वत्र अर्थग्रहण से इनके पर्याय वाचक शब्दों का भी ग्रहण हुआ यहाँ 'स्वं रूपम्' सूत्र की प्रवृत्ति न हुई वह संज्ञा सूत्र अनित्य है। यह व्याख्यान स्वीकार करने पर मद्र भद्र इनमें यथेच्छ एकपक्ष नहीं करना चाहिये। इष्टानुरोध से अन्यतर पक्ष का अवलम्बन करना चाहिये।

प्रश्न 84. 'आधार' का अर्थ स्पष्ट करते हुये उसके भेदों की सोदाहरण व्याख्या कीजिये।

101. आधारोऽधिकरणम् ॥1/4/45॥

कर्तृ कर्म द्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञस्यात्।

सूत्र-व्याख्या—आङ्पूर्वक 'धृ' धातु से अधिकरण अर्थ में घञ्प्रत्यय से आधार= आश्रय अर्थ है। किस का आश्रय यह आशंका होगी, वह साक्षात् क्रिया का तो आधार नहीं हो सकता है अतः कर्ता का आधार या कर्म का आधार यह सम्भव है।

कर्ता या कर्म द्वारा अर्थात् कर्तृनिष्ठ या कर्मनिष्ठ जो क्रिया व्यापार या फल, उसका जो आधार कारक उसकी अधिकरण संज्ञा होती है। आधार चार प्रकार का होता है—1. औपश्लेषिक—यथा खट्वायां स्वपिति। 2. विषय, यथा—धर्मे प्रतिष्ठते। 3. सामीप्य, यथा—संसारे विश्वेश्वरो वर्तते। 4. अभिव्यापक, यथा—तिलेषु तैलम्।

प्रश्न 85. "चर्मणि द्विपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्। केशेषु चमरी हन्ति साम्नि पुष्कलको हतः॥" यहाँ किस सूत्र से सप्तमी होती है, विशेषतापूर्वक विवेचन कीजिये।

102. सप्तम्यधिकरणे च ॥2/3/36॥

अधिकरणे सप्तमी स्यात्। चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे

इच्छाऽस्ति । सर्वस्मिन्नास्माऽस्ति । वनस्य दूरेऽन्तिके वा । दूरान्तिकार्थेभ्य इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः । 'क्तस्येनविषयस्यकर्मण्युपसंख्यानम् ।' अधीती व्याकरणे । अधीतमनेनेतिविग्रहे 'इष्टादिभ्यश्च' इति कर्तरीनिः । 'साध्वसाधु-प्रयोगे च ।' साधुः कृष्णो मातरि । असाधुर्मातुले । 'निमित्तात् कर्मयोगे ।' निमित्त-मिह फलम् । योगः संयोगसमवायात्मकः ।

चर्मणी द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरी हन्ति सीम्नि पुष्कल को हतः ।।1।।

हेतौ तृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणार्थम् । सीमा = अण्डकोशः । पुष्कलको गन्धमृगः । योग विशेषे किम् ? वेतमेन धान्यं लुनाति ।

सूत्र-व्याख्या—अधिकरण संज्ञक कारक से सप्तमी होती है । अनुक्त समुच्चयार्थक चकार सूत्र में है, अतः दूरार्थक एवं अन्तिकार्थक शब्दों से भी सप्तमी होती है । आधार के तीन भेद हैं—औपश्लेषिक, वैषयिक और अभिव्यापक । उप = समीये श्लेषः = सम्बन्धः, उपश्लेषः = समीप्य मूलक सम्बन्धः । तत्कृतम् अधिकरणम् औपश्लेषिकम्, यथा इको यणचि । यहाँ शब्द का शब्द के साथ सामीप्य को छोड़कर अन्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है । अतः यहाँ 'अचि' औपश्लेषिक आधार है जिससे 'अचि' में सप्तमी हुई है । कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति, यहाँ, कट कर्ता द्वारा ही क्रिया में सम्बन्धित है वह सम्बन्ध 'स्ववृत्ति वृत्तित्व' है = चटाई पर चैत्र है, चैत्र में स्थिति क्रिया है । तथा स्थाल्याम् तण्डुलान पचति में स्वाश्रय समवेत सम्बन्ध स्थाली एवं विक्लित्ति का है, अतः वहाँ स्थाल्याम् में आधार में सप्तमी हुई है ।

वैषयिक आधार मोक्षे इच्छा अस्ति । यहाँ सविषयक इच्छा का विषय मोक्ष है । निर्विषयिणी इच्छा नहीं होती है । इच्छा में भासमान पदार्थों में इच्छायुक्त विषयता रहती है, जो विशेष्यतारूपा, प्रकारतारूपा, अवच्छेदकता रूपा से अनेक प्रकार की है ।

अभिव्यापक आधार—सर्वास्मिन्नात्माऽस्ति = आत्म-सत्ता का अभाव कहीं भी नहीं है । आत्मसत्ता का अभाव केवलान्वयी है, अत्यन्ताभाव का जो अप्रतियोगी रहे उसे केवलान्वयी कहते हैं, 'आत्मा नास्ति' ऐसा नहीं कह सकते हैं, निषेध का प्रतियोगी आत्मा सर्वत्र है, जहाँ प्रतियोगी रहे वहाँ उसका अभाव नहीं कह सकते हैं, तद्वत्ता बुद्धि तदभाववत्ता बुद्धि के प्रतिप्रतिबन्धक है । सर्वत्र आत्मकर्तृक सत्ता का निश्चयात्मक ज्ञान है, अतः सर्वस्मिन् में अधिकरण में सप्तमी है ।

इसी प्रकार तिलेषु तैलम् यहाँ तैल आधार है, तैल का सर्वावयव स्वरूप तिल आधार है, तिल के यावत् अवयवों में तैल की सत्ता है, अतः यही मुख्य आधार होने से तिलेषु में अधिकरण में सप्तमी हुई है । वटे गावः, गुरौ वसति, गङ्गायाँ घोषः, शिरसि वेदना, अन्तःकरणेदुःखम् बन्धुमध्ये जीवनम् आदि अनेक उदाहरणों में आधम् की अधिकरण संज्ञा हुई है । 'दूरे अन्ति के वा वनस्य' यहाँ चकार के बल से अधिकरण

संज्ञा हुई है। अन्यत्र 'दूरान्तिकार्थेभ्यः से द्वितीया, तृतीया एवं पञ्चमी हुई है। यथा—दूरं दूरेण, दूराद् एवं दूरे। अन्तिकम्, अन्तिकेन, अन्तिकात् एवं अन्ति के।

इन् विषयक क्तप्रत्ययान्त के योग में कर्मवाचक से सप्तमी होती है। यथा—व्याकरणे अधीती। यहाँ अधिपूर्वक अध्ययनार्थ इङ् धातु से क्तप्रत्यय कर उससे 'इष्टादिभ्यश्च' से करण अर्थ में इन् प्रत्यय से अधीती की सिद्धि है। यहाँ क्तान्त से इन् है, अध्ययन का कर्म व्याकरण है, अतः कर्म वाचक से सप्तमी 'व्याकरणे अधीती' बना। साधु एवं असाधु के योग में सप्तमी होती है, यथा माता में कृष्ण साधु = अच्छे हैं। एवं मामा = कंस के विषय में क्रूर कर्म कर्ता हैं। यहाँ इससे मातरि एवं मातुले दोनों में सप्तमी हुई।

निमित्तात्—यदि कर्म का संयोग हो एवं किसी निमित्त के लिये कर्म किया जाय तो निमित्तवाची शब्द से सप्तमी होती है। वार्तिक में यहाँ निमित्त का अर्थ फल है। योग शब्द = संयोगार्थक है वह सम्बन्ध यहाँ संयोग या समवाय का ही ग्रहण करना अपेक्षित है। यथा—चर्मणि द्वीपिनं हन्ति = चर्म के निमित्त गैंडे को मारता है, यहाँ चर्मन् शब्द से सप्तमी है। दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् = दाँतों के निमित्त हाथी को मारता है, यहाँ 'दन्तयोः' में सप्तमी विभक्ति है। केशेषु चमरीं हन्ति = वह चाँवर के लिये चमरी गाय की पूँछ काटता है। यहाँ के शेषु सप्तमी विभक्ति है। सीम्नि पुष्कलको हतः = कस्तूरी के लिए गन्ध प्रधान हरिण को मारता है, यहाँ सीम्नि सप्तमी विभक्ति है। इन सप्तभ्यन्तों का कर्म के साथ योग है—द्वीपि, कुञ्जर, चमरी एवं पुष्कलक, अतः ये चारों यहाँ कर्मवाचक हैं। इनमें हेतौ' सूत्र से प्राप्त तृतीया का इस वार्तिक से बाधकर सप्तमी हुई है। वेतनेन धान्यं लुनाति यद्यपि यहाँ उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध है तथापि वार्तिक में योग से वह सम्बन्ध यहाँ ग्राह्य नहीं है, अतः यहाँ वेतन से 'हेतौ' से तृतीया हुई है। वेतन = नियत द्रव्य लेकर वह किसी खेत में स्थित धान्य को काटता है।

प्रश्न 86. यस्य च भावेन भावलक्षणम् सूत्र से विहित सप्तमी का नाम सती सप्तमी क्यों रखा गया है ? कारण बताइये।

103. यस्य च भावेन भावलक्षणम् ॥2/3/37॥

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्। गोषु दुह्यमानासुगतः। 'अर्हाणां कर्तृत्वे ऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च।'

1. सत्सु तरत्सु असन्त आसते। 2. असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति। 3. सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति। 4. असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति।

सूत्र-व्याख्या—जिसकी निश्चित क्रिया से अन्य क्रिया अनिश्चित लक्षित होती है, उससे सप्तमी होती है। सूत्रस्थ भाव शब्द क्रियार्थक है—भाव = भावना = क्रिया। सामान्य रूप से सभी धातु क्रिया के वाचक हैं। सकल क्रिया में रहने वाला एकमात्र सामान्य धर्म ही क्रियात्व है। उसी को शक्यता वच्छेक कहते हैं।

प्रकृत में यथा—गोषु दुह्यमानासु गतः = गौओं के दूहते समय वह गया। यहाँ गौओं की दोहन रूप जो क्रिया है उससे गमन रूप क्रिया लक्षित होती है।

वस्तुतः यहाँ गमन-काल (समय) का ज्ञान कराने के लिए उसकी जिज्ञासा थी, वह प्रश्न पूछता कि वह कब गया ? अनिश्चय में प्रश्न होना स्वाभाविक है, तब अन्य द्वारा उत्तर दिया जाता है कि गोषु दुह्यमानासु गतः = यहाँ गोदोहन काल प्रायः निश्चित सा ही है, उस समय गया, तब प्रश्न का समुचित उत्तर प्राप्त हुआ। अतः स्पष्ट हुआ कि ज्ञात क्रिया से अज्ञात क्रिया का निश्चय करने में निम्न अर्थों में सप्तमी होती है, यथा—

1. योग्य कारकों का कर्तृत्व होने पर—यथा—सज्जनों के तरने पर असज्जन बैठे रहते हैं।

2. अयोग्य कारकों का अकर्तृत्व होने पर—यथा-असन्तों के बैठने पर सज्जन तैरते हैं।

3. योग्य कारकों का अकर्तृत्व होने पर, यथा—सत् पुरुषों के बैठने पर असज्जन तैरते हैं।

4. अयोग्य कारकों का कर्तृत्व होने पर, यथा—असन्तों के तैरने पर सत्पुरुष बैठे रहते हैं।

प्रश्न 87. षष्ठी चानादरे सूत्र के (102) उदाहरण 'रुदन्तं पुत्रादिकमनाहृत्यसन्यस्तवान्' इस अर्थ के प्रतिपादन का तात्पर्य समझावें।

104. षष्ठी चानादरे ॥2/3/38॥

अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्। रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—तिरस्कार अर्थ में जिस क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित की जाय वहाँ षष्ठी एवं सप्तमी होती है। यथा–'रुदति रुदतः वा' यहाँ सप्तमी एवं षष्ठी दोनों हैं। रोते हुये पुत्रादिक का अनादर कर संन्यासी हो गया। यहाँ रोदन रूप क्रिया से प्रव्रजन क्रिया लक्षित है, 'यदा पुत्रादिकर्तृकं रोदनं तथा प्रव्रजनम्' इस प्रकार की व्याप्ति भी यहाँ बन सकती है।

प्रश्न 88. 'साक्षिप्रतिभूशचार्थ' का विवेचन करते हुये 'स्वामीश्वराधिपति' सूत्र की सोदाहरण स्फुट व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।

105. स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च ॥2/4/39॥

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिक सप्तम्यर्थं वचनम्। गवां गोषुवा स्वामी। गवां गोषु वा प्रसूतः। गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः।

सूत्र-व्याख्या—स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षि, प्रतिभू, प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी एवं सप्तमी होती है। षष्ठी ही यहाँ प्राप्त थी, किन्तु अप्राप्त सप्तमी के पक्ष में विधानार्थ ही यह सूत्र है। यथा—स्वामी एवं प्रसूत के योग में गौ से षष्ठी एवं सप्तमी हुई है। सम्पूर्ण गौओं के ही अनुभवार्थ उसने जन्म धारण किया है।

प्रश्न 89. 'आयुक्तकुशलाभ्यां' इस सूत्र में 'आसेवायाम्' इसका क्या अभिप्राय है?

106. आयुक्तकुशलाभ्यां आसेवायाम् ।।2/3/40//

आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे । आयुक्तो व्यापारितः । आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा । आसेवायां किम् ? आयुक्तो गौः शकटे, ईषद्-युक्त इत्यर्थः ।

सूत्र-व्याख्या—आसेवा अर्थ में अर्थात् तात्पर्य अर्थ में वर्तमान आयुक्त एवं कुशल इनके योग में षष्ठी एवं सप्तमी होती है। सर्व प्रकार से सेवा गम्यामान रहे उसको आसेवा कहते हैं। तथा शुभ कर्म में युक्त को कुशल या निपुण कहते हैं। आयुक्तः = व्यापारितः । हरिःपूजने हरिपूजनस्य आयुक्तः कुशलो वा ।=हरि के पूजन में सप्रकार से वह लगा हुआ है, एवं कुशल है । सूत्र में 'आसेवायाम्' क्यों कहा है ? क्योंकि सर्वप्रकार से सेवा गम्यमान होने पर ही सप्तमी होगी, ईषद् अर्थ में नहीं । यथा—आयुक्तो गौः शकटे, यहाँ रथ से ईषद् युक्त है, आसेवा नहीं है।

प्रश्न 90. 'यतश्च निर्धारणम्' सूत्र में यत् शब्द से क्या विवक्षित है एवं निर्धारण का क्या तात्पर्य है, उदाहरण से स्पष्ट कीजिये ।

107. यतश्च निर्धारणम् ।।2/3/41।।

जातिगुण क्रिया संज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्तत्: षष्ठी सप्तम्यौ स्तः । नृणाँ नृषुवा ब्राह्मणः श्रेष्ठः । गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीराः । गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः । छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटु ।

सूत्र-व्याख्या—जाति, गुण, क्रिया एवं संज्ञा इनसे समूह के एक देश का पृथक् करने को, निर्धारण कहते हैं, जिससे वह पृथक्करण होता है उससे षष्ठी एवं सप्तमी होती है । यथा—नृणां नृषुवा ब्राह्मणः श्रेष्ठः = मनुष्य समुदाय से ब्राह्मण श्रेष्ठ (उत्तम) है ।

यहाँ मनुष्य समुदाय से एकदेश ब्राह्मण का पृथक् कारण है । पृथक्करण में कारण श्रेष्ठत्व है । गुणवाचक यथा—गवाँ गोषु या कृष्णा बहुक्षीरा = गौओं में काली गाय बहुत दूध देने वाली है । क्रियावाचक का यथा—गच्छातां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः = चलने वालों में धावन् क्रिया करने वाला शीघ्रगामी है, यहाँ गच्छत् से षष्ठी एवं सप्तमी हुई है । संज्ञा वाचक में, यथा---छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः = विद्यार्थियों में मैत्र नामक पटु = चतुर है । यहाँ छात्र समुदाय वाचक छात्र से षष्ठी एवं सप्तमी हुई है । इस सूत्र की प्रवृत्ति निम्न परिस्थितियों में होती है ।

(1) जिससे पृथक्करण किया जाय उसका प्रयोग अपेक्षित है ।

(2) जो पृथक् किया जाय उसका भी प्रयोग अपेक्षित है ।

(3) जिस रूप से वह पृथक् किया जाय उस रूप का भी प्रयोग अपेक्षित है । (यस्मात् निर्धार्यते, यश्च निर्धार्यते येन रूपेण निर्धार्यते तत्रैवेदं प्रवर्तते) । यथा

प्रपमोद्राहरण में—ब्राह्मण शब्द जातिवाचक है = ब्राह्मणत्व । द्वितीय उदाहरण में कृष्ण गुणोपसर्जन से कृष्णत्व वाचक है । तृतीय उदाहरण में धावन् शब्द् शीघ्रगमन रूप क्रिया वाचक है विशेषतां से । चतुर्थ उदाहरण में संज्ञा वाचक मैत्र है । ये चारों जातित्वेन, गुणत्वेन, क्रियात्वेन एवं संज्ञात्वेन अर्थ प्रत्यायक हैं ।

प्रश्न 91. 'माथुरा: पाटलिपुत्रकेभ्य आद्यतरा:' यहाँ किस सूत्र से पञ्चमी होती है, एवं इस पंचमी की क्या विशेषता है ?

108. पञ्चमी विभक्ते ।।2/3/42।।

विभाग: = विभक्तम् । निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमीस्यात् । माथुरा: पाटलिपुत्रैभ्य आठ्यतरा: ।

सूत्र-व्याख्या—विभक्त का अर्थ विभाग है एवं विभाग का अर्थ भेद है । निर्धार्यमाण का जिससे भेद गम्यमान रहे उससे पञ्चमी होती है । यथा—माथुरा: पाटलिपुत्रैभ्य: आढ्यतरा: = माथुर पटना निवासियों से अधिक धनी है । यहाँ मथुरा निवासी निधार्यमाण हैं, पटना वासि मनुष्य समुदाय वाचक से पञ्चमी 'पाटलिपुत्रैभ्य:' हुई । यहाँ भेद के प्रतियोगी वाचक से पञ्चमी एवं अनुयोगी वाचक माथुर से प्रथमा हुई । पाटलिपुत्रप्रतियोगिक भेदाश्रया: माथुरा: ।

प्रश्न 92. 'साधुनिपुणाभ्याम्' इस सूत्र में 'अर्चा' पदार्थ की सोदाहरण व्याख्य कीजिए ।

109. साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रते: ।।2/3/43।।

आभ्यां योगे सप्तमी स्याद्र्चायां नतु प्रते: प्रयोगे । मातरि साधुर्निपुणो वा । अर्चायां किम् ? निपुणो रोज्ञो भृत्य: । इह तत्त्वकथने तात्पर्य्यम् । 'अपत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ।' साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति पर्यनु वा ।

सूत्र-व्याख्या—पूजा अर्थ की प्रतीति होने पर साधु एवं निपुण के योग में सप्तमी होती है किन्तु प्रति के योग में नहीं । अर्थात् जहाँ सत्यकथन मात्र है और प्रशंसा की प्रतीति नहीं है वहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है । यथा—राजा का भृत्य कार्य करने में कुशल है, यहाँ राजन् से षष्ठी है । 'अप्रते:' कहने का अभिप्राय यह कि प्रति, परि, अनु आदि के योग में सप्तमी नहीं होती वहाँ तो उनके योग में द्वितीया ही होगी, यथा—साधुर्निपुणो वा मातरंप्रति पर्यनु वा ।

प्रश्न 93. 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इस सूत्र में चकार से कौनसी विभक्ति ली जाती है ?

110. प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ।।2/3/44।।

आभ्यां योगे तृतीया स्यात्, चात् सप्तमी । प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा ।

सूत्र-व्याख्या—प्रसित एवं उत्सुक के योग में तृतीया एवं सप्तमी होती है । प्रसित उत्सुको वा हरौ हरिणा वा = हरि में वह तत्पर है । प्रसित: उत्सुक: = तत्पर: ।

प्रश्न 94. 'मूलेनवाहये देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्' यहाँ मूलेन से क्या अभिप्रेत है तथा किस सूत्र से यहाँ तृतीया होती है ?

111. नक्षत्रे च लुपि ॥2/3/45॥

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे: यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात् तृतीया सप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे ॥

"मूलेनाबाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् ॥"
मूले श्रवणे वा लुपि किम्, पुष्ये शनिः ।

सूत्र-व्याख्या—प्रकृत्यर्थ नक्षत्र वाचक है उससे जायमान तद्धित प्रत्यय उसका लुप् संज्ञा से लोप होने पर उस लोप स्थानिक प्रत्ययार्थ के अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक नक्षत्र से तृतीया एवं सप्तमी होती है । (अर्थात् नक्षत्रैण युक्तः कालः' यह सूत्र नक्षत्र वाचक तृतीयान्त से युक्त अर्थ में अण् प्रत्यय करता है, नक्षत्र युक्त काल अर्थ प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ मिलाकर हुआ है ।) यथा–मूलेन मूले = मूल नक्षत्रयुक्त काल, यहाँ तृतीया एवं सप्तमी हुई है । इसी प्रकार श्रणणे नक्षत्रार्थक से अण् लुप् श्रवणयुक्त काल वाचक से तृतीया में श्रवणेन एवं सप्तमी में श्रवणें हुई ।

मूलेनाहयेद् देवीं पूर्वायाञ्च प्रपूजयेत् ।
उत्तरायां बलिदद्यात् श्रवणेन विसर्जयेत् ॥

पूर्वा शब्द पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र परक है एवं उत्तरा शब्द उत्तरा षाढ़ा नक्षत्र परक है । इन दोनों स्थानों पर अण् प्रत्यय का लुप् (अदर्शनं) है । पूर्वनक्षत्र युक्त, काल-अर्थ में है, अतः सप्तमी से स्त्रीलिंग में पूर्वायाम् । इसी प्रकार उत्तरायाम् । शनिग्रह पुष्य नक्षत्र पर है, यहाँ अधिकरण में पुष्य से केवल सप्तमी है—पुष्ये शनिः । यहाँ तृतीयान्त पुष्य से अण् नहीं आया है, और न अण् का लुप् है: अतः यहाँ तृतीया नहीं हुई ।

प्रश्न 95. 'सप्तमीपञ्चभ्यौ कारकमध्ये' इस सूत्र में कारकमध्य इस पदोपादन का अर्थ बतलाते हुए सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिए ।

112. सप्तमीपञ्चभ्यौ कारकमध्ये ॥2/3/7॥

शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः । अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता । कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः । इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा, लक्ष्यं विध्येत् । कर्तृकर्मशस्यार्मध्ये कालः अधिकशब्देन योगे सप्तमी-पञ्चभ्याविष्येते । तदस्मिन्नधिक मिति यस्मादधिक मिति च सूत्र निर्देशात् । लोके लोकाद्वाऽधिको हरिः ।

सूत्र-व्याख्या—दो शक्तियों के मध्य में जो काल वाचक एवं मार्ग वाचक शब्द हैं उनसे पञ्चमी एवं सप्तमी होती है । यथा=अद्य भुक्त्वा अयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता=आज भोजन करके यह दो दिन पर भोजन करेगा । इस स्थान में कर्ता एवं शक्ति के मध्य में काल है । यद्यपि यहाँ भोजन कर्ता (भोक्ता) कारक एक है, कारकों का मध्य कहा गया है, इस पर कहते हैं कि शक्ति का आश्रय रूप जो द्रव्य है, वह कारक वहाँ नहीं किया जायेगा, किन्तु शक्ति ही कारक माना जायगा, सो आज भोजन

करना, फिर दूसरे दिन भोजन करना यह दो शक्ति है ही उनके मध्य कालवाची द्यव्ह शब्द से पञ्चमी एवं सप्तमी हुई है। इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् = यहाँ बैठा हुआ यह एक कोश पर लक्ष्यवेध कर सकता है। यहाँ कर्ता एवं कर्म शक्ति के मध्य में मार्गवाची क्रोश शब्द है, इसमें पञ्चमी एवं सप्तमी हुई।

अधिक शब्द के योग में सप्तमी एवं पंचमी विभक्ति इष्ट है, जैसा कि सूत्र में निर्देश है। यथा—तदस्मिन्नधिकम्। इससे अधिक योग में सप्तमी है। यस्माद् अधिकम् = इससे अधिक शब्द के योग में पञ्चमी हुई। ज्ञापक सिद्ध लोक शब्द से पञ्चमी एवं सप्तमी हुई है। यथा—लोके लोकाद्वा अधिको हरिः।

113. अधिरीश्वरे ॥1/4/97॥

स्वस्वामिभाव सम्बन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीय संज्ञः स्यात्।

सूत्र-व्याख्या—स्वस्वामिभाव सम्बन्ध में अधि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

114. यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनम् ॥2/3/9॥

अत्र कर्मप्रवचनीय युक्ते सप्तमी स्यात्। उप परार्धे हरे गुणाः परार्धादधिक इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वाभिभ्यां पर्य्यायेण सप्तमी। अधिभुवि रामः। अधि रामे भूः। सप्तमी शोण्डैरिति समास पक्षे तु रामाधीना, अषडक्षेत्यादिना खः।

सूत्र-व्याख्या—'उपोधि के च' सूत्र से अधिकार्थ उप की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अधिकार्थक कर्म प्रवचनीय संज्ञा वाले शब्दों के योग में एवं ईश्वर अर्थ में वर्तमान कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी होती है। ईश्वर अर्थ में इतना अवश्य है कि जिसका ईश्वर हो, उससे सप्तमी। अधिकार्थ कर्मप्रवचनीय के योग में, यथा—उपयरार्थे हरे-गुणाः = हरि के गुण परार्द्ध से भी अधिक हैं। यहाँ सप्तमी ऐश्वर्य अर्थ में होने पर, स्वस्वभिभावादि अर्थ होने पर—अधि, भुवि, रामः, अधि रामे भूः यहाँ राम पृथ्वी के ईश्वर हैं। यहाँ ईश्वर अर्थ में अधिका कर्म प्रवचनीय संज्ञा है। इस अर्थ में पृथ्वी वाचक, शब्द से या पृथ्वी से सप्तमी। द्वितीय पक्ष में राम से 'सप्तमी शौण्डेः' से समास एवं खप्रत्यय इन से रामाधीनो।

115. विभाषाः कृञि ॥1/4/98॥

अधिः करोतौ प्राक् संज्ञो वा स्यादी श्वरेऽर्थे। यदत्र माभधिकरिष्यति = विनियोक्ष्यत इत्यर्थः। इह विनियोक्तृरी श्वरत्वं गम्यते। अगतित्वात् तिङि योदात्तवतीति निधातो न।

सूत्र-व्याख्या—कृधातु के योग में ईश्वरार्थक अधि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है। यथा—यदत्र माम् अधिकरिस्यति = इसमें मुझे जो नियुक्त करेगा, वहाँ विनियोग कर्ता पुरुष का स्वाभित्व = ईश्वरत्व, स्पष्ट प्रतीयमान है यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति = संज्ञाः नहीं, अतः 'तिङि' सूत्र से अनुदात्त का यहाँ अभाव हुआ। 'माम्' में कर्म से द्वितीया है।

करीष्यितीति-तिङन्त उदात्तत्व युक्त है। निर्धात का निषेध निपातैर्यद्यदि से है।

कृदन्त-प्रकरणम्

परिचय—धातु से परे कर्ता के अर्थ में जो प्रत्यय होते हैं, उनकी कृत्संज्ञा होती है। विषय-विभाजन की दृष्टि से उन्हें निम्न चार भागों में विभाजित किया गया है—(1) कृत्य प्रक्रिया, (2) पूर्व कृदन्त प्रकरण, (3) उणादि प्रकरण, और (4) उत्तरकृदन्त। इनमें से प्रथम दो पूर्वकृदन्त के और अन्तिम दो उत्तरकृदन्त के अन्तर्गत माने जाते हैं।

कृत्य-प्रक्रिया—कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्ता-अर्थ (कर्तरि कृत्) में होते हैं, यथा- करोतीति कारकः और कर्त्ता (ण्वुल् व तृच् प्रत्ययों से निर्मित)। लेकिन तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय कृत्संज्ञक होते हुए भी 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' से वे भाव और कर्म में ही प्रयुक्त होते हैं। कर्म में लिंग, वचनानुसार विभक्ति होती है तथा भाव में सदैव एक वचन और नपुंसक लिंग होता है। उभय पदों में कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है। (कर्तृकरणयोस्तृतीया)। यथा—

(1) तव्यन्तव्यानीयरः ॥3/1/96॥

तव्यत् का अन्त्य तकार तथा अनीयर् का अन्त्यरेफ हलन्त्यम् से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाते हैं। तव्य और अनीय ही शेष रहता है। तव्यत् और तव्य के रूपों से कोई अन्तर नहीं पड़ता केवल स्वर व्यवस्था में ही अन्तर पड़ता है। कर्ता अनुक्त या अनभिहित होने पर 'कर्तृकरणायोस्तृतीया' सूत्र से कर्ता में तृतीया तथा सकर्मक धातुओं में कर्म उक्त या अभिहित होने पर प्रातिपदिकार्थ से कर्म में द्वितीया न होकर प्रथमा होती है।

1. एधितव्यम् एधनीयं वा त्वया = तुझे बढ़ना चाहिये, तुम बढ़ने में समर्थ हो, तुम्हारा बढ़ने का अवसर है इत्यादि। यहाँ 'एध वृद्धौ' धातु से अनुबन्ध लोपकर भाव में तव्य-तव्यानीरः से तव्यत् प्रत्यय (आर्धधातुक) से आर्धधातुकस्येड् वलादेः से इट् का आगम होकर एध्+इट्+तव्य = एध्+इतव्य = एधितव्य, यह कृदन्त शब्द बनता है। अब 'कृत्तद्धित समासाश्च' सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आदि प्रत्यय, भाव में नपुंसकलिङ्ग के प्रथमैक वचन में सुप्रत्यय, अतोऽम् से उसे अम् आदेश तथा अमि पूर्वः से पूर्वरूप एकादेश करने पर एधितव्यम् रूप बना।

अनीयर प्रत्यय आर्धधातुक तो है पर वलादि नहीं अतः वहाँ इट् का आगम नहीं होता शेष प्रक्रिया तव्यवत् होती है-एध्+अनीयर् = एध्+अनीय = एधनीय = एधनीयं त्वया, युवाभ्याम् इत्यादि। उदाहरण—

धातु	तव्यप्रत्ययरूप	अनीयर्प्रत्ययरूप
1. अट् (घूमना)	अट्+इट्+तव्यत्=अटितव्य,	अट्+अनीयर्=अटनीय
2. अर्च् (पूजा करना)	अर्चितव्य	अर्चनीय
3. अस् (होना)	भवितव्य	भवनीय
4. प्र/आप् (पाना)	प्राप्तव्य	प्रापणीय
5. अधि/इ (ङ्) पढ़ना	अध्येतव्य	अध्ययनीय
6. इष् (चाहना)	एषितव्य, एष्टव्य	एषणीय
7. ऊह् (तर्क करना)	ऊहितव्य	ऊहनीय
8. एध (बढ़ना)	एधितव्य	एधनीय
9. कथ् (कहना)	कथयितव्य	कथनीय
10. कम् (चाहना)	कामयितव्य कमितव्य	कामनीय, कमनीय
11. कृ (करना)	कर्तव्य	करणीय
12. कृप् (कल्पना करना)	कल्पितव्य	कल्पनीय
13. क्री (खरीदना)	क्रेतव्य	क्रयणीय
14. क्षम् (सहन करना)	क्षमितव्य, क्षन्तव्य,	क्षमणीय
15. क्षल् (धोना)	क्षालयितव्य	क्षालनीय
16. क्षि (नष्ट होना)	क्षेतव्य	क्षयणीय
17. क्षिप् (फेंकना)	क्षेप्तव्य	क्षेपणीय
18. गण् (गिनना)	गणयितव्य	गणनीय
19. गद् (बोलना)	गदितव्य	गदनीय
20. गर्ह् (निन्दा करना)	गर्हितव्य	गर्हणीय
21. गुप् (रक्षा करना)	गोपायितव्य गोपितव्य गोप्तव्य	गोपायनीय गोपनीय
22. ग्रस् (निगलना)	ग्रसितव्य	ग्रसनीय
23. ग्लै (दुःखी होना)	ग्लातव्य	ग्लानीय
24. घुष् (घोषणा करना)	घोषयितव्य	घोषणीय
25. चि (चुनना)	चेतव्य	चयनीय
26. छिद् (काटना)	छेत्तव्य	छेदनीय
27. जन् (पैदा होना)	जनितव्य	जननीय
28. जल्प् (बकवास करना)	जल्पितव्य	जल्पनीय
29. जागृ (जागना)	जागरितव्य	जागरणीय
30. जि (जीतना)	जेतव्य	जयनीय

31. ज्ञा (जानना)	ज्ञातव्य	ज्ञानीय
32. दह् (जलाना)	दग्धव्य	दहनीय
33. दुह् (दोहना)	दोग्धव्य	दोहनीय
34. आ (ट) (आदर करना)	आदर्तव्य	आदरणीय
35. धा (धारण करना)	धातव्य	धानीय
36. ध्यै (धयान करना)	ध्यातव्य	ध्यानीय
37. नम् (झुकना)	नन्तव्य	नमनाय
38. पच् (पकाना)	पक्तव्य	पचनीय
39. पा (पीना)	पातव्य	पानीय
40. पिष् (पीसना)	पेष्टव्य	पेषणीय
41. भुज् (खाना, पालना)	भोक्तव्य	भोजनाय
42. यज् (यज्ञ करना)	यष्टव्य	यजनीय
43. ब्रू (बोलना)	वक्तव्य	वचनीय

2. अचो यत् ।।3/1/97।।

अजन्त धातु से यत् प्रत्यय होता है। जैसे—1. चेयम्=चुनने योग्य। 'चिञ् चयने' धातु के ञकार का लोप, इकार के स्थान पर एकार गुण, नपुंसक में सु के स्थान पर अमादेश और पूर्वरूप=चि+यत्+सु (अम्) = चेयम्।

2. नी+यत् = नेयम् (ले जाने योग्य)।
3. जि+यत् = जेयम् (जीतने योग्य)।
4. क्षि+यत्=क्षेयम् (क्षीण होने योग्य)।
5. श्रु+यत्=श्रो+य=श्रव्यम्। (वान्तो यि प्रत्यये) सुनने योग्य
6. प्र+हि+यत् = प्रहेयम् (भेजने योग्य)।
7. क्री+यत्=क्रेयम् (खरीदने योग्य)।
8. पू+यत्=पव्यम् (पवित्र करने योग्य)।
9. लू+यत्=लव्यम् (काटने योग्य)।
10. अधि+इ+यत्=अध्येयम् (पढ़ने योग्य)।
11. आ+श्रि+यत्=आश्रेयम् (आश्रय करने योग्य)।

3. ईद् यति ।।6/4/65।।

आकारान्त अङ्ग के स्थान पर (ईत्) ईकार आदेश हो जाता है (यति) यत् प्रत्यय परे होने पर। 'दा+य' यहाँ आकारान्त अङ्ग है—दा। अत: इससे परे यत् प्रत्यय विद्यमान होने पर 'ईद्यति' सूत्र से दा के आकार को ईकार आदेश होकर 'दी+य' हुआ। अब 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से ईकार को एकार गुण करने पर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से देयम् (देने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है। यथा—

(1) पा पाने—पा +यत्=पी+य=पेयम् (पीने योग्य)।

(2) ज्ञा अवलोकने—ज्ञा+यत् = ज्ञी+य = ज्ञेयम् (जानने योग्य)।

(3) ष्ठा गतिनिवृत्तौ—स्था+यत्=स्थी+य=स्थेयम् (ठहरना चाहिये)।

(4) गै शब्दे—गा+यत्=गी+य=गेयम् (गाने योग्य)।

(5) ध्यै चिन्तायाम्—ध्या+यत्=ध्यी+य=ध्येयम् (ध्यान करने योग्य)।

(6) ग्लै हर्षक्षये—ग्ला+यत्=ग्ली+य=ग्लेयम् (ग्लान होना चाहिये)

(7) ष्णा शोचे—स्ना+यत्=स्नी+य=स्नेयम् (स्नान करना चाहिये)।

(8) डुधाञ्—धा+यत्=धी+य=धेयम्, निधेयम् (रखने योग्य)।

(9) ओहाक् त्यागे—हा+य=ही+य=हेयम् (छोड़ने योग्य)।

(10) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि-ख्या+यत्=ख्यी+य=ख्येयम्, आख्येयम् चक्षिङ्:स्थाने ख्याञादेशः (कहने योग्य)।

(11) लभ्+यत्=लभ्यम् (प्राप्त करने योग्य) "पोरदुपधात्" सूत्र से जिसके अन्त में पवर्ग और उपधा में अत् हो उस धातु (लभ्) से (यहाँ) यत् प्रत्यय हुआ है।

4. एति-स्तु-शास्-वृ-दृ-जुषः क्यप् ॥3/1/109॥

इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ, और जुष् धातुओं से क्यप् प्रत्यय होता है। क्यप् में ककार लशक्वतद्धिते से तथा पकार हलन्त्यम् से इत्संज्ञक होने पर 'य' मात्र शेष रहता है। ककार अनुबन्ध गुण वृद्धि का निषेध करता है तथा पकार से ह्रस्व तकार (तुक्) का अगाम होता है यथा—

(1) एति—इण् गतौ (जाना)=इ+त् (तुक्)+य=इत्यः।

(2) स्तु—ष्टुञ् स्तुतौ (स्तुति करना) स्तु+त्+य=स्तुत्यः।

(3) शास्—शासु अनुशिष्टौ (शिक्षा देना, शासन करना, देणु देना) शास्+य='शास इदङ्हलोः' सूत्र से शास् की उपधा को इकार तथा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' सूत्र से पित् कृत परे होने पर ह्रस्व का अवयव तुक् हो जाता है, अतः शिस् (शास्)+य=शिष्यः। 'शासिवसिघसीनां च' से सकार का षकार।

(4) वृ—वृञ् वरणे (चुनना) वृ+त्+य=वृत्यः (चुनने योग्य)।

(5) दृ—दृङ् आदरे, प्रायेणाङ्पूर्वः (आदर व सत्कार करना) आङ्+दृङ्+त्+य=आदृत्यः। आदर करने योग्य।

(6) जुष्—जुषी प्रीति सेवनयोः (प्रसन्न होना, सेवन करना) जुष्+य=जुष्यः (सेवन करने योग्य)।

5. मृजेर्विभाषा ॥3/1/113॥

मृज् धातु से क्यप् विकल्प से होता है।

मृज्यः—शुद्ध करने योग्य। मृजू शुद्धौ (शुद्ध करना, साफ करन) मृज्+य। मृजेर्वृद्धिः से प्राप्त वृद्धि का 'क्क्ङिति' च से निषेध होकर=मृज्यः।

6. ऋहलोर्ण्यत् ॥3/1/124॥

ऋवर्णान्त धातु से एवं हलन्त धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है। यथा—

(1) कार्यम्—'डुकृञ् करणे' धातु से अनुबन्धलोप होकर कृ+य, अचो ञ्णिति से वृद्धि तथा उरण्रपर: से आर् आदेश होकर कार्+य=कार्य, विभक्ति कार्य करने पर नपुंसक एक वचन में कार्यम् (करने योग्य)।

(2) हृञ् हरणे से हृ+य=हार्यम् (हरने योग्य)।

(3) धार्यम्—धृञ् धारणे—धृ+य=धार्यम् (धारण करने योग्य)।

(4) मार्ग्य—मृज्+ण्यत्=मृज्+य। 'चजो: कु घिण्ण्यतो:' से घित् याण्यत् परे होने पर चकार और जकार को कवर्ग आदेश होने पर मृग्+य (ण्यत्)=अब 'मृजेर्वृद्धि:' सूत्र से सार्व धातुक या आर्ध धातुक परे होने पर मृज् के इक् (ऋ) के स्थान पर वृद्धि (आर्) होकर मार्ग्+य=मार्ग्य:।

(5) भोज्यम्—'भोज्यं भक्ष्ये' सूत्र से खाने के अर्थ में 'भोज्य' शब्द होता है—भुज्+य (कुत्व का अभाव होने पर) भोज्यम् (खाने योग्य)।

(6) भोग्यम्—'भुजपालनाभ्यवहारयो:' से भोगने या पालने अर्थ में भुज्+ण्यत्, कुत्व होकर, वृद्धि होकर, भोग्यम् बना।

अथ पूर्व कृदन्तम्

7. ण्वुल्तृचौ ॥3/1/133॥

धातु से ण्वुल् और प्रत्यय (कर्तरिकृत्) कर्ता अर्थ में होते हैं। ण्वुल् का आद्य णकार चुटू से तथा अन्त्य लकार हलन्त्यम् से इत्संज्ञक होमर लुप्त हो जाता है तथा वु मात्र रहता है। णित् होने से धातु के अन्त्य अच् तथा अत् को वृद्धि हो जाती है। तृच् में चकार इत्संज्ञक हो तो तृ शेष रहता है। फिर 'युवो रनाकौ' से यु वु का अन-अक होकर कृ+ण्वुल् (वु—अक)=कारक:।

(1) याचक:—याच्+अक=याचक:। (माँगने वाला)।

(2) दाहक:—दहतीति दह्+अक=दह्+अक=दाहक:, उपधा वृद्धि। जलाने वाला।

(3) पावक: (पवित्र करने वाला) पूञ्+अक=पावक:।

(4) नृत्—नृत्यतीति नर्तक: (नाचने वाला)।

(5) सिच्—सिञ्चतीति सेचक: (सींचने वाला)।

(6) चिन्त्—चिन्तयतीति चिन्तक: (चिन्ता करने वाला)। णिजन्त धातुओं से ण्वुल् प्रत्यय करने पर णेरनिटि से 'णि' का लोप हो जाता है।

(7) स्थापि—स्थापयतीनि स्थापक: (स्थापित करने वाला)।

(8) मोदि—मोदयतीति मोदक: (प्रसन्न करने वाला)।

(9) गण्—गणयतीति गणक: (गिनने वाला)।

(10) अध्यापि—अध्यापयतीति अध्यापक: (पढ़ाने वाला)।

इसी प्रकार तृच् प्रत्यय करने पर गुण होकर—

(11) हृञ् + हर्तृ—हर्ता (हरने वाला)।
(12) भुज्—भोक्तृ—भोक्ता (खाने वाला)।
(13) श्रु—श्रोतृ-श्रोता (सुनने वाला)।
(14) अधि + इङ्—अध्येतृ—अध्येता (अध्ययन करने वाला)।
(15) सृज्—स्रष्टृ—स्रष्टा (पैदा करने वाला)।

8. नन्दि-ग्रहि—पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ॥3/1/134॥

नन्द्यादि से ल्यु, ग्रह्यादि से णिनि तथा पचादि से अच् प्रत्यय होता है। यथा—

(1) नन्दयतीति नन्दनः। नन्दि + ल्यु। णेरनिटि से णि का लोप होकर युवोरनाकौ से यु को अन आदेश होकर नन्द् + अन = नन्दन- प्रथमा एक वचन में 'सु' विभक्ति लाने पर नन्दनः (प्रसन्न करने वाला पुत्र)।

(2) जनमर्दयतीति जनार्दनः (भगवान् विष्णु)।

(3) तपतीतितपनः (तपः + ल्यु, तपने वाला, सूर्य)।

(4) लुनातीति लवणः (काटने वाला) लूञ् + ल्यु।

(5) रमत इति रमयतीति व रमणः (रम् + ल्यु, रम् + णिच् + ल्यु) आनन्द करने वाला।

(6) गृह्णातीति ग्राही (ग्रहण करने वाला)। ग्रह् + णिनि।

(7) तिष्ठतीति स्थायी (ठहरने वाला)। ष्ठा गतिनिवृत्तौ धातु से 'आतो युक् चिण्कृतोः' से युक् आगम—स्थायिन्, विभक्ति कार्य-स्थायी।

(8) मन्त्रयत इति मन्त्री (मन्त्रणा करने वाला) 'मंत्रि गुप्त भाषणे' णिजन्त से इदित्वात् नुम् आगम—मन्त्रि + णिनि, अनुबन्ध लोप तथा णेरनिटि से णि का लोप—मन्त्रिन्—विभक्ति कार्य होकर मन्त्री।

(9) निवसतीति निवासी (रहने वाला)। नि + वस् + णिनि—निवासिन् सु में निवासी।

(10) उत्सहत इत्युत्साही (उत्साह करने वाला)। उत् + षह मर्षणे + णिनि (उपधा वृद्धि) = उत्साहिन्—उत्साही।

(11) अपराध्यतीति अपराधी (अपराध करने वाला) अप + राध् + णिनि—अपराधिन्—अपराधी।

पच् आदि धातुओं से अच् प्रत्यय होता है। अच् में चकार इत्संज्ञक होकर अ शेष रहता है। यथा—

(12) पचतीति पचः (पकाने वाला)। पच् + अ = पच। प्रथमा एक वचन में 'सु' लाने पर—पचः।

(13) वक्तीति वचः। वच् + अ = वचः (बोलने वाला)।

(14) वदतीति वदः। वद् + अ = वदः (बोलने वाला)।

(15) वसतीति वसः। वस् + अ = वसः (रहने वाला)।

(16) चरतीति चरः (घूमने वाला) । चर्+अच् = चरः ।

(17) दीव्यतीति देवः (चमकने वाला) दिव्+अच्, + लघूपधगुणदेवः ।

(18) चोर यतीति चोरः । (चुराने वाला) । चुर्+णिच्+अच् = चोरः

9. इगुपध ज्ञा-प्री-किरः कः ॥3/1/135॥

उपधा में इक् प्रत्याहार वाली धातु से तथा ज्ञा, प्री और कृ धातुओं से 'क' प्रत्यय होता है । कर्ता अर्थ में ।

(1) बोधति बुध्यत इति वा बुधः (जानने वाला) बुध्+अ=बुधः ।

(2) कृश्यतीति कृशः (दुबला-पतला) ।

(3) लिख् से लिखः (लिखने वाला) । क्षिप् से क्षिपः (फेंकने वाला) ।

(4) जानातीति ज्ञः (जानने वाला) ज्ञा + क = ज्ञ–ज्ञः ।

(5) प्रीणातीति प्रियः (प्रसन्न करने वाला) । किस्वाद् गुण निषेध, अचि श्नुधातु० से ईकार को इयङ् होकर प्रियः ।

(6) किरति–विक्षिपतीति किरः (बिखेरने वाला, सुअर) । कृ+अ (क) कित्त्व से गुण निषेध, ऋकार को इर् आदेश से किरः ।

10. आतश्चोपसर्गे ॥3/1/136॥

उपसर्ग के उपपद रहते आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है । यथा––

(1) प्रजानातीति प्रज्ञः (अधिक जानने वाला) । प्र+ज्ञा+अ प्रज्ञ, सु में प्रज्ञः ।

(2) प्रतिष्ठत इति प्रस्थः । (प्रस्थान करने वाला) । प्र + स्था + क=प्रस्थः ।

11. गेहे कः ॥3/1/144॥

कर्ता अर्थ में ग्रह् धातु से 'क' प्रत्यय होता है । ग्रह्+अ, कित्त्व से ग्रहिज्या० सूत्र से रेफ को सम्प्रसारण ऋकार तथा सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप एकादेश होकर गृह्+अ= गृह, नपुंसक एक वचन में गृहम् । गृहणाति धान्यादिक मिति गृहम् (जो धान्यादि को ग्रहण करता है, घर) ।

12. कर्मण्यण् ॥3/2/1॥

कर्म के उपपद होने पर धातु से परे अण् प्रत्यय होता है ।

(1) कुम्भं करोतीति कुम्भकारः (घड़ा बनाने वाला–कुम्हार) कुम्भ (उपपद) + कृ + अण् अनुबन्ध लोप, अचो ञ्णिति से आर् वृद्धि करने पर कार, कर्तृकर्मणोः कृति से कुम्भ कर्म में षष्ठी विभक्ति से कुम्भ+ङस्+कार, सुपो धातु प्रतिपदिकयोः से (ङस्) का लोप, प्रथमैक–वचन में कुम्भकारः । इसी प्रकार—

(2) भाष्यं करोतीति भाष्यकारः (भाष्य करने वाला) ।

(3) वेदम् अधीत इति वेदाध्यायः (वेद+अधि—इङ्+अण् वेद पढ़ने वाला) ।

(4) सूत्रं धारयतीति सूत्रधारः ।

(5) बारि वह तीति वारिवाहः (मेघः)

(6) अश्वम् आरोहतीति अश्वारोहः ।

(7) कर्णं धारयतीति कर्णधारः ।

13. आतोऽनुपसर्गे कः ।।3/2/3।।

कर्म के उपपद रहते उपसर्गरहित आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है जो अण् का अपवाद है । यथा––

(1) नॄन् पातीति नृपः, (नृ + पा + क) = राजा ।

(2) मधु पिवतीति मधुपः ।

(3) जलं ददातीति जलदः ।

(4) नारं (नरसमूहम्) द्यति (कलहेन अवखण्डयति) इति नारदः ।

मूल विभुजादिभ्यः कः ।। जैसे––

(5) महीं धरतीति महीध्रः ।

(6) शत्रुं हन्तीति शत्रुघ्नः ।

(7) शिरसि रोहन्तीति शिरोरुहाः ।

14. चरेष्टः ।।3/2/16।।

अधिकरण के उपपद रहते चर् धातु से 'ट' प्रत्यय होता है—

(1) कुरुषु चरतीति कुरुचरः । 'कुरु' अधिकरण उपपद रहते चर् धातु से कर्त्ता कारक में 'ट' प्रत्यय होकर, टकम् अनुबन्धका लोप कुरु सुप्+चर् अ । कृदन्त चर्+अ='चर' से विभक्ति लाने से पूर्व उपपदमतिङ् से उपपद समास होकर अवान्तर सुप् का लुक् होकर कुरुचर । सुविभक्ति में कुरुचरः ।

(2) निशायां चरतीति निशाचरः (राक्षस)

(3) वने चरतीति वनेचरः ।

(4) खे (आकाशे) चरतीति विचरः (पक्षी) ।

15. भिक्षा-सेनाऽऽदायेषु च ।।3/2/

भिक्षा, सेना और आदाय (लेकर)—इन सुबन्तों के उपपद होने पर चर धातु से 'ट' प्रत्यय होता है ।

(1) भिक्षां चरतीति भिक्षाचरः, (भिक्षार्थ घूमने वाला) । भिक्षाङस्+चर । उपपदमतिङ् से ङस् का लोप भिक्षाचर+सु = भिक्षाचरः ।

(2) सेनां चरति प्रविशतीति वा सेनाचरः ।

(3) आदाय चरतीति आदायचरः । (लेकर घूमता है) ।

15. कृञो हेतु ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु ।।3/2/20।।

हेतु (कारण), ताच्छील्य (तत्स्वभावता), आनुलोम्य (अनुकूलता) इन तीन अर्थों के द्योत्य होने पर कृ धातु से 'ट' प्रत्यय होता है ।

(1) शोककरी कन्या-शोकं करोतीति शोककरी। (शोक+ङस्+कर ङीप्)। (हेतु में)।

(2) **ताच्छील्य में**—श्राद्धकरः—श्राद्धं करोति—तच्छील इति। तापकरः। दयाकरः दुःखकरः।

(3) **आनुलोम्य**—आज्ञां करोतीति आज्ञाकरः। आज्ञा+ङस्+कृ+ट।

16. अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीष्वनव्ययस्य ॥8/3/46॥

ह्रस्व अकार से परे अनव्यय के विसर्ग को समास में नित्य सकार आदेश हो जाता है, यदि कृ, कम्, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी इनमें से कोई परे हो तो। यथा—यशस्करः।

'यशः+कर' यहाँ विसर्ग यशस् शब्द का अवयव है जो स्पष्टतः अव्यय नहीं है। विसर्ग अत् से परे है। विसर्ग से परे 'कृ' धातु है तथा उपपदमतिङ् से उपपदसमास है। अतः विसर्ग का प्रकृत सूत्र से नित्य सकार होकर यशस्+कृ+ट= **यशस्करः** बना।

17. एजेः खश् ॥3/2/28॥

कर्म उपपद होने पर ण्यन्त एज् धातु से खश् प्रत्यय होता है। यथा—

(1) जनमेजयतीति जनमेजयः (लोगों को कँपा देने वाला, परीक्षित-पुत्र)। जनकर्मोपयद ण्यन्त एजृ कम्पने धातु से खश् प्रत्यय कतृ में होने पर खश् में खकार-शकार का लोप, शित् होने से प्रत्यय सार्वधातुक संज्ञा, कर्त्तरिशप् द्वारा एजि से परे शप् प्रत्यय, अनुबन्ध लोप और कृद्योग में षष्ठी लाने पर जन+ङस्+एजि अ अ। धातु के इकार को गुण, एकार को अय् आदेश जन ङस्+ एजय। समास करने पर सुप्-लोप-जन+एजय।

18. 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' ॥6/3/66॥

अरुस् (मर्म स्थान), द्विषत् (शत्रु) तथा अजन्त शब्दों को मुम् (खिदन्त उत्तर पद हो तो) अगम्। अतः जन+मुम्+एजय=जनमेजय+सु=जबमेजयः। इसी प्रकार अ न्तुदः द्विषन्तपः।

19. प्रियवशे वदः खच् ॥3/2/38॥

प्रिय या वश कर्म उपपद होने पर वद् धातु से खच् प्रत्यय होता है। यथा—

(1) प्रियं वदतीति प्रियंवदः—प्रिय ङस्+वद्+अ=ङस् लोप् तथा मुम् आगम्=प्रिय+मुम्+वद्+अ+सु=प्रियं—वदः (मधुरभाषी)।

(2) वशंवदतीति वशंवदः (अधीनता को कहने वाला)।

वशङस्+मुम्+वद्+अ+सु=विभक्ति लोप—वशंवदः।

20. नेड् वशि कृति ॥7/2/8॥

वश् प्रत्याहार जिसके आदि में हो ऐसे कृत्संज्ञक प्रत्यय की इट् आगम नहीं होता। यथा—

(1) ईश्व+र=ईश्वरः।

(2) याच्+नङ्=याच्+ना=याच्ञा।

(3) सुशृ+मन्=सुशर्मन्। सुशर्मा।

21. सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ॥3/2/78॥

जात्यर्थ से भिन्न सुबन्त के उपपद होने पर धातु से परे णिनि प्रत्यय हो जाता है, कर्ता का शील या स्वभाव द्योतित होने पर। यथा—

(1) उष्णं भोक्तुं शीलमस्येति उष्णं भुङ्क्ते तच्छील इति वा उष्णभोजी। गरमागरम खाने के स्वभाव वाला।

22. मनः ॥3/2/82॥

सुबन्त के उपपद होने पर मन् धातु से णिनि प्रत्यय होता है। यथा—

(1) श्रीकृष्णस्य विष्णुमानिनो वैष्णवा:। वैष्णव श्रीकृष्ण को विष्णु मानते हैं।

23. आत्ममाने खश्च ॥3/2/83॥

यदि मन् धातु का कर्ता उसका कर्म भी हो तो सुबन्त के उपपद रहते मन् धातु से परे खश् प्रत्यय भी और णिनि भी होता है। यथा—

(1) आत्मानं पण्डितं मन्यत इति पण्डितम्मन्य:, पण्डितमानी

24. दृशेः क्वनिप् ॥3/2/94॥

कर्म के उपपद होने पर भूतकालिक क्रिया में वर्तमान दृश् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होता है। यथा—

(1) पारं दृष्टवान् = पार ङस् + दृश् + क्वनिप् (वन्) पारदृश्वन्–पारदृश्वा। (जो पार देख चुका)।

(2) परलोकदृश्वन्—परलोक दृश्वा (जो परलोक देख चुका।)

(3) 'सहे च' सूत्र से सह + युध् + क्वनिप् = सहयुध्वन् सहयुध्वा।

25. सप्तम्यां जनेर्डः ॥3/2/97॥

सप्तम्यान्त के उपपद होने पर भूतकाल के अर्थ में जन् धातु से 'ड' 'प्रत्यय होता है। यथा—

(1) सरस ङि + जन् + ड = सरसिज—सरसिजम्।

(2) "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" से तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद होने पर विभक्ति (सप्तमी) का अलुक् होता है। बहुल से लोप होने पर सरस + ङि + जन + ड = सरोजम् और लोप नहीं होने पर सरसिजम्।

26. क्त-क्तवतू निष्ठा ॥1/1/25॥

क्त और क्तवतु निष्ठा (भूतकालिक) प्रत्यय हैं। क्तप्रत्यय धातु से कर्मवाच्य में और क्तवतु प्रत्यय धातु से कर्तृ वाच्च में होता है। क्त और क्तवतु प्रत्ययों का आदि ककार 'लशक्वतद्धिते' से तथा क्तवतु का अन्त्य उकार (अनुनासिक) 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञक होकर क्तकात तथा क्तवतु का तवत् शेष रहता है।

(1) पूज् + क्त = पूजित:, पूजिता, पूजितम्। उसके द्वारा (पूजन किया हुआ)

(2) पूज + क्तवतु = पूजितवान्, पूजितवती, पूजितवत्। (उसने पूजन किया)

27. रदाभ्यां निष्ठा तो न पूर्वस्य च दः ।।8/2/42।।

रेफ या दकार से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश तथा निष्ठा से पूर्व धातु के दकार को भी नकार आदेश होता है। यथा—

(1) शीर्णः—(हिंसा किया गया, नष्ट किया गया)। शॄ + त = ॠकार को इकार, रेफांन्त उपधा को दीर्घ—शीर् + त, निष्ठा के त कार को नकार रषाभ्यां नोणः से नकार को णकार = शीर्णः।

(2) नि + गॄ + त = निर्गाणंः। (निगला हुआ)

(3) भिद् + त = भिन्नः।

(4) छिद् + त = छिन्नः।

(5) खिद् + त = खिन्नः।

28. संयोगादेरा तो धातोर्यण्वतः ।।8/2/43।।

संयोग जिसके आदि में हो ऐसी आकारान्त यण्वान् धातु से परे निष्ठा के तकार को नका हो जाता है। यथा—

(1) द्राणः (कृच्छापन्न) द्राकुत्सायां गतौ से द्रा + त = द्राण, द्रा + तवत् = द्राणवान्।

(2) ग्लानः (खिन्न)—ग्लै + त = ग्लानः।

(3) लूनः—काटा हुआ। लू + त = लूनः। ल्वादिभ्यः सूत्र से तकार का नकार।

(4) ओदितश्च ।8/2/45।। सूत्र से ओकार इत् संज्ञक धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो जाता है—रुज् + त = रुग्णः।

(5) उद् + विज् + त = उद्विग्नः।

(6) शुषः कः ।।8/2/51।। शुष् धातु से परे निष्ठा के तकार को ककार आदेश—शुष् + त = शुष्कः (सूखा हुआ)।

(7) 'पचोवः।' सूत्र से पच् धातु से परे निष्ठा के तकार के स्थान पर वकार—पच् + त = पक्वः (पका हुआ)

(8) छायोभः। क्षै (क्षीण होना) धातु से परे निष्ठा के तकार के स्थान पर मकार—क्षा + त = क्षामः।

29. दधातेर्हिः ।।7/4/42।।

तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तो 'धा' धातु से स्थान पर 'हि' आदेश हो जाता है—धा + त = हितः, धा + तवत् हितवान्। वि + धा (हि) + त = विहितम्, विहितवान्।

30. लटः शतृशानचावप्रथमा समानाधिकरणे ।।3/2/124।।

अप्रथामान्त अर्थात् द्वितीयान्त आदि पदों के साथ यदि लट् का अधिकरण (वाच्य) समान (अभिन्न) हो अर्थात् द्वितीयान्त आदि पद जिस अधिकरण या वाच्य

(कर्ता या कर्म) को कहता है और लट् भी उसी को कहे तो उस स्थान पर शतृ और शानच् आदेश हो जाते हैं। आदि से तृतीया आदि विभक्तियाँ समझनी चाहिये। यथा—पचन्तं देवदत्तं पश्यपकाते हुये देवदत्त को देखो। पचता चैत्रेण दृष्टम्।

शतृ का अन्त्य ऋकार 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से तथा आदि शकार 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है तथा 'अत्' मात्र शेष रहता है। यह परस्मैपदो धातुओं से होता है। शानच् में आदि शकार 'लशक्वतद्धिते' द्वारा तथा अन्त्य चकार हलन्त्यम् से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है तथा 'आन' मात्र शेष रहता है, दोनों शित् होने से सार्वधातुक संज्ञक हैं अतः धातु से कर्तृवाच्य में कर्तरिशप् श्यन् आदि तथा कर्मवाच्य में यक।

1. **पचमानं चैत्रं पश्य**—पच+आन—'आनेमुक्' से पच+मुम्+आन+अम् (द्वितीया) = पचमानम्।

2. **विद्वान्**—विद्+शतृ = विद्+अत् 'विद्वे: शतुर्वसु:' से शतृ के स्थान पर वसु आदेश होने पर = विद्+वसु = विद्वस्—विद्वान्—प्रथमा एकवचन।

3. एधमानः = एध्+शप्+शानच्—एध्+अ+एन = एध+आन = एधमान। आनेमुक।

4. देदीप्यमान = दीप्+यङ् = देदीप्य+मुक्+शानच्।

5. जिगमिषत् = गम्+सन्+जिगमिष+शतृ = जिगमिषत्।

31. तृन् ॥3/2/135॥

तच्छील, तद्धर्मा तथा तत्साधुकारी कर्ता अर्थ में धातु से परे तृन् प्रत्यय होता है। तृजन्त के योग में कर्म में षष्ठी तथा तृन्नन्त के योग में कर्म में द्वितीया होती है। यथा—

(1) कर्ता कलहम् = जो स्वभावतः झगड़ा करता है। कृ+तृन्।

(2) उपदेष्टा जनान् = जो स्वभावतः लोगों को उपदेश देता है।

(3) राघवाः पञ्च चूड़ाः कर्तारो भवन्ति = रघुकुल के राजकुमार पाँच चोटियाँ रखते हैं यह उनके कुल का अम्वार है।

(4) पक्त्री भोजनम्—भोजन को भली भाँति पकाने वाली।

पच्+तृन्+ङीप् (ऋन्नेभ्योङीप) से स्त्रीलिंग में।

32. जल्प—भिक्ष—कुट्ट—लुण्ट—वृङः षाकन् ॥3/2/155॥

जल्प्, भिक्ष्, कुट्ट, लुण्ट् और वृङ् इन धातुओं से तच्छीलादिन षाकन् प्रत्यय होता है। षकम् की इत्संज्ञा 'षः प्रत्ययस्य' से तथा लोप, आक शेष रहता है। यथा—

(1) वराकः = चुराने के स्वभाव वाला। वृङ्+आक (षाकन्) बराकः।

(2) वराकी—चुराने के स्वभाव वाली स्त्री। वृङ्+आक+ङीप् (षिद्गौरादिभ्यश्च से) = वराकी। भिक्षाकः (भिक्षा+षाक्)।

33. सनाशंसभिक्ष उः ॥3/2/168॥

सन्नन्त, आशंस् तथा भिक्ष् धातु से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में 'उ' प्रत्यय होता है। यथा—

(1) चिकीर्षुः—स्वभावतः करने की इच्छा वाला। चिकीर्ष+उ। इसी प्रकार—मुमुक्षुः, जिज्ञासुः, पिपासुः।

(2) आशंसुः—आङ्+शस्+उ।

(3) भिक्षुः—याचन शील। भिक्ष्+उ=भिक्षुः।

(4) भाः—चमकने के स्वभाव वाला भास्+क्विप् (सर्वापरात्) लोप होने से=भाः।

(5) श्रीः=श्रयाति हरिम्—श्रीः (हरि का आश्रय करना जिसका स्वभाव है=लक्ष्मी)। मिश्र् सेवायाम्—श्रि+क्विप्+सु=दीर्घ, प्रत्यय का सर्वापहारत्योप।

34. दाम्-नी—शस—यु—युज-स्तु-तुद-सि-सिच—मिह—पत—दश—नहः करणे ॥3/2/182॥

दाप् आदि तेरह धातुओं से परे करण अर्थ में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय होता है। यथा

(1) दात्रम्=दाति अनेन इति। दाप्+ष्ट्रन=दा+ट्र टकार को तकार करने पर=दा+त्र=दात्रम्।

(2) नेत्रम्=नीयतेऽनेनेति। णीञ्+ष्ट्रन=णकार को नकार=नी+ट्र= गुण करने पर=नेत्रम्।

(3) शस्त्रम्=जिससे हिंसा करते हैं—हथियार। शस्+त्र=शस्त्रम्।

(4) स्तोत्रम्=स्तु+ष्ट्रन्=स्तो+त्र=स्तोत्रम्। एकाच उपदेशे से इट् का निषेध। जिससे स्तुति की जाये।

(5) दंष्ट्रा=जिससे काटा जाय। दंप्+ष्ट्रन्+टाप्=(स्त्री०) दंष्ट्रा।

35. अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः ॥3/2/184॥

इन सात धातुओं से करण में इत्र प्रत्यय होता है। यथा—

(1) चरित्रम्—चरत्यनेनेति। जिसके द्वारा मनुष्य गमन या विचरण करता है—चर्+इत्र्=चरित्रम्।

(2) पवित्रम्—'पुवः संज्ञायाम्' सूत्र से पू+इत्र=(करण अर्थ में) पवित्रम्। पवते पुनाति वाऽनेनेति पवित्रम्।

अथोणादयः

36. कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूभ्य उण् ॥1/1॥

कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद् साध् और अशू—इन धातुओं से उण् प्रत्यय होता है। यथा—

(1) कारुः—करोतीति कारुः। डुकृञ् में डु और ञ् अनुबन्धों का लोप करने पर कृ+उण्। हलन्त्यम् से णकार का लोप—कृ+उ। अचो ञ्णिति से

अजन्त अङ्ग को वृद्धि और रपर करने पर कार् + उ = कारु। प्रातिपदिक संज्ञा में स्वादि करने पर = कारु + सु = कारुः = (शिल्पी)।

(2) वायुः = वातीति वायुः। वा + उ + सु।

(3) पायुः = यांति मलादिनिष्कासनेन शरीरं रक्षतीति पायुः गुदस्थान। पा + उ + सु।

(5) स्वादुः = स्वदते रोचत इति स्वादुः। स्वद् + उ + सु अत उपधायाः से उपधावृद्धि करने पर। साद्धी (वोतो)।

(5) साधुः = साघ्नोति पर कार्यमिति साधुः। साध् + उ + सु।

(6) आशु = अश्नुते = व्याप्नोतीति आशु। अश् + उ + सु अत उपधायाः से उपधावृद्धि होकर नपुंसक एकवचन में सु का लोप करने पर आशु (शीघ्र) तथा पुंल्लिग में सु लोप न होने पर आशुः।

॥ अथोत्तरकृदन्तम् ॥

37. तुमुण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ॥3/3/10॥

क्रियार्था क्रिया के उपपद अर्थात् समीप उच्चरित होने पर भविष्यत्काल में धातु से परे तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय होते हैं। मान्तत्वाद् से तुमुन् की अव्यय संज्ञा होती है।

तुमुन् में नकार इत्संज्ञक तथा उकम् उच्चारणार्थ है अतः तुम् शेष रहता है। ण्वुल् में चुटू से णकार तथा हलन्त्यम् से लकार की इत्संज्ञा से लोप होकर वु शेष रहता है तथा वु को अक हो जाता है। तुमुन् भाव में तथा ण्वुल् कर्ता अर्थ में होते हैं। यथा—

(1) दर्शकः = दृश् + अक + सु = दर्शकः।

(2) पा + तुमुन् = पातुम्।

(3) दोग्धुम् = दुह् + तुमुन्। दादेर्धातोर्घः से हकार को घकार झषस्तयोर्धोऽधः से तुमुन् के तकार को धकार, झलां जश् झशि से धकार को गकार करने पर।

(4) वक्तुम् = ब्रुवो वचिः से ब्रू का वच् आदेश होने पर ब्रू (वच्) + तुमुन्। कहने के लिये।

38. भावे ॥3/3/18॥

धात्वर्थ के सिद्धावस्था को प्राप्त होने पर उसके वाच्य (भाव के) होने पर धातु से परे घञ् प्रत्यय होता है।

घञ् प्रत्यय के घकार की लशक्वतद्धिते से तथा ञकार की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा होकर अकार शेष रहता है। अकम् अनुबन्ध वृद्धि होती है। यथा—

(1) पाकः (पकाना) = पच् + घञ्, चजोःकुघिण्ण्यतो से चकार को ककार = पाकः।

(2) त्यज् + घञ् = त्यागः। भज् = भागः।

(3) रागः = जिससे रंगा जाय । अकरि च कारके संज्ञायाम् से रञ्ज् + अ = घञि च भावकरणयोः सूत्र से रञ्ज् के नकार को भाव या करण में लोप होकर = रागः ।

(4) आहारः = आं + हृञ् + घञ् । भोजन ।

(5) निकायः । कायः । "निवास-चिति—शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः" सूत्र से चार अर्थों में घञ् प्रत्यय परे रहते चिञ् धातु के चकार को ककार हो जाता है—नि + कि (चि) + घञ् = निकायः (रहने का स्थान = घर आदि) ।

कि (चि) + घञ् = कायः (शरीर) आ + कि (चि) + घञ् = आकायम् = स्थान विशेष । गोमयनिकायः = एकत्र करना । गोमयानां नि + कि + घञ् ।

39. एरच् ।।3/3/56।।

इवर्णान्त धातु से परे अच् प्रत्यय भाव में अथवा कर्तृभिन्न कारक में संज्ञा का विषय होने पर । यथा—

(1) चयः = चुनना । चि + अच् = इकार को एकम् गुण तथा एचो० से अत्र् आदेश होकर चयः । इसी प्रकार = जि—जयः । शृ—शरः । तृ + तरः । भू—भवः ।

40. घञर्थे कविधानम् ।।

घञ् के अर्थ में क प्रत्यय का विधान करना चाहिये । यथा—

(1) प्रस्थः = प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् धान्यानि । प्र + स्था + अ ।

(2) विघनः = विहन् + अ । जिसमें कर्ता रुक जाता है । इसी प्रकार प्रस्नः । प्रपा ।

41. ड्वितः क्त्रिः ।।3/3/88।।

डु इत्संज्ञक वाली धातु से भाव में क्त्रि प्रत्यय होता है । तथा 'क्त्रेर्मम-नित्यम् । से क्त्रि प्रत्यय से मुम् होता है । यथा—

(1) पक्त्रिमम् = पाकेन निर्वृत्तम् (सिद्ध हुआ) । पच् + त्रि = पक्त्रि + टा (सुप्) + मुम् = पक्त्रिमम् । कृत्रिमम् ।

42. ट्वितोऽथुच् ।।3/3/89।।

टु इत्संज्ञक धातु से भाव में अथुच् प्रत्यय होता है । यथा—टुवेपृ (कम्पने) + अथुच् = वेप् + अथु = वेपथुः (काँपना) । वमथुः = टुवमु + अथुच् (वमन) । भ्राजथुः = (शोभा) भ्राज् + अथुच् ।

43. यज-याचतयत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ् ।।3/3/90।।

यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ्, और रक्ष् धातु से परे नङ् प्रत्यय होता है भाव में या संज्ञाविषक कर्तृ-भिन्न कारक में ।

(1) यज्ञः (देव पूजा) । यज् + न, स्तोः श्चुना श्चुः परे से नकार के स्थान पर ञकार करने पर = यज् + ञ = यज्ञः ।

(2) याच्ञा = माँगना । याच् + ञ (न) ।

(3) यत्नः (कोशिश) = यत्+न ।

(4) विश्नः = गति या चमक । विच्छ्+न ।

(5) प्रश्नः = (पूछना । प्रच्छ् + न । रक्षणः

44. स्वपोनन् ॥3/3/91॥

स्वप् (सोना) धातु से परे भाव में नन् प्रत्यय होता है । यथा—स्वप् + नन् =स्वप्नः ।

45. उपसर्गे घोः किः ॥3/3/92॥

उपसर्ग उपपद रहते घु संज्ञक धातु से कि प्रत्यय भाव या संज्ञाविषयक कर्तृ भिन्न से होता है । यथा—प्रत्ययान्त पल्लिग होते हैं ।

(1) आदिः = जो पहले ग्रहण किया जाता है । आङ् + दा + कि = आदिः । इसी प्रकार आधिः, व्याधिः, विधिः निधिः सन्धिः=सम् + धा + कि । प्रधिः ।

46. स्त्रियां क्तिन् ॥3/3/94॥

स्त्रीत्वविवक्षा में भाव में क्तिन् प्रत्यय होता है । यथा—

(1) कृतिः (करना) = कृ + क्तिन् ।

(2) स्तुतिः (स्तुति करना) = स्तु + क्तिन् । नुतिः, वृष्टिः । स्थितिः । गतिः । मतिः । प्राप्तिः आदि ।

(3) "सम्पदादिभ्यः क्विप्" इस वार्तिक से भाव में (स्त्री०) क्विप् प्रत्यय होता है । यथा—

(1) सम्पत् (सम्पन्नता)=सम्पद् + क्विप्ः (इस प्रत्यय का सर्वापहम्—लोप होकर = सम्पत् । क्तिन् होने पर सम्पत्ति । इसी प्रकार वियत् । आपत् । संसद् । परिषद् ।

(2) कीर्तिः = यश । (निपातन से) । कृत् + क्तिन् = किर् + ति + र्ति + सु =कीर्तिः ।

47. अप्रत्ययात् ॥3/3/102॥

स्त्रीत्व विशिष्ट भाव तथा संज्ञाः विषय कर्तृ भिन्न कारक की विवक्षा में 'अ' प्रत्यय होता है । यथा—

(1) चिकीर्षा = कर्तृमिच्छा—चिकीर्षा । कृ + सन् (द्वित्व से) चिकीर्ष + अ + टाप् । इसी प्रकार—

(2) लिप्सा = लब्धुमिच्छा । 'वक्तुमिच्छा-विवक्षा ।'

(3) गुरोश्च हलः ॥3/3/103॥ सूत्र में 'अ' प्रत्यय स्त्रीत्वभाव में होता है । तथा फिर टाप्, होता है । यथा—

भिक्ष् + अ + टाप् = भिक्षा, शिक्ष् से शिक्षा, भाष् से भाषा, लस्ज् से लज्जा आदि ।

48. नपुंसके भावे क्तः ॥3/3/114॥

नपुंसकत्व विशिष्ट भाव में धातु से परे 'क्त' प्रत्यय होता है। यथा—हसितम् = हस् + इट् + क्त + सु का अम् आदेश होकर हसितम्। इसी प्रकार गतम्। कथितम् स्थितम्। ज्वलितम् आदि।

49. ल्युट् च ॥3/3/115॥

नपुंसकत्व विविष्ट भाव में धातु से परे ल्युट् प्रत्यय होता है। ल्युट् में लकार व टकार इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाते हैं केवल यु रहता है जिसका 'युवोरनाकौ' से अन आदेश हो जाता है। यथा—हस् + ल्युट् (अव) + अम् = हसनम् पठ् से पठनम् आदि। ब्रू से वचनम्।

50. पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ॥3/3/118॥

पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा के वाच्य होने पर करण व अधिकरण में धातु से घ (अ) प्रत्यय होता है। यथा—

(1) दन्तच्छदः = दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः (ओष्ठ)।

(2) आकरः = आकुर्वन्त्यत्रेति आ + क् + घञ्।

51. अवे: तृ-स्त्रोर्घञ् ॥3/3/120॥

अव उपसर्ग के उपपद रहते तृ (तैरना) और स्तृ (ढाँपना) धातुओं से करण और अधिकरण में घञ् प्रत्यय पुंस्त्वः विशिष्ट संज्ञा में हो जाता है। यथा—

(1) अवतारः = अवतरन्त्यनेनेति।

(2) रामः = रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः। हलश्च सूत्र से रम् + घञ् = रामः। इसी प्रकार—बन्धः।

52. ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छार्थेषु खल् ॥3/3/136॥

दुःख अर्थ वाले दुस् के तथा सुख अर्थ वाले ईषत् या सु के उपपद होने पर भाव और कर्म में खल् प्रत्यय होता है। यथा—दुष्करः। ईषत्करः। सुकरः। सुलभः। दुर्लभः। दुस् + कृ + खल् (अ) = दुष्करः।

53. आतोयुच् ॥3/3/128॥

दुस्, ईषत् सु के उपपद रहते आकारान्त धातु से परे युच् प्रत्यय होता है—खल् के अपवाद स्वरूप। युच् में युः शेष रहता है जिसका त्युवोरनाकौ से अन हो जाता है। यथा—ईषत्पानः (आसानी से पिया जाने वाला)। दुष्पानः = आसानी से नहीं पिया जाने वाला। दुस् + पा + युच् (अन)।

ईषज्ज्ञानः। सुज्ञानः।

54. अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ॥3/4/18॥

प्रतिषेध अर्थ वाले (निषेध) अलं या खलु शब्दों के उपपद रहते धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है। यथा—

(1) अलं दत्त्वा (मत दो) = अलं + दा + क्त्वा।

(2) पीत्वा खलु = मत पिओ। पा + त्वा + खलु।

55. समान कर्तृकयोः पूर्वकाले ॥3/4/21॥

जिन दो धातुओं के अर्थों का कर्ता एक हो उनमें से जिस धातु का अर्थ पूर्वकाल में स्थित हो उस धातु से परे क्त्वा प्रत्यय होता है। यथा—

(1) भुक्त्वा व्रजति=खाकर जाता है।

(2) शयित्वा=सोकर। शीङ्+सेट्+क्त्वा=शयित्वा। इसी प्रकार सेव् = सेवित्वा। नृत् = नर्तित्वा।

56. रलोः व्युपधाद्धलादेः संश्च ॥1/2/26॥

इवर्ण या उवर्ण जिस की उपधा में हों ऐसी हलादि रलन्त धातु से पर सेट् क्त्वा व सेट् सन् विकल्प से होता है। यथा—

(1) लिखित्वा, लेखित्वा = लिख्+सेट् (इट्)+क्त्वा=लिखित्वा। अन्यत्र लेखित्वा। इसी प्रकार—मुद्=मुदित्वा—मोदित्वा। शुच्=शुचित्वा, शोचित्वा। लिलिखिष्यति, लिलेखिष्यति (सन् होने पर)।

57. उदितो-वा ॥7/2/56॥

जिस धातु का ह्रस्व उकार उत् हो उस धातु से परे क्त्वा को विकल्प से इट् आगम होता है। यथा—

(1) शमित्वा, शान्त्वा=(शान्त होकर) शमु (शम्)+त्वा=शान्त्वा। शम् +इट्+त्वा = शमित्वा। इसी प्रकार भ्रम् (भ्रमु)=भ्रमित्वा। भ्रमित्वा—भ्रान्त्वा।

(2) जहातेश्च क्त्वि ॥7/4/43॥ से क्त्वा से परे धातु के हृ को हि आदेश होने पर हा=हित्वा, हात्वा।

58. समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ॥7/1/37॥

जिस समास में पूर्व पद में नञ् से भिन्न कोई अन्य अव्यय हो उस समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् हो जाता है। यथा—

(1) प्रकृत्य = अच्छी तरह करके। कृ+क्त्वा=प्र (कुगतिप्रादयो)+कृ+त्वा (ल्यप्) = प्रकृत्य।

(2) परित्यज्य, विजित्य, अग्नीय आदि। नमस्कृत्य।

59. आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ॥3/4/22॥

समान कर्ता वाले दो धात्वर्थों में जो धात्वर्थ पूर्वकाल में स्थित हो तथा उस का बार-बार होना भी द्योतित हो रहा हो तो उसके वाचक धातु से परे णमुल् और क्त्वा प्रत्यय पर्याय से हो जाते हैं। णमुल् का अम् मात्र शेष रहता है। यथा—

(1) स्मारं स्मारं नमति शिवम् = शिव को बार-बार स्मरण कर नमस्कार करता है। स्मृ+अम् (णमुल्) 'नित्यवीप्सयोः' सूत्र से स्मारं पद का दो बार आदेश होने पर स्मारं स्मारं नमतिशिवम्। इसी प्रकार क्त्वा प्रत्यय करने पर।

(2) स्मृत्वा-स्मृत्वा नमति शिवम्। स्मृ + क्त्वा = स्मृत्वा। स्मृत्वा-स्मृत्वा। इसी प्रकार पीत्वा-पीत्वा, पायं पायं (युक् करने पर।) श्रुत्वा, श्रुत्वा, श्रावं श्रावं = बारबार सुनकर के। पाठं पाठम्। पठित्वा-पठित्वा।

60. अन्यथैवं—कथमित्थंसु सिद्धाऽप्रयोगश्चेत् ॥3/4/27॥

अन्यथा, एवम्, कथम्, इत्यम्—इन चार अव्ययों में से किसी अव्यय के उपपद रहते कृञ् धातु से परे णमुल् प्रत्यय हो यदि कृञ् धातु अर्थहीन होने से प्रयोग के अयोग्य हो तो। यथा—

(1) अन्यथा कारं भुङ्क्ते = वह अन्य प्रकार से खा रहा है। अन्यथा + कृ + णमुल् = अन्यथा + कृ + अम् = अन्यथा कारम्। इसी प्रकार एवंकारं भुङ्क्ते। वह इस प्रकार खाता है। कथंकारं भुङ्क्ते = वह कैसे खाता है। इत्थंकारं भुङ्क्ते। वह इस तरह खाता है।

क्त्वान्त एवं ल्यबन्त रूपों के कतिपय उदाहरण निम्न हैं—

धातु	**क्त्वान्त**	**ल्यबन्त**
1. अद् = खाना	जग्ध्वा	प्रजग्ध्य
2. अर्जि = कमाना	अर्जयित्वा	उपार्ज्य
3. अस् = होना	भूत्वा	अनुभूय
4. आप् = पाना	आप्त्वा	प्राप्य
5. इ (ङ) = पढ़ना	—	अधीत्य
6. इण् = जाना	इत्वा	उपेत्य
7. एध् = बढ़ना	एधित्वा	समेध्य
8. कीर्ति = वर्णन करना	कीर्तयित्वा	संकीर्त्य
9ए. क्लिद् = गीला होना	(क्लेदित्वा क्लिदित्वा क्लित्वा)	विक्लिद्य
9बी. धा = धारण करना	हित्वा	संधाय
10. गाह् = बहाना	गाहित्वा, गाढ्वा	अवगाह्य
11. श्रि = आश्रय करना	श्रित्वा	आश्रित्य
12. सृ = सरकना	सृत्वा	अनुसृत्य
13. स्था = ठहरना	स्थित्वा	प्रस्थाय

॥ इति कृदन्त प्रकरणम् ॥

अथ तद्धित प्रकरणम्

तेभ्यः (प्रयोगेभ्यः) हिताः तद्धिताः = जो उन प्रयोगों के लिए हितकर है, इस अर्थ में संज्ञा शब्दों से परे जो प्रत्यय होते हैं उन्हें तद्धित प्रत्यय कहते हैं। यथा—

(1) दैत्यः = दित्येरपत्यम् पुमान् (दिति की पुत्र सन्तान)। दिति से अपत्य अर्थ में 'दित्यदित्यादित्युत्तरप दाण्यः' सूत्र से ण्य प्रत्यय होता है। ण्य में 'य' शेष रहता है। दिति + य, आदि इ को वृद्धि (ऐ) तथा अन्त्य इकार को लोप होकर दित् + य = दैत्यः।

(2) दैव्यम्, दैवम् = देवस्य अपत्यम् (देव की सन्तान)। 'देवाद्यञञौ' वार्तिक से अपत्य अर्थ में यञ् (य) तथा अञ् (अ) प्रत्यय होते हैं। देव + अयञ् (य) = दैव्यम्। देव + अञ् = दैवम्। आदि वृद्धि अकाल्लेप।

(3) बाह्यः = बहिर्भवः (बाहर होने वाला)। बहिय् शब्द से अपत्य अर्थ में यञ् (य) प्रत्यय होने पर बह (इस् का लोप) + य + सु = बाह्यः।

(4) बाहीकः = बहिर्भवः (बाहर होने वाला)। अपत्य अर्थ में 'ईकक् च' वार्तिक से ईकक् (ईक) प्रत्यय बह् (इस् लोप) + ईक + सु = बाहीकः। 'कितिच' से आदि अ की वृद्धि। इसी प्रकार--

(5) गव्यम् = गोः अपत्यादि (गौ की सन्तान आदि) अर्थ में 'गोरजादि प्रसंगे यत्' वार्तिक से यत् (य) प्रत्यय से गो + य--वान्तोयिप्रत्यये से ओ को अव् होकर गव् + य = गव्यम्।

(6) औत्सः = उत्सस्य अपत्यं पुमान् (उत्स की पुरुष सन्तान) इस अर्थ में 'उत्सादिभ्योऽञ्' सूत्र से उत्स शब्द से अञ् (अ) प्रत्यय करने पर उत्स + अ, आदि उकार को वृद्धि अन्त्य अकार लोप से औत्स् + अ = औत्सः।

(7) औपगव, = उपगोः अपत्यम् पुमान् (उपगु की पुरुष सन्तान)। इस अर्थ में उपगु शब्द से अण् प्रत्यय। उपगु + अ, 'ओर्गुणः' से अन्त्य उकार को ओ (गुण) तथा औ को अव् एवं आदि वृद्धि से औपगो + अ = औपगवः।

(8) गार्ग्यः = गर्गस्य गोत्रापत्यम् पुमान् (गर्ग की पौत्र आदि पुरुष सन्तान)। गर्गादिभ्यो यञ् सूत्र से यञ् (य) प्रत्यय—गर्ग + य = गार्ग्यः।

बहुवचन में अञ्, यञ् प्रत्ययों का लोप होकर गर्गाः वत्साः रूप बनते हैं।

(9) गार्ग्यायण: = गर्गस्य युवापत्यम् (गर्ग की युवासन्तान) इस अर्थ में गार्ग्य शब्द से यञिञोश्च सूत्र से फक् प्रत्यय—गार्ग्य + फक्, फकार को आयन् होकर गार्ग्य के अन्त्यअकम् को लोप होकर गार्ग्य् + आयन् + अ, (न काण) = गार्ग्यायण: । इसी प्रकार दक्षस्य युवापत्यम् = दाक्षि + आयन् + अ = दाक्षायण: । ङीष् होकर गार्ग्यायणी ।

(10) पौत्र: = पुत्रस्यायत्यं पुमान् (पुत्र की संतान) । पुत्र + अञ् = पौत्र: ।

(11) शैव: = शिवस्यापत्यं पुमान् (शिव की पुरुष सन्तान) शिवादिभ्योऽण् सूत्र से अण् प्रत्यय = शिव + अप् = शैव: । इसी प्रकार गाङ्ग: ।

(12) वासुदेव: = वसुदेवस्यापत्यंपुमान् । वसुदेव शब्द से 'ऋष्यन्धकवृष्णि-कुरुभ्यश्च' सूत्र से अण् प्रत्यय । वसुदेव + अण् = वासुदेव: । इसी प्रकार नाकुल: ।

(13) द्वैमातुर:=द्वयोर्मात्रोरपत्यं पुमान् (दो माताओं की पुरुष सन्तान) । 'मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वाया:' सूत्र से संख्या, सम् और भद्र पूर्वक भातृ शब्द को उत् आदेश होकर द्वि + मात् + उर् + अ = आदिवृद्धि से द्वैमातुर: । इसी प्रकार षाण्मातुर: ।

(14) वैनतेय: = विनताया: अपत्यं पुमान् (विनता की पुरुष सन्तान) । 'स्त्रीभ्यो ठक्' से ठक्, ठक् का एय होकर विनता + ठक् = विनता + एय, आदि वृद्धि वैनतेय: (गरुड़) ।

(15) कानीन: (व्यास:) = कन्याया: अपत्यं पुमान् (कन्या की पुरुष सन्तान) । कन्या का 'कन्यान्या: कनीन च' सूत्र से कनीन आदेश होकर अण् प्रत्यय । कनीन + अण् = कानीन: (व्यास और कर्ण) ।

(16) राजन्य: = राज्ञोऽपत्यं जाति: (राजा की सन्तान क्षत्रिय जाति) । 'राजश्वराद्यत्' सूत्र से यत् प्रत्यय भाव और कर्म के अतिरिक्त अन् का लोप नहीं । राजन् + यत् (य) राजन्य: । जाति में ही यत् होता है । अन्यत्र यथा—

(17) राजन: = राज्ञोऽपत्यम् (राजा की सन्तान) । यहाँ परा 'अन्' सूत्र से अन् का लोप होकर, राजन् + अण्=राजन: । जाति से भिन्न ।

(18) क्षत्रिय:=क्षत्रस्यापत्यं जाति: (क्षत्र की सन्तान, जाति) क्षत्राद् घ: सूत्र से घ प्रत्यय, उसका इय् होकर=क्षत्र + घ = क्षत्र + इय्=क्षत्रिय: जाति से भिन्न क्षत्र + इञ्=क्षात्रि: बनता है ।

(19) रैवतिक: = रैवत्या: अपत्यम् पुमान् (रेवती की पुरुष सन्तान) । 'रेवत्यादिभ्यष्ठक्' से ठक्, ठक् का इक होकर रेवती + इक=रेवत् + इक = रैवतिक:)

(20) पाञ्चाल:=पञ्चालानां राजा (पञ्चालों का राजा) 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' सूत्र से अञ् प्रत्यय पञ्चाल + अञ् = पाञ्चाल: । पाण्डु + ड्यण् = पाण्ड् + य=पाण्ड्य: ।

(21) कौरव्य: = कुरूणाँ राजा, कुरूणाभपत्यं पुमान् वा कुरु + ण्य=कौरो + य = कौरव्य: । नैषध्य: ।

(22) शाराव: = शशवे उद्घृत: (सराई में उठाया हुआ)। शराव + अण् = शाराव:।

(23) पाशुपतम् = पशुपतिर्देवताऽस्य (पशुपति हे देवता इसका)। 'साऽस्य देवता' सूत्र से अप् प्रत्यय। पशुपति + अण् = पाशुपत् + अ = पाशुपतम्।

(24) पितृव्य: = पितुर्भ्राता (पिता का भाई)। पितृ = व्यत् = पितृव्य:।

(25) मातुल: = मातुर्भ्राता = (माता का भाई, मामा)। मातृ = डुलच् (उल) = मात् + उल = मातुल:।

(26) जनता = जनानां समूह:। जन + तल् = ग्राम + त स्त्रीत्व विवक्षा में टाप्—अन + त + आ = जनता। इसी प्रकार ग्रामता, बन्धुता।

(27) वैयाकरण: = व्याकरणमधीते वेदवा (व्याकरण को पढ़ता है या जानता है।) इस अर्थ में 'व्याकरण' शब्द से अण् प्रत्यय होता है। 'न स्वाभ्यां:' सूत्र से आदि वृद्धि का निषेध होकर व्याकरण + अण् = य से ऐ आगम होकर व + ऐ + याकरण + अ = वैयाकरण:।

(28) शिक्षक: = शिक्षामधीते वेद वा (णिक्षा को पढ़ता है या जानता है)—'क्रमादिभ्यो वुन्' सूत्र से वुन् प्रत्यय वु का अक होकर शिक्षा + अक = शिक्ष् + अक = शिक्षक:।

(29) शिखावल: = शिखा: सन्ति अस्मिन् देशे (शिखा हैं इस स्थान में)—शिखाया वलच् सूत्र से वलच् प्रत्यय—शिखा + वलच् = शिखावल:।

(30) यौवनम् = युवतीनां समूह: (युवतियों का समूह)—भिक्षादिभ्योऽण् सूत्र से अण् प्रत्यय। युवति + अण्—पुंवद्भाव = युवन् + अ, आदि वृद्धि, अन् को—प्रकृति भाव = यौवनम्।

(31) जनता = जनानां समूह जनता (जनों का समूह)। ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् सूत्र से तल् (त) प्रत्यय। यह स्त्रीलिङ्ग में होता है अत: टाप् (आ) होकर जन + त (तल्) + आ (टाप्) = जनता। इसी प्रकार ग्रामता, बन्धुता, गजता, सहायता आदि।

(32) कौशाम्बी = कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी (कुशामब के द्वारा बसाई हुई नगरी)। कुशाम्ब + अण् + ङीप् (सेन निर्वृत्तम् सूत्र से) = कौशाम्बी।

(33) नड्वान् = नडा: सन्ति अस्मिन् देशे (नरसंल होते हैं इस देश में)। कुमुदनऽवेत सेभ्यो ड्मतुप् सूत्र से ड्मतुप् तथा झय: सूत्र से मतुप् के मकार का वकार होकर—नउ + ड्मतुप्—नड + मत्—नड्वत्—नङ् वान्।

(34) चाक्षुषं रूपम् = चक्षुषा गृह्यते (चक्षु से जिसका ग्रहण किया जाता है)। शेषे सूत्र से अप् प्रत्यय—चक्षुष् + अण् = चाक्षुषम्।

(35) राष्ट्रिय: = राष्ट्र जात: (राष्ट्र में पैदा हुआ आदि)। 'राष्ट्राऽवार-पाराद्घखौ' सूत्र से राष्ट्र शब्द से घं प्रत्यय, घ को इय् आदेश—राष्ट्र + घ—राष्ट्र + इय्—राष्ट्रिय:।

(36) ग्राम्यः, ग्रामीणः=ग्रामे जातः, भव वा (ग्राम में पैदा हुआ)। ग्रामाद्यखञौ सूत्र से य और ख प्रत्यय—ग्राम+य—ग्राम्+य=ग्राम्यः। ग्राम+ख—ग्राम+ईन्—ग्राम्+ईन् (न को ण) ग्रामीणः।

(37) वाराणसेयम्=वाराणस्यां जातम् (वाराणसी में हुआ)। 'नाद्यादिभ्यो ढक्' से ढक् प्रत्यय, ढ को एय होकर वाराणसी+ढक्=वाराणसी+एय=वाराणस्+एय=वाराणसेयम्।

(38) दाक्षिणात्यः=दक्षिणा जातः (दक्षिण में उत्पन्न हुआ)। दक्षिणा-पश्चात्पुरसस्त्यक् सूत्र से त्यक् (त्य) प्रत्यय। दक्षिणा+त्यक्—आदि वृद्धि=दाक्षिणात्यः। इसी प्रकार पाश्चात्यः, पौरत्यः।

(39) अमात्यः=अमा (सह) भवः। साथ रहने वाला (मंत्री)। अमा+त्यप्=अमात्यः। नि (उपसर्ग)+त्यप्=नित्यः।

(40) अस्मदीयः=आवयोः अस्माकं वा (हम दोनों का या हम सब का)। अस्मद्+ख (ईय्)=अस्मदीयः इसी प्रकार युष्मदीयः।

(41) तदीयः=तस्य अयम्। तत्+छ=तद्+ईय=तदीयः। अस्मद्+खञ्—ममक+ईन्=मामकीनः।

(42) मध्यमः=मध्ये भवः (मध्य में होने वाला)। मध्यान्म सूत्र से म प्रत्यय—मध्य+म=मध्यम।

(43) चिरन्तनम्=सांये भवम् (सांयकाल होने वाला)। सायम्+ट्यु—यु को अन—सायम्+अन+तुट् का आगम—सायम्+त्+अन्=सायन्तनम्। इसी प्रकार चिरन्तनम्।

(44) कौशेयं वस्त्रम्=कोशे सम्भूतम् [कोश (कृमि कोश) में होने वाला वस्त्र]। कौशाड्ढञ् सूत्र से ढञ् प्रत्यय—कोश+ढञ्—ढ को एय तथा अन्त्य अकार लोप व वृद्धि कोश्+एय=कौशेयम्।

(45) कण्ठ्यम्=कण्ठे भवम् (कण्ठ में होने वाला)। शरीरावयवाच्च सूत्र से यत् प्रत्यय=कण्ठ+यत्—कण्ठ्+य—कण्ठ्यम् इसी प्रकार दन्त्यम्।

(46) आध्यात्मिकम्=अध्यात्मं भवम्। अध्यात्म+उञ् को इक्=आध्यात्मिकम्।

(47) पाणिनीयम्=पाणिनिना प्रोक्तम्। तेन प्रोक्तम् सूत्र से छ प्रत्यय। छ को ईय आदेश—पाणिनि+छ—पाणिनि+ईय—पाणिनीयम्।

(48) गोमयम्=गोः पुरीषम् (गाय का गोबर)। गो+मयट्।

(49) सामाजिकः=समाजं रक्षति (समाज की रक्षा करने वाला।) रक्षति सूत्र से ठक्=समाज+ठक्—समाज+इक्।

(50) धार्मिकः=धर्मं चरति (धर्म का सदा आचरण करने वाला) धर्मं चरति सूत्र से ठक्, धर्म+ठक्, धर्म+इक्।

(51) धानुष्कः=धनुः प्रहरणमस्य (धनुष है शस्त्र जिसका)। धनुष्+ठक्, ठ को 'इसुसुक्तान्तात् कः' सूत्र से क होकर धनुः+क—आदि वृद्धि, विसर्ग को षकार होकर धानुष्कः।

(52) धुर्यः=धुरं वहति (धुरों को धारण करने वाला)। धुर्+यत्, उकम् को दीर्घ निषेध होकर धुर्+य=धुर्यः।

(53) धौरेयः=धुरं वहति (धुरा को वहन करने वाला)। धुर्+ठक्।

(54) मूल्यः=मूलेन समः (मूल के बराबर)। मूल+यत्।

(55) इसी प्रकार तुलया समितम् तुला+यत्=तुल्यम्।

(56) सभ्यः=सभायां साधुः (सभा में योग्य) सभायायः सूत्र से यक्ष्त्यय—सभा+य।

(57) विश्वजनीनम्=विश्वजनायहितम् (सब जनों के लिये हितकर)। विश्वजन+ख—विश्वजन+ईन। इसी प्रकार अत्मनीनम्।

(58) ब्राह्मणवत् अधीते=(बाह्मण के अध्ययन के समान पढ़ता है।) तेन तुल्यं क्रिया चे द्वतिः।

(59) तस्य भावस्त्वतलौः सूत्र से षष्ठन्त भाव अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं। त्व से नपुंसकलिग तथा तल् प्रत्ययान्त स्त्रीलिंग होता है। यथा—गो का भाव गो+त्व—गोत्वम्। गो+तल्+टाप्=गोता। मनुष्यत्वम्, मनुष्यता।

(60) प्रथिमा=पृथोर्भावः (पृथु का भाव)। पृथ्वादिभ्य इर्मानिज्वा सूत्र से से इमनिच् प्रत्यय। इस प्रत्यय से बनने वाले शब्द पुल्लिग होते हैं। भाव में अण् प्रत्यय भी होता है। यथा—पृथु+इमन्—प्रथ्+इमन्—प्रथिमन् प्रथिमा। गुरोर्भावः गरिमा। लघोर्भाव लघिमा। मृदोर्भावः मृदिमा। मृदु+अण्=मार्दवम्।

(61) दाढ़्यम्—द्रढिमा—दृढ़+ष्यञ्=दार्ढ्यम्। दृढ+इमन्=द्रढिमा। जडस्यभाव जाड्यम्।

(62) सख्यम्=सख्युर्भावः कर्म वा (सखा का भाव या कर्म) सखि+य (सख्युर्यः)—सख्+य—सख्यम्।

(63) पौरोहित्यम्=पुरोहितस्य भावः कर्म वा (पुरोहित का भाव या कर्म)। पत्यन्त पुरोहितादिभ्योयक् सूत्र से यक् पुरोहित+यक्=पुरोहित्+य=पौरोहित्यम्।

(64) हैयङ्गवीनम् = ह्योगोदोहस्यविकारः (कल के दुहे दूध से बना हुआ या निकाला हुआ, नवीन घृत)। हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् सूत्र से खञ्, ख से ईन, आदि वृद्धि, इ को ऐ तथा अन्त्य उकार को गुण—ह्योगोदोह+खञ्—प्रकृति को हियङ्गु आदेश, हियङ्गु+ईत्र—हैयङ्गो+ईन—ओ को अव् होकर हैयङ्गव्+ईन= हैयङ्गवीनं नवनीतम्।

(65) पण्डितः=सदसद्विवेकिनी बुद्धिः पण्डा। पण्डा संजाता अस्य सः (अच्छे बुरे का विवेक करने वाली बुद्धि जिसके है, वह।) 'तदस्य सञ्जातं

तारकादिभ्य इतच्' सूत्र से इतच् (इत) प्रत्यय—पण्डा + इतच्—पण्डितः। इसी प्रकार तारकितं नमः।

(66) ऊरुमात्रम्=ऊरुप्रमाणमस्य। प्रमाण अर्थ में द्वयसच् 5 दघ्नच्, मात्रच् प्रत्यय। ऊरु + द्वयसच् = ऊरुद्वय—सम्। ऊरु + मात्रच् = ऊरुमात्रम्। ऊरु + दघ्नच्:= ऊरुदघ्नम्।

(67) एतावान् = एतत् परिमाणमस्य। एतत् + वतुप् = एतावत् एतावान्। तावान्। यावान्।

(68) कियान्=किं परिमाणम् अस्य (क्या परिमाण है इसका, कितना)। किम् + वतुप्—व को घ—किम् + घ + अत्—घ को इय् होकर किम् + इय् + अत्— किम् को की आदेश होकर की + इयत्—ई का लोप (यस्येतिचे से) होकर क् + इयत्—कियत्: (पु. प्र. एक व.) कियान्।

(69) पञ्चमः = पञ्चानां पूरणः (पाँचवाँ)। पञ्चन् + उट्—मट् का आगम होकर पञ्चन् + म् + अ—न् का लोप होकर पञ्च + म = पञ्चमः। तस्य पूरणे उट् तथा नान्तादङ्रव्यादेर्मट् सूत्र से उट् का मट्।

(70) षष्ठः = षण्णां पूरणः (छठा)। षट्कतिकतिपय—चतुरां थुक् सूत्र से उट् के स्थान पर थुक् का आगम होकर षट् + उट्—षष् + थुक् + अ—थ् को ष्टुत्व से ठ्—षष् + ठ=षष्ठः। इसी प्रकार चतुर्थः। कतिथः। कतिपयथः।

(71) द्वितीयः = द्वयोः पूरणः। द्वि + तीय—द्वितीयः। तृतीयः।

(72) श्रोत्रियः = छन्दोऽधीते (वेदपाठी)। छन्दस् + घन् छन्दस को श्रोत्र आदेश—श्रोत्र + घन्—श्रोत्र + इय् = श्रोत्रियः।

(73) अधीती = अधीतमनेन (इसने पढ़ लिया है)। अधीत + इनि = अधीतिन्—अधीती।

(74) गोमान्=गावः अस्य अस्मिन् वा सन्ति (जिसकी या जिसमें गायें हैं, वह)। 'तदस्त्यस्मिन्निति मतुप्' सूत्र से मतुप् प्रत्यय। गो + मत् = गोमत् (प्रथमा एकवचन में) गोमान्।

(75) लक्ष्मणः = लक्ष्मीः अस्याऽस्ति (लक्ष्मी इसके है, वह)। लक्ष्मी + न 'लक्ष्म्या अच्च' सूत्र से भत्वर्थ में न प्रत्यय। ईकार को अकम् = लक्ष्म + न—न को ण—लक्ष्मणः। पक्ष में लक्ष्मी + मतुप्=लक्ष्मीवान्।

(76) अङ्गना = कल्याणानि अङ्गानि सन्ति अस्याः अङ्गात् कल्याणे वार्तिक से न प्रत्यय—अङ्ग + न + टाप् = अङ्गना।

(77) दन्तुरः = ऊँचे दाँत इसके हैं। दन्तु + उरच्=दन्तुरः।

(78) अर्णवः = अर्णांसि सन्ति अस्मिन् (जल वाला, सागर)। अर्णस् + व, स् लोप—अर्ण + व = अर्णवः।

(79) अतः इनिठनौ ।। अकारान्त शब्द से मत्वर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं, विकल्प से । यथा—दण्डी—दण्डिकः = दण्डोऽस्यास्ति (दण्ड वाला) । दण्ड + इनि—दणु + इन्—अकार लोप दण्डिन्—दण्डी (पु. एकवचन) । दण्ड + उन् ठकार को इक्—दण्डिकः ।

(80) यशस्वी = यशोऽस्थास्ति (यश वाला) । अस्मायामेधा स्रजो विनिः से विनि प्रत्यय—यशस् + विनि—यशस् + विन् = यशस्विन्—यशस्वी । मेधावी ।

(81) वागमी—प्रशस्ता वाचोऽस्य सन्ति (यशस्तवाणी वाला) । वाचो-ग्मिनिः सूत्र से मत्वर्थ में ग्मिनि प्रत्यय—वाच् + ग्मिन्—च् को क् (चोः कुः) तथा ग् होकर वाग् + ग्मिन्—वाग्मिन् = वाग्मी ।

(82) कुतः = कस्मात् (किससे) । 'पञ्चम्यास्तसिल्' इस सूत्र से पञ्चम्यन्त किम् शब्द से तसिल् प्रत्यय । इससे बने शब्द अव्यय होते हैं । किम् + ङसि + तस्—सुप् लुक्—किम् + तसिल्—किम् को कु आदेश होकर कु + तस्—स् को विसर्ग = कुतः । पक्ष में कस्मात् । इसी प्रकार एतस्मात् (इससे)—एतद् + तसिल्—अन् आदेश व नकार लोप अ (अन्) + तस् = अतः । इतः । ततः । बहुतः । परितः । उभयतः । अभितः । सर्वतः ।

(83) कुत्र = कस्मिन् (किसमें, कहाँ) । सप्तम्यास्त्रल् सूत्र से त्रल् प्रत्यय—किम् + त्रल्—कु + त्र = कुत्र अव्यय पद । इसी प्रकार यत्र । तत्र । सर्वत्र । बहुत्र ।

(84) इह = अस्मिन् (इसमें, यहाँ) । इदमोहः से इदम् से ह प्रत्यय—इदम् + ह = इ + ह = इह ।

(85) क्वः = कस्मिन् (कहाँ, किसमें) । किम् + अत्—क्व + अ किम् को क्व आदेश व पर रूप = क्व ।

(86) सदा, सर्वदा = सर्वस्मिन् काले (सब समय में) । सप्तम्न्त कालवाचक सर्व, एक, अन्य, किम् यद् और तद् शब्दों से दा प्रत्यय—सर्व + दा—सर्वकोस आदेश स + दा = सदा । सर्व + दा = सर्वदा । किम् + दा = कदा । यद् + दा = यदा । तद् + दा = तदा । अन्य + दा = अन्यदा । एक + दा = एकदा ।

(87) तथा = तेन प्रकारेण (उस प्रकार से, वैसा) । तत् + थाल् = तथा । यत् + थाल् = यथा । येन प्रकारेण ।

(88) इत्थम् = अनेन प्रकारेण (इस प्रकार से, ऐसे ।) इदम् + थमु = इत्थम् । केन प्रकारण—किम + थमु = कथम् ।

(89) लघुतमः । लघिष्ठः = अतिशयेन लघु (अत्यन्त छोटा) इस अर्थ में 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' से तमप् और इष्ठन् प्रत्यय । लघु + तम (तमप्) = लघुतमः । लघु + इष्ठ (इष्ठन्) = उकार लोप—लघ् + इष्ठ = लघिष्ठः ।

(90) पचतितमाम् = अतिशयेन पचति (बहुत अच्छा पकाता है) । पचति + तमप् + आम् (अव्यय पद) = पचतितमाम् ।

(91) लघुतरः लघीयान् = अतिशयेन लघुः । लघु + तरप् = लघुतरः । लघु + ईयसुन् (ईयस्) = लघ् + ईयस् = लाघीयस् = लघीयान् (प्र. एक.) ।

(92) जेष्ठः = अयम् एषाम् अतिशयेन प्रशस्यः । यह इनमें अधिक प्रशंसनीय है । प्रशस्य + इष्ठन् = ज्य + इष्ठ = ज्येष्ठः । अतिशयेन बहुः--भू + इष्ठन् भू + यिट् + इष्ठ = भू + यि + ष्ठ = भूयिष्ठः ।

(93) कतरः = अनयोः कः वैष्णवः (इन दोनों में कौन वैष्णव है) । किम् + उतच् = क् + अतर--कतरः ।

(94) अपूपमयम् = प्रकृताः अपूपाः अस्मिन् (पूड़ों की प्रचुरता वाला पर्व) । अपूप + मयट् = अपूपमयम् । अन्नमयम् ।

(95) बान्धवः = बन्धुरेव (बन्धु ही बान्धव है) । बन्धु + अण् = बान्धवः ।

(96) कृष्णीकरोति = अकृष्णः कृष्ण सम्पद्यते तं करोति--जो काला नहीं व काला होता है, उसे करता है । अभूततभ्दाव में च्वि प्रत्यय--कृष्ण + च्वि + करोति--च्वि का सर्वापहार लोप अ को ई होकर कृष्णीकरोति ।

(97) अग्निसाभ्दवति = कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते (सम्पूर्ण शस्त्र जलकर अग्नि हो रहा है । साकल्य अर्थ में च्वि के स्थान पर साति प्रत्यय--अग्नि + साति + भवति--(अव्यय पद) अग्नि साद्भवति । अग्नि + च्वि + भवति = अग्नीभवति ।

(98) पटपटाकरोति = पटत् (ऐसा शब्द) करोति । पटत् + डाच् + करोति--डाच् प्रत्यय से द्वित्व होकर पटत् पटत् + डाच् = करोति--पटपट + आ + करोति = पटपटाकरोति ।

अथ स्त्री प्रत्यय प्रकरणम्

प्रश्न 1. 'अजाद्यतष्टाप्' सूत्र का विषय परिचय सोदाहरण दीजिये 'तथा स्त्रीत्व विवक्षा में छात्रा होता है या छात्री ? समझाइये ।

(1) टाप् प्रत्यय-परिचय--

1. अजाद्यतष्टाप् ॥4/1/4॥

अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात् । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला । वत्सा । होडा । मन्दा । विलाता इत्यादिः अजादिगणः । सर्वा ।

व्याख्या--अज आदि और अकारान्त शब्दों का जो वाच्य 'स्त्रीत्व' है, उसको प्रकट करने के लिये इन प्रातिपदिकों से टाप् प्रत्यय होता है । अर्थात् प्रातिपदिक का अर्थ ही लिङ्ग होता है, उसे स्त्रीत्व में प्रकट करने के लिये टाप् प्रत्यय किया जाता है । जैसे--

(क) **अजा** = बकरी--अजादिगण का प्रथम शब्द 'अज' है, इससे 'अजाद्यतष्टाप्' से स्त्रीत्व द्योतक टाप् प्रत्यय होकर अज + आ (टाप्) में सवर्ण

दीर्घ होकर[1] = 'अजा' शब्द बनता है तथा उसमें प्रथमा विभक्ति का वचन 'सु' होकर उसका लोप[2] होने पर 'अजा' बनता है।

(ख) एडका = भेड़—एडक + टाप् (आ) = एडका।

(ग) अश्वा = घोड़ी—अश्व + टाप् + (आ) = अश्वा।

(घ) चटका = चिड़िया—चटक + टाप् (आ) = चटका।

(ङ) मूषिका = चूहिया—मूषक + टाप् (आ) = मूषिका।

उपर्युक्त एडका, अश्वा, चटका और मूषिका शब्दों से स्त्रीत्व बोधक ङीष् प्रत्यय[2] प्राप्त था लेकिन इनका अजादिगण में पाठ होने के कारण ङीष् का बाध कर टाप् प्रत्यय हो जाता है।

(च) बाला, वत्सा, होडा, मन्दा, विलाता ये शब्द प्रथम आयु (यौवन से पूर्वावस्था) के वाचक हैं, अतः इनसे स्त्रीत्वबोधक ङीप्[3] प्रत्यय प्राप्त था, लेकिन इनका अजादिगण में पाठ होने से ङीप् का बाध कर इस सूत्र से टाप् प्रत्यय हो जाता है।

(छ) सर्वा = (सब) अकारान्त 'सर्व' शब्द से 'अजाद्यतष्टाप्' सूत्र से टाप् प्रत्यय होने पर सर्व + टाप् (आ) = सवर्णदीर्घ—सर्वा + सु तथा सु का लोप = सर्वा बना है।

प्रश्न 2. भवती एवं भवन्ती की विशेषता समझाइए।

ङीप् प्रत्यय परिचय—

2. उगितश्च ।।4/1/6।।

उगिदन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। भवती। भवन्ती। पचन्ती। दीव्यन्ती।

व्याख्या—उक् है इत् संज्ञक जिसका ऐसा प्रत्यय जिस प्रातिपदिक के अन्त में है ऐसे प्रातिपादिक से स्त्रीत्व द्योतक ङीप् प्रत्यय होता है। इस ङीप् प्रत्यय में ङकार और पकार इत्संज्ञक हैं, उनका लोप होकर केवल 'ई' शेष रहता है। उक् प्रत्याहार है जिसमें उ, ऋ, लृ वर्ण आते हैं, जो इत्संज्ञक है, अतः इसे उगित् कहते हैं। यथा—

(क) भवती = आप—भा धातु से उवतु प्रत्यय होकर 'भवत्' शब्द बनता है। उवतु प्रत्यय में उकार की इत्संज्ञा होने से यह उगित् है, अतः भवत् शब्द उगित् प्रत्ययान्त है, जिससे ङीप् होकर भा + उवतु (अवत्) + ङीप् (ई) भवती स्त्रीत्वसंज्ञक बना इससे 'सु' आकर लोप होकर भवती रूप बनता है।

(ख) भवन्ती = होती हुई—भू धातु से शतृ प्रत्यय, ऊकार को ओ (गुण) तथा अवादेश होकर 'भवत्' शब्द बनता है। शतृ में ऋ इत्संज्ञक होने से वह उगित् है,

1. अकः सवर्णेदीर्घः ।।6/1/101।।

2,3. जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ।।4/1/63।।

जिससे भव्+शतृ (अत्)=भवत् उगिदन्त शब्द बना उससे स्त्रीत्व द्योतक ङीप् होकर भवत्+ई (ङीप्), नुम्[1] का आगम होकर भव+न्+ (नुम्) +त्+ई=भवन्ती, सु का लोप होकर भवन्ती बनता है।

प्रश्न 3. कञ् तथा क्वरप् प्रत्योदाहरण का स्फुट विवेचन करते हुए छात्र शब्द को स्त्रीलिङ्ग में छात्रा या छात्री होता है सप्रमाण लिखें।

1. टिड्ढाणञ् द्वयसज्दघ्नम् मात्रच् तयप्ठक्ठञ् कञ् क्वरपः ।4/1/15।।

अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङीप् स्यात्। कुरुचरी। नदट्-नदी। देवट्-देवी। सौपर्णेयी। ऐन्द्री। औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरुदघ्नी। पञ्चतयी। आक्षिकी। लावणिकी। यादृशी। इत्वरी।

व्याख्या--टित् (टकार है इत् संज्ञक जिसका ऐसा प्रत्यय) और ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच् मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ् कञ्, क्वरप् ये प्रत्यय जिसके अन्त में हैं ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योतक ङीप् प्रत्यय होता है, यदि वह गौण (उपसर्जन) न हो। यथा-

(क) कुरुचरी=कुरु प्रदेशों में विचरण करने वाली स्त्री, कुरुषु प्रदेशेषु चरतीति, इस अर्थ में कुरु (सुबन्त) उपपद होने पर चर धातु से ट् प्रत्यय[2] होकर कुरुचर् शब्द बनता है, जो टिदन्त है। इससे टिड्ढाण्० सूत्र से स्त्रीत्वद्योतक ङीप् होकर कुरुचर+ई (ङीप्), अकार[3] का लोप होकर कुरुचरी रूप बनता है।

(ख) नदी-देवी—नदट् और देवट् शब्द पचादिपठित हैं। जिनमें टित् होने से स्त्रीत्वबोधक 'ङीप्' प्रत्यय होकर नद+ई (ङीप्), देव+ई (ङीप्), अकार का लोप[3] होकर नद्+ई=नदी, एवं देव्+ई=देवी ये रूप बनते हैं।

(ग) सौपर्येथी=सुपर्णी की पुत्री—सुपर्णी शब्द से अपत्य अर्थ में स्त्रीत्वबोधक 'ढक्'[4] प्रत्यय होकर 'ढ्' को एय्[5] आदेश, सु के उकार को वृद्धि औकार, ईकार का लोप[6] होकर ढ प्रत्ययान्त 'सौपर्णेय' यह शब्द बनता है। इससे स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् होकर सौपर्णेय+ङीप् (ई), अकार का लोप होकर=सौपर्णेय+ई (अकारणोप)= सौपणोयी रूप बनता है।

(घ) ऐन्द्री = इन्द्र है देवता जिसका या इन्द्र, सम्बन्धिनी इन्द्रो देवताऽस्याः[7]

---

1. शप्श्यनोर्नित्यम ।।7/1/81।।
2. चरेष्टः ।।3/2/16।।
3. यस्येति च ।।2/4/148।।
4. स्त्रीभ्यो ढक् ।।
5. आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्यादीनाम् ।।7/1/2।।
6. यस्येति च ।।2/4/148
7. साऽस्य देवता ।।4/2/24।।

अथवा इन्द्रस्य इदम्[1], इस अर्थ में इन्द्र शब्द से अण् प्रत्यय होकर आदि वृद्धि, अकार लोप होकर 'ऐन्द्र' यह अण् प्रत्ययान्त शब्द बनता है। इससे स्त्रीत्व बोधक ङीप् होकर ऐन्द्र+ङीप् (ई)='ऐन्द्री' रूप बनता है।

(ङ) औत्सी=उत्स—(जल स्रोत या ऋषि विशेष) सम्बन्धिनी, 'उत्सस्येयम्' इस अर्थ में अञ् प्रत्यय[2] होकर आदि वृद्धि तथा अकार लोप होने पर अञ् प्रत्ययान्त उत्स+अञ्='औत्स' शब्द बनता है। इससे स्त्रीत्व द्योतक ङीप् प्रत्यय होकर ओत्स +ई (ङीप्)=औत्सी रूप बनता है।

(च) ऊरुद्वयसी, ऊरुदघ्नी, ऊरुमात्री=घुटने तक गहरी, ऊरुः प्रमाणमस्याः (ऊरु है माप जिसका) इस अर्थ में ऊरु शब्द से द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय[3] होकर ऊरुद्वयस, ऊरुदघ्न, ऊरुमात्र शब्द बनते हैं, जिससे ङीप् प्रत्यय होकर अकार लोप होने पर ऊरुद्वयस+ङीप्=ऊरुद्वयसी, ऊरुदघ्न+ङीप्=ऊरुदघ्नी, ऊरुमात्र+ङीप्=ऊरुमात्री ये शब्द रूप बनते हैं।

(छ) **पञ्चतयी**=पाँच अवयवों वाली, पञ्च अवयवाः—अस्याः—इस अर्थ में 'पञ्चन्' शब्द से तयप् प्रत्यय[4] होकर 'पञ्चतय' शब्द, उससे स्त्रीत्व द्योतक ङीप् होकर पञ्चतय (अकारलोप)+ङीप्='पञ्चतयी' शब्द रूप बनता है।

(ज) **आक्षिकी**=पासों से खेलने वाली "अक्षैर्दीव्यति" इस विग्रह में 'अक्ष' शब्द से ठक् प्रत्यय[5] होकर, ठक्का क् आदेश, आदि वृद्धि तथा अकार लोप होकर आक्षिक, स्त्रीत्व द्योतक ङीप् होकर आक्षिक+ङीप् तथा अकार लोप होकर 'आक्षिकी' शब्द रूप बनता है।

(झ) **लावणिकी**=नमक बेचने वाली 'त्यवणं पण्यम् अस्याः'—इस अर्थ में 'लवण' शब्द से ठञ् होकर 'लावणिक' शब्द, उससे स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होकर लावणिक+ङीप् (ई), अकार लोप से लावणिकी।

(ञ) **यादृशी**=जैसी—'यत्' शब्द उपपद होने पर दृश् धातु से कञ् प्रत्यय[6] होकर 'आ सर्वनाम्नः' से यत् के तकार (अन्त्य) को आकार होकर 'यादृश' शब्द, उससे स्त्रीत्व द्योतक ङीप् होकर यादृश+ङीप्, अकार लोप होने पर 'यादृशी' बना।

(ट) **इत्वरी**=कुलटा—इण् धातु से 'इण्नशुजिसर्तिभ्यः क्वरप्' इस सूत्र से क्वरप् प्रत्यय होकर इ+वर, तुक् का आगम होने पर इ+तुक्+वर=इत्वर शब्द इससे स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् हो पर अकार लोप होकर इत्वर+ङीप्=इत्वरी।

---

1. तस्येदम् ॥4/3/120॥
2. उत्सादिभ्योऽञ् ॥4/3/86॥
3. प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच ॥5/2/37॥
4. संख्याया अवयवे तयप् ॥5/2/42॥
5. तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ॥4/4/2॥
6. त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च ॥3/2/60॥

प्रश्न 4. "नञ् स्नञीकक् ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम् ।।" स्त्रैणी । पौंस्नी । शाक्तीकी । याष्टीकी । आढ्यङ्करणी । तरुणी । तलुनी ।

व्याख्या—नञ्, स्नञ्, ईकक्, और ख्युन् प्रत्ययान्त तथा तरुण और तलुन शब्दों से भी ङीप् प्रत्यय होता है । यथा—

(क) **स्त्रैणी**—स्त्रीसम्बन्धिनी—स्त्री शब्द से अपत्यादि अर्थों में 'नञ्'[1] प्रत्यय होकर स्त्री+न, आदि वृद्धि तथा नकार को णकम् करने पर स्त्रैण शब्द, उससे स्त्री लिङ्ग में ङीप् होकर, अकार लोप से स्त्रैण+ई=स्त्रैणी ।

(ख) **शाक्तीकी**=शक्ति नामक अस्त्र वाली, 'शक्तिः प्रहरणमस्याः' इस विग्रह में 'शाक्ति' शब्द से ईकक् प्रत्यय[2], आदिवृद्धि, शक्ति के इकार का लोप[3] होकर 'शाक्तीक' शब्द बना उससे स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय से शक्तीक+ई=शाक्तीकी । इसी प्रकार 'यष्टिः प्रहरणमस्याः' से याष्टीकी ।

(ग) **आढ्यङ्करणी**=धनवान् बनाने वाली "अनाढ्यः आढ्यः क्रियतेऽनया" इस विग्रह में आढ्य उपपद होने पर कृ धातु से ख्युन्[4] प्रत्यय होकर यु को अन होकर आढ्य+कृ+अन, मुम्[5] का आगम्, गुण और नकार को णकार होने पर—आढ्यङ्करण, उससे स्त्रीत्व में ङीप् होकर आढ्यङ्करण+ङीप्=आढ्यङ्करणी ।

(घ) तरुणी, तलुनी=युवती—तरुण एवं तलुन शब्द से ङीप् प्रत्यय, 'यस्येति च' से अन्तिम अकार का लोप करने पर तरुण+ङीप्=तरुणी तथा तलुन+ङीप्=तलुनी रूप बनते हैं ।

5. यञश्च ।।4/1/16।।

यञन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । अकार लोपेकृते ।

व्याख्या—यञ् अन्त वाले प्रातिपदिक से स्त्रीत्व बोधक ङीप् प्रत्यय होता है । जैसे—गार्ग्य+ङीप्=गार्ग्य+ई, इस स्थिति में 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप करने पर ।

6. हलस्तद्धितस्य ।।6/4/150।।

हलः परस्य तद्धितयकारस्योपधाभूतस्य लोप ईति परे । गार्गी ।

व्याख्या=हल से परे जो तद्धित का यकार उपधारूप में होता है, उसका लोप हो जाता है, ईकार परे होने पर । यथा—

---

1. स्त्रीपुंसाभ्यां नञ् स्नञौ भवनात् ।।4/1/87।।
2. शक्तियष्ट्योरीकक् ।।
3. यस्येति च ।।
4. आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन् ।।3/2/56।।
5. अरुर्द्विषदजन्तस्यमुम् ।।6/3/67।।

(क) **गार्गी** = गर्गगोत्र की स्त्री–गर्ग शब्द से 'गर्गस्य अपत्यं स्त्री' इस विग्रह में यञ्[1] प्रत्यय होकर, आदि वृद्धि तथा अकार लोप होने पर गर्ग + यञ् = गार्ग्य, इससे सूत्रानुसार, स्त्रीत्व में ङीप् होकर गार्ग्य + ङीप् (ई), अकार लोप 'हलस्तद्धितस्य' से यकार लोप होकर = गार्गी।

ङीष्प्रत्यय—

7. षिद्गौरादिभ्यश्च ॥4/1/41॥

षिद्भ्यो गौराभ्यश्च स्त्रियां ङीष् स्यात्। गार्ग्यायिणी। नर्तकी। गौरी।

आमनडुहः स्त्रियां वा ॥

अनडुही, अनड्वाही। आकृतिगणोऽयम्।

व्याख्या—षित् (षकार इत्संज्ञक वाले) प्रातिपदिक से तथा 'गौर' आदि शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है। ङीष् में 'ई' शेष रहता है तथा षकार इत्संज्ञक है। यथा—

(क) **गार्ग्यायिणी** = गर्ग की स्त्री सन्तान। गर्ग + यञ् (य) आदि वृद्धि से = गार्ग्य + ष्फ[2] (आयन) = गार्ग्यायण, ष्फ प्रत्यय में षकार इत्संज्ञक होने से यह षित् है अतः 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीष् होने पर गार्ग्यायण + ई = 'गार्ग्यायिणी' बना।

(ख) नर्तकी = (नृत्य करने वाली) नृत् + ष्वुन्[3]—वु को अक आदेश = नर्तक + ङीष् (षित् होने से)—अन्त्य अकार का लोप = नर्तकी।

(ग) **गौरी** = स्त्री, गौर + ङीष् (ई), अन्त्य अकार का लोप = गौरी।

(घ) **अनडुही-अनड्वाही** = गौरादिगण स्थित 'अनडुह्' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में आम् का आगम विकल्प से, होने पर—अनडु + आ + ह् + ई (ङीष्) = अनड्वाही आम् का आगम नहीं होने पर—अनडुह् + ई = अनडुही रूप बनता है।

7. वयसि प्रथमे ॥4/1/20॥

प्रथमवयवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियाँ ङीष् स्यात्। कुमारी।

व्याख्या—प्रथम अवस्था के वाचक अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योतक ङीष् प्रत्यय होता है। यथा—

(क) कुमारी = प्रथमावस्था प्राप्त स्त्री, प्रथम अवस्था वाचक 'कुमार' शब्द से ङीष् प्रत्यय = कुमार + ङीष् (ई), यस्येति च से अकार लोप = कुमारी। इसी प्रकार वृद्धावस्था को छोड़कर अन्यों में भी वधूटी, चिरण्टी—वधूट + ङीष्, चिरण्ट + ङीष्।

8. द्विगोः ॥4/1/21॥

अदन्तात् द्विगोङीष् स्यात्। त्रिलोकी। अजादित्वात् त्रिफला। त्र्यनीका (सेना)।

---

1. गर्गादिभ्यो यञ्।
2. प्राचां ष्फ तद्धितः।
3. शिल्पिनि ष्वुन्।

अकारान्त द्विगु समास से ङीष् प्रत्यय होता है। यथा—

(क) **त्रिलोकी** = तीनम लोकों का समूह, त्रयाणां,लोकानाँ समाहारः—द्विगुसमास से त्रिलोक + ङीष् = त्रिलोकी।

प्रश्न 4. त्रिफला में द्विगोश्चेति सूत्र से ङीष् क्यों नहीं होता ?

(ख) **त्रफला** = त्रयाणां फलानां समाहारः इस विग्रह से त्रिफल द्विगुसमास है लेकिन यह शब्द अजगदिजण के होने से यहाँ ङीष् न होकर टाप् होता है—त्रिफल + टाप् = त्रिफला। इसी प्रकार त्रयाणां अनीकानां समाहारः में त्र्यनीक + टाप् = त्र्यनीका।

प्रश्न 5. "वर्णादनुदात्तात् तोपधात् तोनः" सूत्र की सोदाहरण व्याख्या करो।

9. वर्णादनुदान्तात् तोपधात् तो नः ॥4/1/39॥

वर्णवाची जो अनुदात्तान्त है तथा तकार जिनकी उपधा में है ऐसे तदन्त अनुपसर्जन पातिपदिक से विकल्प से ङीप् होता है और तकार को नकार हो जाता है। यथा—

(क) एनी—एता = कबरी, एत + ङीप् = एनी—तकार को नकार होने पर। पक्ष में एत + टाप् = एता।

(ख) **रोहिणी-रोहिता** = लाल रंग वाली—रोहित + ङीप् = रोहिणी, पक्ष में रोहित + टाप् = रोहिता।

प्रश्न 6. स्त्रीत्वविवक्षा में 'साधु' शब्द का स्त्रीवाचक शब्द कैसा होता है ? इस विवेचन के साथ वोतो गुणवचनात् सूत्र की व्याख्या लिखें।

10. वोतो गुणवचनात् ॥4/1/44॥

उकारान्त गुणवाचक शब्द से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् प्रत्यय विकल्प से होता है। यथा—

(क) **मृद्वी-मृदुः** = कोमला—'मृदु' शब्द उकारान्त एवं गुणवाचक है। **अतः** इससे ङीष् प्रत्यय होने पर मृदु + ई (ङीष्) = उकार को **यण्** से वकार, मृद्वी ङीष् के अभाव में मृदुः। इसी प्रकार लघु से लघ्वी व लघुः।

11. बह्वादिभ्यश्च ॥4/1/45॥

बहु आदि शब्दों से स्त्रीलिंग में ङीष् प्रत्यय विकल्प से।

(क) बह्वी, बहुः = (बहुत)—बहु + ङीष् = बह्वी, ङीष् नहीं होने पर बहुः।

(ख) **रात्री-रात्रिः** = रा धातु से त्रिप् प्रत्यय होकर रा + त्रिप् = रात्रि, इसमें कृत् प्रत्यय का इकार अन्त में होने वाले प्रातिपदिक से स्त्रीत्व संज्ञा में ङीष् होता है विकल्प से = रात्रि + ई—इकार का (यस्येतिच से) लोप = रात्री। पक्ष में रात्रिः।

(ग) **शकटी-शकटिः** = गाड़ी। बह्वादिगण सूत्रानुसार क्तिन् प्रत्ययान्त शब्दों के अतिरिक्त सभी कृत् भिन्न इकारान्त शब्दों से ङीष् प्रत्यय विकल्प से होता है। अतः शकटि + ङीष्—(इकार लोप) = शकटी, पक्ष में शकटिः।

प्रश्न 7. पुंयोगादाख्यायाम्—यहाँ पुंयोग शब्द से दाम्पत्य सम्बन्ध होने पर भी केकैयी देवकी ङीष् कैसे हुआ ?

12. पुंयोगादाख्यायाम् ॥4/1/48॥

जो पुरुष वाचक शब्द पुरुष के सम्बन्ध से स्त्री के लिए प्रयुक्त होते हैं, उनसे ङीष् प्रत्यय होता है। यथा—

(क) **गोपी** = गोपाल की स्त्री (गोपस्य स्त्री)। गाः पाति इति = गोपः, तस्य स्त्री = गोप + ङीष् (अकार लोप यस्त्रेत्ति च से) = गोपी।

13. (पालकान्तान्न) प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः ॥7/3/44॥

पालक शब्द अन्त में होने वाले पुंयोग शब्द से ङीष् प्रत्यय नहीं होता है। यथा—प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व अकार को इकार होता है, आप् परे होने पर, यदि वह आप् सुप् से परे न हो। यथा—

(क) **गोपालिका** = गोपाल की स्त्री (जो स्वयं गोपालती है), यहाँ पुंयोग से ङीष् प्राप्त था किन्तु 'पालकान्तान्न' इस वार्तिक से ङीष् का निषेध होकर अकारान्त से टाप् होकर पूर्व के अकार का इकार होने पर—गोपालक + टाप् = गोपालिका। इसी प्रकार अश्वपालिका—(अश्वपालक + टाप्)।

(ख) **सर्विका** = सेवा करने वाली। सर्व शब्द से अकच् प्रत्यय[1] = सर्व + अकच् = सर्वक, स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय[2] होकर सर्वक + आ = सर्वका, प्रत्यय स्थित ककार से पूर्व अकार का इकार होकर = सर्विका।

(ग) **कारिका** = कृ धातु से ण्वुल् प्रत्यय, वु को अक, ऋकार को वृद्धि 'आर्' होकर = कृ + वु (अक) = कारक, उससे स्त्रीत्व द्योतक टाप् प्रत्यय तथा प्रत्यय से पूर्व अकार को इकार होकर कारक + आ (टाप्) = कारिका।

(घ) **नौका** = नाव। प्रत्ययस्थित ककार से पूर्व स्थित अकार को ही इकार होता है अतः 'नौका' में प्रत्यय के ककार से पूर्व अकार ही औकार है, अतः यहाँ औकार का इकार नहीं हुआ। नौ + क (स्वार्थिक) = आ (टाप्) = नौका बनी।

(ङ) **शका**—सकने वाली। प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व अकार को ही इकार होता है, प्रत्यय से भिन्न ककार पूर्व रहते अकार का इकार नहीं होगा। यथा शका = शक् (धात से) + अच् (प्रत्यय से) = शक, उससे टाप = शक + टाप् = शका। यहाँ शक में ककार धातु का है न कि प्रत्यय का।

(च) **बहुपरिव्राजका नगरी** = यहाँ ङीष् प्रत्यय नहीं होता है, क्योंकि परिपूर्वक व्रज् धातु से ण्वुल् प्रत्यय से परि + व्रज् + ण्वुल् (अक) = परिव्राजक, बहवः परिव्राजकाः यस्यां (सा नगरी) इस विग्रह में समास होकर सुप् का लुक्, फिर

---

1. अव्यय सर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ॥5/3/71॥

2. अजाद्यतष्टाप् ॥

परिव्राजक से टाप् = परिव्राजका: । यहाँ आप् (लुप्त) सुप् से परे है, अतः अकार को इकार नहीं हुआ ।

14. सूर्याद्देवतायां चाब्वाच्य ।।

सूर्यस्य स्त्री सूर्या । देवतायां किम् ?

सूर्यागस्त्योश्छे च ङ्सां च ।।

य लोप: । सूरी-कुन्ती, मानुषीयम् ।

(क) **सूर्या**=सूर्य की स्त्री देवता । यहाँ सूर्य शब्द पुंयोग से देवता रूप स्त्री के लिये प्रयुक्त होने से ङीष् प्रत्यय का बाधकर चाप् प्रत्यय से सूर्य + चाप् = सूर्या ।

(ख) **सूरी** = (कुन्ती) सूर्य की स्त्री मानुषी । यदि सूर्य देवता की स्त्री मानुषी हो तो वहाँ चाप् प्रत्यय न होकर ङीष् प्रत्यय ही होता है । सूर्य की स्त्री मानुषी= सूर्य+ङीष्=सूरी । अगस्त्य की स्त्री मानुषी=अगस्त्य+ङीष् = अगस्ती । सूर्य और अगस्त्य के यकार लोप छ: और ङीपरे होने पर, 'यस्येतिच' से अकार लोप ।

प्रश्न 8. 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्र' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या कीजिये ।

15. इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्र मृउहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्
।। 4/1/49 ।।

इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृउ, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल और आचार्य इन शब्दों में स्त्रीलिंग में ङीष प्रत्यय तथा आनुक् (आन्) का आगम होता है । यथा

(क) इन्द्राणी = इन्द्र की स्त्री । इन्द्र+आन् + ङीष्, नकार को णकार = इन्द्राणी । इसी प्रकार वरुणानी, भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मृडानी ।

(ख) **हिमानी** = अधिक बर्फ । हिम+आन्+ङीष् ।

(ग) **अरण्यानी** = बड़ावन । अरण्य+आन्+ङीष् ।

(घ) **यवानी** = दोषायुक्त यव । यव + आन्+ङीष् ।

(ङ) **यवनानी**=यवनों की लिपि । यवन+आन्+ङीष् ।

(च) **मातुलानी-मातुली**=भाभी । मातुलस्य स्त्री । मातुल+पुंयोग से ङीष्+विकल्प से आनुक् = मातुलानी । आनुक् नहीं होने पर मातुल+ङीष् = मातुली ।

(छ) **आचार्यानी** = आचार्य की स्त्री । आचार्य शब्द से पुंयोग में ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् का आगम होकर आचार्य+आनुक्+ङीष्=(न का णकार नहीं होता) आचार्यानी । लेकिन स्वयं स्त्री आचार्य हो वहाँ टाप् होकर आचार्या ।

(ज) **अर्याणी-अर्या** = वैश्य-वर्ण की नारी । अर्य वैश्य+आनुक् (विकल्प से)+ ङीष्=अर्याणी, (नकार को णकार) पक्ष में अजाद्यतष्टाप् से अर्य+टाप् = अर्या । इसी प्रकार क्षत्रियाणी-क्षत्रिया ।

प्रश्न 9. 'क्रीतात्करणपूर्वात्' सूत्र की धनेन क्रीता में प्रवृति क्यों नहीं होती ?

(झ) **वस्त्रक्रीती-धनक्रीती** = वस्त्र से खरीदी हुई, धन से खरीदी हुई। वस्त्रक्रीत शब्द से 'क्रीतात्करणपूर्वात्' सूत्र से ङीष् प्रत्यय—वस्त्रक्रीत+ई—अकार लोप = वस्त्रक्रीती।

कहीं ङीष् का निषेध होकर टाप् होता है। यथा धनक्रीता—धनेनक्रीता—'कर्तृकरणेकृता वहुलम्' में बहुल शब्द के ग्रहण से कहीं-कहीं 'गति कारक' की प्रवृत्ति नहीं होती, अत: क्रीत शब्द से पहले सुप् होकर सुवन्त से समास तथा टाप् = धनक्रीत + टाप् = धनक्रीता।

(ञ) **अतिकेशी-अतिकेशा**—केशों को अतिक्रमण करने वाली। 'अतिकेश' शब्द से 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् असंयोगोपधात्' सूत्र से विकल्प से ङीष् होकर—अतिकेश+ई (ङीष्)—अकार लोप = अतिकेशी। ङीष् न होने पर अजाद्यतष्टाप् से अतिकेश + आ (टाप्) = अतिकेशा।

(ट) **चन्द्रमुखी-चन्द्रमुखा**—चन्द्रमा के समान है मुख जिसका इस अर्थ में स्वाङ्गाच्च से ङीष् प्रत्यय—चन्द्रमुख+ङीष्, (अकार लोप) = चन्द्रमुखी। अन्यय अनाद्यतष्टाप् से चन्द्रमुख+टाप् = चन्द्रमुखा।

(ठ) **सुगुल्फा**—सुन्दर हैं गुल्फ जिसके। उपधा में संयोग नहीं होने पर ही ङीष् होता है अत: यहाँ सुगुल्फा में उपधा में फकार के साथ लकार का संयोग होने से 'अजाद्यतष्टाप्' से सुगुल्फ + टाप् = सुगुल्फा बना।

(ड) **शिखा**—शिखा शब्द में ङीष् नहीं होता क्योंकि उपसर्जन और स्वाङ्गवाची में ही ङीष् होता है। शिखा शब्द में ऐसा नहीं है। इसीलिये 'स्वाङ्गाच्-चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' सूत्र से स्वाङ्ग से, उपसर्जन से और असंयोगोपधात्से ही स्त्रीलिङ्ग द्योतक में प्रातिपदिक से ङीष् होता है।

(ढ) **कल्याण क्रोडा**—कल्याणकारी है क्रोड़ा जिसकी ऐसी घोड़ी। (कल्याणी क्रोड़ा यस्या:), इस विग्रह में बहुव्रिहि समास से बने 'कल्याण क्रोड' शब्द से 'स्वाङ्गाच्च०' सूत्र से प्राप्त ङीष् "न क्रोडादिबह्वच:" सूत्र से बाध होकर 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् होकर—कल्याण कोड + टाप् (आ) = 'कल्याणु क्रोडा' बना।

(ण) **सुजघना**—शोभनं जघनं यस्या: (सुन्दर हैं जघन जिसके) इस विग्रह में बहुव्रीहि से बने सुजघन शब्द में 'स्वाङ्गाच्च०' से प्राप्त ङीष् न होकर 'जघन' में बहुत से अच् होने से 'न क्रोडादिबह्वच:' सूत्र से बाधित होकर 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् होकर सुजघन + टाप् = सुजघना बना।

(त) **शूर्पणखा**—छाजले के समान हैं नख जिसके। (शूर्पाणि इव नखानि यस्या:) यहाँ 'स्वाङ्गाच्च०' सूत्र से प्राप्त ङीष् का 'न खमुखात् संज्ञायाम्' सूत्र से बाधित होकर टाप्, (पूर्वपदात् संज्ञायाम्) सूत्र से नकार को ढकार होने पर 'शूर्पणखा' शब्द बनता है। इसी प्रकार गौरमुखा = गौरंमुखं यस्या: इस विग्रह में गौरमुख + टाप् ङीष् का निषेध और गौरमुखा।

(थ) **ताम्रमुखी कन्या**—संज्ञा में ङीष् नहीं होता है। यहाँ 'स्वाङ्गाच्च' से ङीष् होता ही है। क्योंकि 'तांम्रं मुखं यस्याः सा' इस विग्रह में बना हुआ 'ताम्रमुखी' शब्द यौगिक है, यह किसी की संज्ञा नहीं है।

प्रश्न 10. 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' सूत्र में जाति शब्द से क्या विवक्षित है ? सोदाहरण विवेचन कीजिये।

(1) **तटी**—तट जातिवाचक शब्द है, यह स्त्रीलिङ्ग में नियत भी नहीं है, तथा इसकी उपधा में यकार भी नहीं है, अतः इससे 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर तट+ई—(अकार लोप से) = तटी शब्द बनता है। इसी प्रकार बृषली (वृषल जाति की स्त्री), कठी (कठ शाखा को पढ़ने वाली स्त्री), बह्वृची (बह्वृच शाखा को पढ़ने वाली स्त्री) की सिद्धि इसी प्रकार होती है।

(i) **मुण्डा**—(मुण्डी हुई स्त्री) जाति वाचक से ही ङीष् होता है, जाति से इतर होने के कारण यहाँ स्त्रीत्वद्योतक ङीष् न होकर टाप् हुआ है = मुण्ड + टाप् = मुण्डा।

(ii) **बलाका**—जो शब्द स्त्रीलिङ्ग में नियत नहीं होता है वहाँ ही ङीष् होता है अन्यत्र जो शब्द स्त्रीलिङ्ग में नियत होता है वहाँ स्त्रीत्वद्योतक टाप् प्रत्यय होता है—अतः बलाका।

(2) **क्षत्रिया**—जिस शब्द की उपधा में यकार न हो वहाँ पर स्त्रीत्वद्योतक ङीष् होता है अन्यत्र ङीष् न होकर टाप् 'क्षत्रिय + टाप् = क्षत्रिया, बना है।

(3) **हयी (घोड़ी)**—'हय' शब्द की उपधा में यकार होने से यहाँ स्त्रीत्वद्योतक ङीष् का निषेध था किन्तु "योपधप्रतिषेधे हयगययमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः" इस वार्तिक से इन उक्त शब्दों से यकार उपधा में होने पर भी ङीष् होता है—हय+ ङीष्—अकार लोप—हयी, गवयी, मुकयी, मत्सी (यकार लोप होकर), मनुषी (नारी) आदि।

(4) **दाक्षी**—(दक्ष की सन्तान स्त्री)—दक्षस्यापत्यं स्त्री—इस विग्रह में दक्ष शब्द से 'अत इञ्' से दाक्षि बनता है जो अपत्य प्रत्ययान्त होने से जाति वाचक है। यहाँ 'इतो मनुष्यजातेः' सूत्र से ङीष् होकर दाक्षि + ई = इकार लोप (यस्येति च से) होकर दाक्षी।

(5) **कुरूः**—कुरू प्रदेश के राजा की सन्तान स्त्री। कुरू शब्द से अपत्य अर्थ में ण्य प्रत्यय होकर उसका लुक् हो जाता है। अपत्यप्रत्ययान्त मनुष्य जातिवाचक इस कुरू शब्द से स्त्रीद्योतक 'ऊङुतः' सूत्र से ऊङ् प्रत्यय होकर कुरू + ऊ = सवर्ण दीर्घ कुरू, फिर सु होकर कुरू+सु=कुरूः बना।

(6) **पङ्गू**—लंगड़ी। पङ्गु शब्द जातिवाचक नहीं होने से यहाँ 'ऊङुतः' सूत्र से स्त्रीत्वद्योतक ऊङ् प्राप्त नहीं था किन्तु 'पङ्गोश्च' सूत्र से ऊङ् प्रत्यय होकर पङ्गु+ऊ+सु=पङ्गूः रूप बनता है। इसी प्रकार श्वसुर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में

ऊङ् प्रत्यय होकर शकार से परे उकार का तथा रेफ से परे अकार का लोप होकर श्वशुर + ऊ = श्वश्रू + सु = श्वश्रू: बनता है।

प्रश्न 11. 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' यहाँ औपम्य से क्या तात्पर्य है ?

(7) करभोरू:—करभ के समान हैं ऊरू जिसके ऐसी स्त्री। यहाँ 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' सूत्र से उपमानवाची पूर्वपद करभ शब्द है जिसका ऐसे उत्तरपद ऊरू शब्द से ऊङ् स्त्रीत्वद्योतक प्रत्यय होकर करभोरू + ऊ (सवर्ण दीर्घ होकर) + सु = करभोरू: बना।

(8) संहितोरू:—मिले हुये हैं ऊरू जिसके, **शफोरू:** = लक्षणोरू:, वायोरू:। यहाँ संहित, शफ, लक्षण और वाम शब्द ऊरू शब्द के पूर्वपद हैं अतः यहाँ स्त्रीत्व-द्योतक ऊङ् प्रत्यय हुआ है = संहित + ऊरू + ऊ + सु = संहितोरू: बना। इसी प्रकार अन्य शब्द बना।

(9) शार्ङ्गखी—शृङ्गरु की सन्तान स्त्री। शृङ्गरु शब्द से अण् प्रत्यय होकर शार्ङ्गख शब्द बनता है। उससे 'शार्ङ्गखाद्यञो ङीन्' सूत्र से जिसके अन्त में जातिवाचक शब्द है उससे ङीन् प्रत्यय होकर शार्ङ्गख + ङीन् = (अकार लोप) = शार्ङ्गखी। इसी प्रकार वैदी (विद की सन्तान से भी), ब्राह्मणी, नारी, (नृ और नर से आदि वृद्धि होकर = नारी)।

(10) युवतिः—युवन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'युनस्तिः' सूत्र से ति प्रत्यय होकर युवन् (नकार लोप) + ति = युवतिः शब्द बना है।

अथ समास प्रकरणम्

1. अथ केवल समासः—

जिस समास का कोई अन्य नाम नहीं है, उसे केवल समास कहते हैं। यथा—

(1) भूतपूर्वः=पहले हुआ। पूर्वं भूतः इस लौकिक विग्रह में तथा पूर्व अम् भूत सु इस अलौकिक विग्रह में 'सहसुपा' सूत्र से पूर्वम् और भूतः शब्द का विकल्प से समास होने पर 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा, 'सुपो धातु प्रातिपदिकयोः' से 'अम्' और 'सु' विभक्ति का लोप, 'भूतपूर्वेचरट्' इस पाणिनि सूत्र से भूत शब्द का पूर्व निपात होकर—'भूतपूर्व'। इसकी प्रातिपदिक संज्ञा होने से 'सु' विभक्ति, उसका विसर्ग होकर भूतपूर्व + सु = 'भूतपूर्वः' शब्द बना।

(2) वागर्थाविव = वागर्थौ इव इस लौकिक विग्रह में तथा 'वागर्थ औ इव' इस अलौकिक विग्रह में वागर्थौ का इव के साथ समास होता है। 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिक से इव के साथ 'औ' विभक्ति का लोप नहीं होकर "वागर्थौ इव = वागर्थाविव" समास बना। (1985)

2. अथाऽव्ययीभावसमासः—

अव्ययं विभक्ति समीप समृद्धि व्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रति शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्यथानुपूर्व्यंयौगपद्य सादृश्य सम्पत्ति साकल्यान्तवचनेषु ।।2/1/6।। इस सूत्रानुसार विभक्ति, समीप, समृद्धि, व्यृद्धि (ऋद्धि का अभाव), अर्थ (वस्तु) का अभाव, अत्यय (नाश), असंप्रति (अनुचित), शब्द की अभिव्यक्ति, पश्चात्, यथा, अनुक्रम, यौगपद्य (एक साथ होना), सादृश्य, सम्पत्ति, साकल्य (सम्पूर्णता) तथा अन्त, इन अर्थों में वर्तमान अव्यय का सुबन्त के साथ नित्य समास होता है और वह अव्ययीभाव समास कहलाता है। यह नित्य समास होता है जिसके पदों में लौकिक विग्रह नहीं होता है केवल अलौकिक विग्रह ही होता है।

प्रथमान्त पद से जिसका बोध होता है उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है—जैसे अधि की तथा समास में उपसर्जन संज्ञक का पहले प्रयोग होता है—अधिहरिङि। सुपो धातु प्रातिपदिकयोः से ङि (सुप्) का लोप हो जाता है—अधिहरि। तथापि प्रातिपदिक संज्ञा से सुप् होकर 'अधिहरि+सु' रूप होता है तथा 'अव्ययीभावश्च' सूत्र से अव्यय संज्ञा होकर सुप् का 'अव्ययादाप्सुपः' से लोप होकर अधिहरि। यथा—

(1) अधिहरि = हरौ (हरि में)! हरि ङि अधि। अव्ययं विभक्ति सूत्र से विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास। अधि का पूर्वनिपात और ङि का लोप होकर 'अधि हरि' यह समस्त पद, अव्यय संज्ञा से 'अधिहरि+सु' सु का लोप होकर अधिहरि। इसी प्रकार अधिगोपम् = (गोपा में) = गोपि—गोपा ङि अधि। अव्ययं विभक्ति से विभक्त्यर्थ में अधि का गोपा के साथ समास—अधि का पूर्व निपात ङि का लोप—अधिगोपा। अव्ययी भाव में नपुंसकलिंग से गोपा के आ को ह्रस्व-अधिगोप—सु आकर लोप, अम् होकर अधिगोपम्।

(2) उपकृष्णम् = कृष्णस्य समीपम् (कृष्ण के समीप)। तृतीया—सप्तम्यो-र्बहुलम् सूत्र से अकारान्त अव्ययी भाव से परे तृतीया और सप्तमी विभक्ति को प्रायः अम् हो जाता है। अतः कृष्ण ङस् उप—उप कृष्ण ङस्—विभक्ति लोप उपकृष्ण—उपकृष्ण+सु—सुलोप और अम् आमम्—उपकृष्णम्। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भिन्न हैं—

(3) सुमद्रम् = मद्राणां समृद्धि (मद्र देश के राजाओं की समृद्धि)—मद्र+आम्+सु = सुमद्रम्।

(4) दुर्यवनम् = यवनानां व्यृद्धिः (यवनों की दुर्दशा)—यवन आम् दुर् = दुर्यवनम्।

(5) निर्मक्षिकम् = मक्षिकाणाम् अभावः (मक्खियों का भी अभाव)—मक्षिका आम् निर् = (नपु.) निर्मक्षिकम्।

(6) अतिहिमम् = हिमस्य अव्ययः = (बर्फ की समाप्ति)—हित ङस् अति (अव्ययः) = अतिहिमम्।

(7) अतिनिद्रम् = निद्रा सम्प्रति न युज्यते (निद्रा इस समय उचित नहीं है)—निद्रा ङस् अति = अतिनिद्रम् ।

(8) इतिहरि = हरि शब्दस्य प्रकाश: (हरि शब्द का उच्चारण) हरि ङस् इति (प्रादुर्भाव अर्थ में अव्यय) = इतिहरि ।

(9) अनुविष्णु = विष्णो: पश्चात् (विष्णु के बाद)—विष्णु ङस् अनु = अनुविष्णु ।

(10) अनुरूपम् = रूपस्य योग्यम् = (रूप के योग्य)—योग्यता अर्थ में 'अनु' अव्यय का रूप के साथ (रूप ङस् अनु) अव्ययी भाव समास—अनुरूपम् हुआ है ।

(11) प्रत्यर्थम् = अर्थम् अर्थ (प्रत्येक अर्थ में) यहाँ वीप्सा अर्थ में प्रति (अव्यय) का अर्थ (सुवन्त) के साथ (अर्थ अम् प्रति) अव्ययी भाव समास ।

(12) यथाशक्ति = शक्तिम् अनतिक्रम्य (शक्ति का अतिक्रमण न करके अर्थात् शक्ति के अनुसार)—यहाँ पदार्थानतिवृत्ति के अर्थ में यथा (अव्यय) का शक्ति (सुबन्त) के साथ अव्ययी भाव समास—शक्ति अस् यथा = यथाशक्ति ।

(13) ससखि=सदृश: सख्या (सखा के समान)। कालवाची उत्तर पद न होने पर 'सह शब्द का स' हो जाता है । अत: सादृश्य अर्थ में 'सह' अव्यय का सखि (सुबन्त) के साथ—'सखि टा सह' अव्ययी भाव समास होकर सह सखि—ससखि बना है । इसी प्रकार सहरि ।

(14) अनुज्येष्ठम् = ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण (ज्येष्ठ के क्रम से)—आनुपूर्व्य (क्रम) अर्थ में अनु (अव्यय) का ज्येष्ठ के साथ अव्ययी भाव समास—ज्येष्ठ ङस् अनु = अनुज्येष्ठम् ।

(15) सचक्रम् = चक्रेण युगपत् (चक्र के साथ)—यौगपद्य अर्थ में सह (अव्यय) का चक्र (सुबन्त) के साथ अव्ययी भाव समास—(सह को स) चक्र टा सह= सचक्रम् ।

(16) सक्षत्रम् = क्षत्राणां सम्पत्ति: (क्षत्रियों की सम्पत्ति)—सम्पत्ति अर्थ में सह (अव्यय) का क्षत्र (सुबन्त) के साथ अव्ययी भाव समास = सक्षत्रम् ।

(17) सतृणम् = सतृणमपि अपरित्यज्य (तिनके को भी न छोड़कर अर्थात् सब कुछ)—साकल्य अर्थ में—तृण टा सह = सतृणम् ।

(18) साग्नि=अग्निग्रन्थपर्यन्तम् अधीते = (अग्नि सम्बन्धी ग्रन्थ तक पढ़ता है)—पर्यन्त (अन्त) अर्थ में सह अग्नि साग्नि । अव्ययी भाव के इन समस्त प्रयोगों में अव्यय का पूर्व प्रयोग, सुप् का लोप तथा समस्त पद में 'सु' को अम् या उसका लोप होता है ।

(19) द्वियमुनम् = द्वयो: यमुनयो: समाहार: (दो यमुनाओं का समाहार)—नदीभिश्च सूत्र से नदी विशेषवाची शब्दों के साथ संख्यावाची शब्दों का जो समास होता है वह अव्ययी भाव समास होता है ।

(20) पञ्चगङ्गम् = पञ्चानां गङ्गानां समाहार (पाँच गंगाओं का समाहार)—पञ्चन् जस् गङ्गा जस्। पञ्च शब्द प्रथमान्त व संख्यावाची होने से उसकी उपसर्जन संख्या व उसका पूर्व प्रयोग, नकार लोप, सुप् लोप, नपुंसक में गंगा को ह्रस्व होकर पञ्चगङ्ग सु—अम् = पञ्चगङ्गम्।

(21) प्रतिविपाशम् = विपाशायाः अभिमुखम् (विपाशा की ओर)—'तक्षणेनाभि प्रति आभिमुख्ये' सूत्र से 'प्रति' अव्यय का विपाश (व्यास नदी) के साथ समास होकर 'अव्ययी भावे शरत्प्रभृतिम्यः' सूत्र से सामासान्त टच् प्रत्यय होकर (सु—अम् होकर विपाशा ङस् प्रति—प्रति विपाशा टच् सु—अम्=प्रति विपाशम्। अराया समीपम्—उपजरसंम्।

(22) अध्यात्मम्=आत्मनि अधि (आत्मा के विषय में) आत्मन् ङि अधि—अधि आत्मन् टच् (अ) 'अनश्च' सूत्र से अन् का लोप—अध्यात्म सु—अम् = अध्यात्मम्। इसी प्रकार उपाजम्।

(23) उपचर्मम् = चर्मणः समीपम् (चर्म के समीप)—चर्मन ङस् उप—उपचर्मन्—अन् समासान्त से लोप+उपचर्म सु—अम् होकर+उपचर्मम्। समासान्त टच् नहीं होने पर उपचर्मन्—उपचर्म।

(24) उपसमित्, उपसमिधम्+समिधः समीयम् (समिपा के समीप)—समिध् ङस् उप—समासान्त टच् होने पर उपसमिधम्। टच् नहीं होने पर उपसमित अव्ययी भाव समास।

(25) कृष्णाश्रितः+कृष्णंश्रितः (कृष्ण पर आश्रित)—'द्वितीया श्रितातीत-पतितगतात्यस्त प्राप्तापन्नैः' सूत्र से द्वितीयान्त का श्रित (आश्रित), अतीत (पार हुआ), पतित (गिरा हुआ), गत (गया), अत्यस्त (फेंका हुआ), प्राप्त, आपन्न (पाया हुआ) इन शब्दों का सुबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुष समास होता है। कृष्णम् श्रितः—सुप्त्का लोप—कृष्णश्रित—प्रथमा एकवचन में सु होकर—कृष्णश्रितः। इसी प्रकार दुःखातीतः, कूपपतितः, ग्रामगतः, तुहिनात्यस्तः, सुख प्राप्तः, दुःखापन्नः आदि।

(26) धान्यार्थः+धान्येन अर्थः (धान्य से धन)—"तृतीया तत्कृतार्थेन गुण-वचनेन' सूत्र से धान्य टा अर्थ—सु होकर धान्यार्थः तत्पुरुष समास बना।

(27) नखनिर्भिन्नः+नखैः निभिन्नः (नखों से फाड़ा हुआ)। 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' सूत्र से गति (प्र; परा आदि) पूर्वक कृदन्त शब्दों से तृतीया तत्पुरुष समास होता है। नख भिस् निर्भिन्न सु—नख निर्भिन्नः इसी प्रकार नखभिन्नः। हरियातः आदि।

(28) यूपदारु+यूपायदारु (यज्ञ स्तम्भ के लिए काष्ठ)—"चतुर्थीतदर्थार्थ बलिहित सुखरक्षितैः" सूत्र से चतुर्थ्यन्त अर्थवाचक वस्तु-शब्द, अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित इन शब्दों के साथ चतुर्थीतत्पुरुष समास विकल्प से होता है। यथा यूप ङे दारु सु—यूपदारु।

(29) द्विजार्थं पयः = द्विजाय इदम् इति (यह दुग्ध द्विज के लिये है)—'अर्थेन नित्य समासो विशेष्यलिङ्गता च वक्तव्यम्' इस वार्तिक से अर्थ शब्द के साथ नित्य समास तथा समस्त पद का विशेष्य के समान लिङ्ग—द्विज ङे अर्थ सु = द्विजार्थं पयः। इसी प्रकार—द्विजाय इयम्—द्विजार्था यवागूः। द्विजाय अयम्—द्विजार्थः। भूतेभ्यो बलिः भूतबलिः। गोभ्यः हितम्—गोहितम्। गोभ्यः सुखम्—गोसुखम्।

(30) कृच्छ्रादागतः = कृच्छ्रात् आगतः (कष्ट से आया हुआ) 'स्तोकान्तिक-दूरार्थ कृच्छ्राणि क्तेन' सूत्र से पंचमी तत्पुरुष समास—तथा पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः सूत्र से विभक्ति का लोप नहीं होता। कृच्छ्रात् आगतः—कृच्छ्रादागरुः। इसी प्रकार—स्तोकान्मुक्तः। अन्ति कादागतः। दूरादागतः।

(31) राज पुरुषः = राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष)—राजन् ङस् पुरुष सु—'षष्ठी' सूत्र से षष्ठी तत्पुरुष समास होता है।

(32) अपरकायः = अपरं कायस्य (शरीर का पिछला भाग)—'अपर अम् काय ङस्' इस विग्रह में 'पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे' सूत्र से अव्ययी वाचक शब्दों के साथ एकत्व संख्या युक्त होने पर तत्पुरुष समास—अपर का पूर्व निपात—अपरकायः। इसी प्रकार—पूर्बकायः।

(33) अर्धपिप्पली = अर्धं पिप्पल्याः (पीपली का अर्ध भाग)—'अर्धं नपुंसकम्' सूत्र से 'अर्ध अम् पिप्पली ङस्' विग्रह में अर्ध शब्द का पूर्व निपात होकर 'अर्धपिप्पली' यह पूर्व पद प्रधान तत्पुरुष समास है।

(34) अक्षशौण्डः = अक्षेषु शौण्डः (पासे फेंकने में चतुर) 'सप्तमी शौण्डैः' सूत्र से 'अक्ष सुप् शौणु सु' विग्रह से सप्तमी तत्पुरुष समास।

(35) सप्तर्षयः='सप्त च ते ऋषयः' (सात ऋषि)—दिक्संख्ये संज्ञायाम् सूत्र से समानाधिकरण तत्पुरुष समास। संख्यावाची का पूर्व निपात, सुप् का लोप् करने से सप्तर्षि—प्रथमा बहुवचन में सप्तर्षयः। इसी प्रकार—पञ्च ब्राह्मणाः।

(36) पौर्वशालः = पूर्वस्यां शालायां भव = (पूर्व शाला में उत्पन्न हुआ)—'पूर्वा ङि शाला ङि' विग्रह में 'तद्धितेष्वचामादेः' सूत्र से तद्धितार्थ में तत्पुरुष समास, सुप् का लोप होकर पूर्वा शाला, पूर्वा को पुंवद् भाव तथा 'दिक्पूर्वपदाद संज्ञायां ञः' सूत्र से 'ञ' तद्धित प्रत्यय—पूर्वशाला + अ (ञ)—आदि वृद्धि तथा लकार के आगे आकार का लोप—पौर्वशाल—प्र. एकवचन में पौर्वशालः।

(37) पञ्चगवम् = पञ्चानां गवां समाहारः (पाँच गायों का समुदाय) पञ्चन् आम् गो आम् 'तद्धितार्थ' से समाहार अर्थ में तथा 'संख्यापूर्वो द्विगु' से द्विगु समास। सुप् का लोप—'पञ्चन् गो' 'म' का लोप तथा समासान्त एच् प्रत्यय—पञ्च गो + अ 'टच्' आकार को अब आदेश—पञ्चगव 'द्विगुरेक-वचनम्' से एकवचन तथा 'स नपुंसकम्' से नपुंसकलिग होकर प्रथमा एकवचन में पञ्च गवम्।

(38) नीलोत्पलम्=नीलम् उत्पलम् (नीला कमल)—'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' सूत्र से विशेषण वाची शब्द का पूर्व निपात—नील सु उत्पल सु। सुप् को लोप नपुंसकलिंग तथा एकवचन—नीलोत्पलम्। कृष्णसर्पः (कर्मधारय-कालासर्प)।

(39) पञ्चगवधनः=पञ्च गावो धनं यस्य (पाँच गायें हैं धन जिसका)—इस लौकिक विग्रह में तथा 'पञ्चन् जस् गो जस् धन सु' इस अलौकिक विग्रह में बहुव्रीहि समास होने पर उत्तर पद परे रहते पञ्च और गो शब्द का तत्पुरुष समास होता है। सुप् का लोप होकर तथा न का लोप होकर 'पञ्चगोधन' 'गोरतद्धितलुकि' सूत्र से 'पञ्चगो' से समासान्तस्व्, ओ को अव् होकर—पञ्चगवधन, प्रथमा एकवचन में पञ्चगवधनः।

(40) घनश्यामः=घन इव श्यामः (घन के समान श्याम)—इस लौकिक तथा 'घन सु श्याम सु' इस अलौकिक विग्रह में 'उपमानानि सामान्यवचनैः' सूत्र से उपमान वाचक 'घन' शब्द का समान धर्मवाचक 'श्याम' शब्द के साथ कर्मधारय (तत्पुरुष) समास हुआ है।

(41) शाकपार्थिवः=शाकप्रियः पार्थिवः (शाक में रुचि रखने वाला राजा)—इस लौकिक तथा 'शाकप्रिय सु पार्थिव सु' इस अलौकिक विग्रह में 'शाक पार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपद लोपस्योपसङ्ख्यानम्' वार्तिक से 'शाकप्रिय' के उत्तर पद 'प्रिय' का लोप होकर तत्पुरुष समास बना। इसी प्रकार देव पूजको ब्राह्मणः—देवब्राह्मणः।

(42) अब्राह्मणः=न ब्राह्मणः (ऐसा व्यक्ति जो ब्राह्मण नहीं है)—इस लौकिक तथा 'नञ् ब्राह्मण सु' इस अलौकिक विग्रह में 'नञ्' सूत्र से नञ् का सुबन्त के साथ समास। 'न लोप नञ्' सूत्र से नकार लोप अ+ब्राह्मण—अब्राह्मणः।

(43) अनश्वः=न अश्वः (ऐसा जानवर जो अश्व नहीं है)—नञ् अश्व सु। 'सस्मांन्नुउचि' सूत्र से नकार लोप होकर 'नु' का आगम होकर अ+न्+अश्व= अनश्व—प्रथमा एकवचन में अनश्वः।

(44) कुपुरुषः=कुत्सितः पुरुषः (बुरा मनुष्य) 'कुगतिप्रादयः' सूत्र से 'कु' अव्यय का सुबन्त 'पुरुष' के साथ समास होकर तत्पुरुष समास। सुपुरुषः।

(45) ऊरीकृत्य=स्वीकृत्य (स्वीकार करके)—कृ के योग में ऊरी शब्द का 'कुगतिप्रादयः' से गति समास, क्त्वा के स्थान पर 'समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वो ल्यप्' से ल्यप् होकर कृ से परे तुक् का आगम होकर ऊरी कृत्य=ऊरीकृत्य। इसी प्रकार च्वि प्रत्यय से शुक्लीकृत्य। डाच् प्रत्ययान्त से पट पटाकृत्य। प्राचार्यः।

(46) अतिमालः=अतिक्रान्तो मालाम् (अतिक्रमण कर गया माला को) अति माला अम्। 'अति' की 'प्रथमा निर्दिष्ट' सूत्र से उपसर्जन संज्ञा तथा उसका पूर्व निपात, सुप् का लोप—अतिमाला। माला शब्द की 'एक विभक्ति चापूर्व निपाते' से उपसर्जन संज्ञा होकर 'आ' को ह्रस्व (अ) होकर अतिमाल—प्र० एकवचन में अतिमालः।

(47) कुम्भकारः=कुम्भं करोति । 'कुम्भ ङस् कार' इस अलौकिक विग्रह में 'उपपदमतिङ्' सूत्र से समास होकर नित्य समास कुम्भकारः । उपपद समास ।

(48) व्याघ्री=व्याजिघ्रति (विशेष रूप से चारों ओर सूँघती है). इस में वि आङ् पूर्वक 'घ्रा' धातु से 'क' प्रत्यय (आतश्चोपसर्गे), व्या+घ्रा+अ (क)—घ्रा के आ का लोप व्या+घ्र, प्राघ्र से परे सुप् आने से पहले ही गति समास हो जाता है । व्याघ्र जातिवाचक है इसलिये 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' सूत्र से ङीष् होकर व्याघ्र+ङीष् = व्याघ्री । इसी प्रकार अश्व क्रीती—अश्व क्रीत+ङीष् 'क्रीतात् करण पूर्वात्' सूत्र से ।

(49) निरङ्गुलम् = निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः (अंगुलियों से निकला हुआ) । निर् का अङ्गुलि के साथ 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' से प्राति समास, समासान्त अच् प्रत्यय, लि के इकार का 'यस्येति च' से लोप होकर—निरङ्गुलम् । इसी प्रकार द्व्यङ्गुलम् ।

(50) अहोरात्रः = अहश्च रात्रिश्च (दिन और रात) । 'अहन् सु रात्रि सु' इस में सुप् लोप होकर न् को रु तथा उत्व होकर 'अहोरात्रि' और समासान्त अच् प्रत्यय, 'इ' का लोप, 'रात्राह्नाहाः पुंसि' सूत्र से पुंल्लिग होकर अहोरात्रः । इसी प्रकार सर्वरात्रः, संख्यातरात्रः । द्वन्द्व ।

(51) द्विरात्रम् = द्वयोः रात्र्योः समाहारः (दो रात्रियों का समुदाय) । द्वि शब्द का रात्रि शब्द के साथ 'तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च' सूत्र से समाहार अर्थ में द्विगुसमास । समासान्त अच्, 'संख्यापूर्वं रात्रं क्लीवम्' वार्तिक से नपुंसक लिंग होकर द्विरात्रम् । इसी प्रकार त्रिरात्रम् ।

(52) परमराजः = परमश्चा सो राजा च (बड़ा या अच्छा राजा) । कर्मधारय समास । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' सूत्र से टच् होकर परम राजन्+टच् (अ), अन् का लोप—परमराज+सु=परमराजः ।

(53) महाराजः=महान् च असौ राजा । महत्+सु+राजन्+सु, महत् को समानाधिकरण 'राजन्' शब्द परे आकार अन्तादेश टच् प्रत्यय, नकार लोप होकर महाराजः । इसी प्रकार महावीरः, महापुरुषः ।

(54) त्रयोदशः = त्रयश्च दश च (तीन और दश अर्थात् तेरह) । त्रि शब्द का दशन् शब्द के साथ द्वन्द्व समास । त्रि को 'त्रेस्त्रयः' सूत्र से त्रयस् होकर त्रयस्+दशन्, स् को रु तथा उ होकर त्रयोदश । इसी प्रकार=त्रयोविंशतिः, त्रयस्त्रिशत् ।

(55) अर्धपिप्पली = अर्धं पिप्पल्याः (पिप्पली का अर्ध भाग)—इस तत्पुरुष समास में 'परवलिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः' सूत्र से परपद पिप्पली स्त्रीलिङ्ग होने से समस्त पद स्त्रीलिंग हो गया ।

(56) अर्धर्चम् अर्धर्चः = ऋचोऽर्धम् (ऋचा का अर्धभाग) (अर्धं नपुंसकम्) तत्पुरुष समास । समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर अर्ध+ऋच्+अ=अर्धर्च (समस्त पद) ।

यहाँ परपद ऋच् शब्द स्त्रीलिंग है किन्तु समस्त यदस्त्रीलिंग न होकर 'अर्धर्चाः पुंसि च' सूत्र से पुलिंग और नपुंसक लिंग दोनों होते हैं—अर्धर्चम् ।

अथ बहुव्रीहिसमासः ।

(57) कण्ठेकालः=कण्ठे कालः यस्य सः (कण्ठ में है काल जिसके, ऐसा-नीलकण्ठ महादेव) बहुव्रीहि समास । 'सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ' से कण्ठे (सप्तम्यन्त) का पूर्व प्रयोग तथा 'हलन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' सूत्र से सप्तमी का अलुक् होकर प्रथमा एक वचन में कण्ठेकाल+सु=कण्ठेकालः । इसी प्रकार वनेचरः, सरसिजम् ।

(58) पीताम्बरो हरिः=पीतम् अम्बरं यस्य सः (पीला है वस्त्र जिसका, ऐसा हरि) । षष्ठी विभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है । इसी प्रकार वीर पुरुष को ग्रामः (सप्तमी के अर्थ में) बहुव्रीहि समास है ।

(59) अविद्यमान पुत्रः—अपुत्रः=अविद्यमानः पुत्रो यस्य सः (नहीं है पुत्र जिसके ऐसा) । 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपद लोपः' वार्तिक से नञ् से परे अस्त्यर्थक विद्यमान शब्द से बहुव्रीहि समास होता है । अविद्यमान शब्द के साथ पुत्र के साथ समास होकर अपुत्रः (विद्यमान शब्द का लोप करने पर) तथा अविद्यमान पुत्रः (विद्यमान शब्द का लोप नहीं करने पर) ये रूप बनते हैं ।

(60) चित्रगुः=चित्रा गावेयस्य (चित्रा है गाय जिसकी ऐसा) । षष्ठी विभक्ति के अर्थ में 'अनेकमन्यपदार्थे' सूत्र से बहुव्रीहि समास । चित्रा+गो—"स्त्रियाः पुंवद्भाषित पुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियाभपूरणी प्रियादिषु" सूत्र से स्त्रीलिंग गो शब्द परे होने पर चित्रा को पूंवद्भाव हो चित्र तथा गो के ओकार को 'गोस्त्रियोरुप सर्जनस्य' से ह्रस्व 'उ' होकर—चित्र+गु+सु—चित्रगुः । इसी प्रकार रूपवद्भार्यः ।

(61) स्त्रीप्रमाणः=स्त्री प्रमाणी यस्य सः (स्त्री है प्रमाण जिसका, ऐसा) । षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहिसमास । 'अप्पूरणीप्रमाण्योः सूत्र से समासान्त 'अप्' प्रत्यय होकर 'ई' का लोप होकर स्त्रीप्रमाण+सु=स्त्रीप्रमाणः ।

(62) जलजाक्षी=जलजे इव अक्षिणी यस्याः सा (कमल के समान हैं आँखें जिसकी) । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' सूत्र से षष्ठ्यर्थ में बहुव्रीहि समास, समासान्त षच् प्रत्यय तथा 'इ' का लोप होकर जलज+अक्ष=जलजाक्ष—स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होकर 'जलजाक्षी' बनता है ।

(63) 'द्वित्रिभ्याँ षः मूर्ध्नः'=सूत्र से द्वि और त्रि शब्दों से परे मूर्धन् शब्द को समासान्त 'ष' प्रत्यय होकर बहुव्रीहि समास बनता है । यथा—

(क) द्विमूर्धः=द्वौ मुर्धानौ यस्य सः (दो सिर हैं) जिसके द्वि+मूर्धन्+अ (ष)—नस्तद्धिते से अन् का लोप—द्विमूर्धः । इसी प्रकार त्रिमूर्धः ।

(64) अन्तर्लोमः=अन्तर् लोमानि यस्य सः (भीतर हैं लोम जिसके, ऐसा) । 'अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः' सूत्र से अन्तर् और बहिर् शब्द से परे लोमन् शब्द को

समासान्त अप् प्रत्यय होकर अन्तर्+लोमन्+अप्—नस्तद्धिते से अन् का लोप—अन्तर्+लोम+सु=अन्तर्लोमः। इसी प्रकार बहिर्लोमः।

(65) व्याघ्रपात्=व्याघ्रस्येव पादौ यस्य सः (बाघ के समान हैं पैर जिसके)। 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' सूत्र से हस्ति आदि से भिन्न उपमान से परे पाद शब्द के अन्त्य अकार का लोप होकर—व्याघ्र+पाद=व्याघ्रपात्। बहुव्रीहि समास। इसी प्रकार 'संख्यासुपूर्वस्य' सूत्र से द्विपात्। सुपात्।

(66) सुहृन्मित्रम्=शोभनं हृदयं यस्य सः (अच्छा है हृदय जिसका वह मित्र)। "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" सूत्र से सु और दुर् से परे हृदय शब्द को मित्र और शत्रु अर्थ में हृद होकर सुहृन्मित्रम्। दुष्टं हृदयं यस्यसः दुर्हृदमित्रः। बहुव्रीहि समासः।

(67) व्यूदोरस्कः=व्यूढम् उरोयस्य (विशाल है छाती जिसकी)। 'उरः प्रभृतिस्यः कप्' सूत्र से कप् प्रत्यय होकर—व्यूढ+उरस्+क—स् को विसर्ग तथा विसर्ग को स्=व्यूढोरस्कः। बहुव्रीहि समास।

(68) प्रिय सर्पिष्कः=प्रियं सर्पिः यस्य सः (घृत है प्रिय जिसको—वह)। 'उरः प्रभृतिभ्यः' सूत्र से कप् प्रत्यय तथा 'इणः षः' सूत्र से इण् से परे विसर्ग को 'ष्, हो जाता है—प्रिय+सर्पिस्+क=प्रियसर्विष्कः।

(69) महायशस्कः—महायशाः=महद् यशो यस्य (महान् यश है जिसका)—शेषाद्विभाषा' सूत्र से बहुव्रीहि समास में विकल्प से कप् प्रत्यय होता है। महत्+यशस्—"आन्म हतः समानाधिकरणजातीययोः" सूत्र से महत् के त् को 'आ' होकर महायशस्+क=महायशस्कः। कप् प्रत्यय नहीं होने पर महत्+यशस्=महायशस्—सुलोप, शकार से परे अकार को दीर्घ तथा स् का विसर्ग=महायशाः।

अथ द्वन्द्व समासः=चार्थे द्वन्द्वः सूत्र से 'च' के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का विकल्प से समास होता है जिसको द्वन्द्व कहते हैं। यथा—

(70) धव खदिरौ=धवश्च खदिरश्च (धव और खदिर) इतरेतर योग में द्वन्द्व समास। धव+सु+खदिर सु विभक्ति लोप से समस्त पद—धव खदिर। दो होने से प्रथमाद्विवचन में 'औ' विभक्ति आने पर धव खदिरौ बनता है।

(71) राजदन्तः=दन्तानां राजा (दाँतों का राजा)। 'प्रथमा-निर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' सूत्र से दन्त शब्द की उपसर्जन संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से उसका पूर्व-प्रयोग विहित है। यहाँ 'राजदन्तादिषु परम्' सूत्र से दन्त शब्द का 'पर' प्रयोग होकर षष्ठ्यर्थ तत्पुरुष समास होता है।

(72) धर्मार्थौ=अर्थ धर्मौ=अर्थश्च धर्मश्च (अर्थ और धर्म)। 'धर्मादिष्व नियम' वार्तिक से इतेतर द्वन्द्व में अर्थ और धर्म में पहले किसे रखा जाये, यह नियम नहीं होने से अर्थ सु+धर्म सु=विभक्ति लोप होकर दो रूप बनते हैं—अर्थ धर्मौ-धर्मार्थौ।

(1983)

(73) हरिहरौ = हरिश्च हरश्च (हरि और हर) 'द्वन्द्वे घि' सूत्र से इतरेतर द्वन्द्व समास में घि (इकारान्त) संज्ञक (हरि) को पूर्व पूर्व प्रयोग होता है—हरि सु + हर सु = हरि हरौ।

(74) ईशकृष्णौ = ईशश्च कृष्णश्च (ईश और कृष्ण)। इस विग्रह में इतरेतर द्वन्द्व समास। अजाद्यदन्तम् सूत्र से ईश शब्द अजादि (स्वर है आदि में जिसके) और अकारान्त है। अतः उसका पूर्व प्रयोग होकर ईशकृष्णौ बना।

(75) शिवकेशवौ = शिवश्च केशवश्च (शिव और केशव)। 'अल्पाच्तरम्' सूत्र से अल्प (थोड़े) हैं अच् (स्वर) जिसमें ऐसे शिव शब्द का पूर्व प्रयोग होकर इतरेतर द्वन्द्व समास शिवकेशवौ बना है।

(76) पितरौ = माता च पिता च (माता और पिता)। 'पिता मात्रा' सूत्र से मातृ और पितृ में केवल एक पितृ शब्द शेष रहता है जिसका अर्थ माता और पिता दोनों होता है। अतः इसका द्विवचन में प्रयोग होता है—पितरौ। इसे एक शेष (द्वन्द्व) समास कहते हैं।

जब एक शेष नहीं होता तो पूज्य होने से 'मातृ' का प्रयोग पूर्व में 'मातृ + पितृ' होकर मातृ के ऋ को आनङ् होकर 'माता पितरौ' द्वन्द्व बनता है।

(77) पाणिपादम् = पाणी चपादौ च (हाथ और पैर)। "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य सेनाङ्गानाम्" सूत्र से प्राणी, तूर्य (वाद्य) तथा सेना के अंगों के वाचक शब्दों का (समाहार) द्वन्द्व समास एक वचन और नपुंसकलिंग में होता है। अतः 'पाणि औ + पाद औ' विभक्ति लोप—पाणिपाद-नपुंसकलिंग व एक वचन में पाणिपादम्। इसी प्रकार मार्दङ्गिकवैणविकम्—(मार्दङ्गिश्च वैणविकश्च तयोः समाहारः)। रथिकाश्वारोहम्।

(78) वाक्त्वचम् = वाक् च त्वक् च तयोः समाहारः (वाणी और त्वचा का समाहार)। "द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे" सूत्र से वाच् और त्वच् का समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास होता है। पूर्वपद वाच् के च् को क् (चोः कुः) 'वाक् त्वच्' यह च वर्गान्त होने से समान्त टच् प्रत्यय होकर वाक् त्वच् + अ = वाक्त्वच—नपुंसक लिंग एक वचन में वाक्त्वचम्। इसी प्रकार त्वक् च स्रक् च तयोः समाहारः = त्वक्स्रजम्। शमी च दृषद् च तयोः समाहारः = शमीदृषदम् (शमी और पाषाण) वाक् च त्विट् च तयोः समाहारः = वाक्त्विषम् (वाणी और प्रभा)। छत्रं चोपान हौ च तेषां समाहारः = छत्रोपाहनम् (छात्रा और जूतों का समाहार)।

अथ समासान्ताः

(79) अक्षधूः = अक्षस्य धूः (अक्ष की धुरी)। 'ऋक्—पूरब्धूः पथामानक्षे' सूत्र से उक्त अर्थ में प्रयुक्त धुर शब्द से समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं होता अतः 'अक्षधूः' ही रूप बनता है। इसी प्रकार दृढधूः = (दृढा धूर्यस्य)। तत्पुरुष।

(80) सखिपथः=सख्युः पन्थाः (सखा का मार्ग)। इस विग्रह में 'ऋक्पूरब्धू०' सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर षष्ठी तत्पुरुष समास होता है। 'सखि+पथिन्+अ' पथिन् के इन् का (न–स्तद्धि से) लोप—सखिपथ—सखिपथः। इसी प्रकार रम्यपथो देशः।

(81) गवाक्षः=गवाम् अक्षि इव (गोकी अक्षि जैसी खिड़की)—इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास होकर अक्षि शब्द चक्षु का पर्याय नहीं है अतः अक्ष्णोऽदर्शनात्' सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय—गो+अक्षि+अ—इकार लोप (यस्येति च से) होकर गव्+अक्ष+अ=गवाक्षः।

(82) अतिराजा=पूज्यो राजा (पूज्य राजा)। प्रादि (तत्पुरुष) समास। समासान्त टच् प्रत्यय का निषेध होकर अतिराजन्=अति राजा। इसी प्रकार सुराजा।

परिशिष्ट

प्रश्न 1. निम्नलिखित पदों के योग में कौन-सी विभक्ति किस सूत्र से होती है :—

कारक प्रकरण

(क) अन्तरा। अन्तरा त्वां मां हरिः।

अन्तराऽन्तरेण युक्ते ॥2/3/4॥ सूत्र से द्वितीया विभक्ति होती है।

(ख) स्वस्ति। पुत्राय स्वस्ति।

'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषट्योगाच्च' सूत्र से चतुर्थी विभक्ति।

(ग) आरात्। आराद्वनात्।

"अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" सूत्र से पंचमी विभक्ति।

(घ) अपपरी—वर्जन अर्थ को द्योतित करने में इनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा 'अपपरी वर्जने' सूत्र से तथा पंचमी विभक्ति। अपः हरेः परि हरेः संसारः।

(ङ) मर्यादार्थक आङ्—कर्मप्रवचनीय संज्ञा। आसकलाद् ब्रह्म।

'आङ्मर्यादावचने' सूत्र से तथा पंचमी।'

(च) नाना—विकल्प से तृतीया, तथा पक्ष में पञ्चमी व द्वितीया विभक्ति।

'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' सूत्र से। नाना रामेण, रामाद् रामं वा।

(छ) अन्तिक—ग्रामस्य अन्तिकम्, अन्तिकात्, अन्तिकेन वा। 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' सूत्र से द्वितीया, तृतीया व पंचमी विभक्ति।

प्रश्न 2. निम्नलिखित प्रयोगों में किस सूत्र से कौन-सी विभक्ति होती है ? सोदाहरण लिखें—

(क) **मातरिसाधुर्निपुणो वा**—साधु और निपुण के योग में सप्तमी। 'साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः' सूत्र से पूजा अर्थ में।

(ख) **गवां गोषु वा स्वामी**—षष्ठी व सप्तमी विभक्ति।

"स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च" सूत्र से।

(ग) **सत्सु तरत्सु असन्त आसते**—सप्तमी विभक्ति। (सति सप्तमी) 'अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च' वार्तिक से।

(घ) **स्थाल्यां पचति**। सप्तमी विभक्ति। 'सप्तम्यधिकरणे च' सूत्र से।

(ङ) **अधीती व्याकरणे**—कर्म (व्याकरण) में सप्तमी। 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्' सूत्र से।

(च) **कृष्णस्य कृष्णेन वा समः सादृशो वा**। विकल्प से तृतीया, पक्ष में षष्ठी। 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्। सूत्र से।

(छ) **शतं दायी**। इन् प्रत्यय के कर्म में द्वितीया विभक्ति।

"अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" सूत्र से।

(ज) **शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वा**। ल्युट् प्रत्यय के योग में षष्ठी। "शेषे विभाषा" वार्तिक से।

(झ) **शतस्य दीव्यति**। दीव्यति के कर्म शत में षष्ठी। 'दिवस्तदर्थस्य' **सूत्र** से षष्ठी विभक्ति।

(ञ) "**वृषलस्य पेषणम्**" पिस् धातु (नि व प्र उपसर्ग पूर्वक) के कर्म में षष्ठी। "जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्" सूत्र से।

(ट) **सर्पिषो नाथनम्**। कर्म में षष्ठी। "आशिषि नाथः" सूत्र से।

(ठ) **सर्पिषो ज्ञानम्**। षष्ठी विभक्ति। "ज्ञोऽविदर्थस्य करणे" सूत्र से **सम्बन्ध मात्र विवक्षा में**।

(ड) **तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयम्**। एनया द्वितीया सूत्र से **एनबन्त उत्तरेण** के योग में। तत्रागारमिति द्वितीया।

(ढ) **केन हेतुना वसति, कस्य हेतोर्वा**। हेतु के सर्वनाम के साथ प्रयोग से तृतीया, पक्ष में षष्ठी। 'सर्वनाम्न स्तृतीया च।' सूत्र से।

(ण) **एधोदक स्योपस्कुरुते**। सम्बन्धमात्र की विवक्षा में कर्म में षष्ठी। 'षष्ठी शेषे' सूत्र से षष्ठी विभक्ति।

(त) **बुध्या युक्तः**। स्त्रीलिंगभिन्न गुण वाचक हेतु में पक्ष में तृतीया। 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' सूत्र से।

(थ) **शतेन बन्धितः**। ऋण हेतु में विद्यमान कर्त्ता की तृतीया विभक्ति। **'अकर्तयृणे पञ्चमी' सूत्र से पंचमी। अविद्यमान कर्ता में।**

(द) **तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्** । पञ्चमी विभक्ति । 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' सूत्र से ।

(ध) आ सकालद् ब्रह्म । पञ्चमी । 'आङ्मर्यादावचने' तथा 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' सूत्र से ।

(न) **प्रासादात्प्रेक्षते** । पंचमी विभक्ति । "ल्यब्लोपे कर्मण्याधिकरणे च" वार्तिक से ।

(प) **हिमवतो गंगा प्रवहति** । पंचमी विभक्ति । "भुवः प्रभवः" सूत्र से प्रथम प्रकाश स्थान में ।

(फ) **यवेभ्यो गां वारयति** । पंचमी विभक्ति । "वारणार्थानाभीप्सितः" सूत्र से ।

(ब) **यागाय-याति** । चतुर्थी विभक्ति । "तुमर्थाच्चभाववचनात् ।" सूत्र से तुमुन् के अर्थ में ।

(भ) वाताय कपिला विद्युत् आतपायातिलोहिणी ।
पीता वर्षाय विज्ञेया दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥

अशुभसूचक अकस्मात् उत्पातसूचक से चतुर्थी विभक्ति । "उत्पातेन ज्ञापिते च" वार्तिक से ।

(म) **अलं श्रमेण** । निषेधार्थक अलं के योग में तृतीया विभक्ति । 'हेतौ' सूत्र से ।

(य) **अक्षैरक्षान् वा दीव्यति** । दिव् धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा तथा करण संज्ञा भी होती है । "दिवः कर्म च" सूत्र से द्वितीया व तृतीया ।

(र) **प्रकृत्या चारुः** । प्रकृति शब्द से तृतीया विभक्ति । "प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्" वार्तिक से ।

प्रश्न 2. निम्नलिखित प्रयोगों में स्त्रीत्व परिचायक प्रत्यय लिखें—

(क) सार्विका—सर्व+अक (अकच्) + आ (टाप्) अकार को इकार—सर्विका "प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः" सूत्र से ।

(ख) गोपाली—गोपालस्य स्त्री गोपाला—पुंयोगाहार बायाम्—ङीप् ।

(ग) बाला—बाल+टाप्+सु (लोप)+बाला । "अजाद्यतष्टाप्" सूत्र से ।

(घ) भवन्ती—'उगितश्च' सूत्र से भा + उवतु + नुम् ङीप् । (आप)

उगीतत्प्रत्ययान्त में शष् श्यन् होने पर नुम्, अन्य नहीं अतएव शतृ प्रत्यय में भवतीत्पेव ।

(ङ) नर्तकी—"षिद्गौरादिभ्यश्च" से नृत् + ष्वुन् + ङीष् । (नाचने वाली)

(च) पंगूः—"पङ्गोश्च ।" से पङ्गु + ऊङ् + सु । (लंगड़ी)

(छ) संहितोरूः—'संहितशफलक्षणवामादेश्च' सूत्र से संहितोरू = ऊङ् **(सवर्णदीर्घ)** ।

(ज) अतिकेशी—केशानतिक्रान्ता। अतिकेश+ङीष् (स्वाङ्गाच्च) से।

(झ) सुजघना—शोभनं जघनं यस्याः। 'न क्रोडादिबह्वचः' सूत्र से बहुत से अच् (जघन में) से ङीष् निषेध होकर जघन+टाप्।

(ञ) मत्सी—"मत्स्यस्यङ्याम्" वार्तिक से यलोप होकर (मछली) मत्स्य +ङीष्।

(ट) युवतिः—"युनस्तिः" सूत्र से युवन्+ति(नकार लोप)। स्त्रीलिङ्ग।

(ठ) कुरुचरी—कुरुषु चरति। कुरुचर+ङीप् (टिड्ढाणञ्०) सूत्र से ङीप्। स्त्रीलिंग।

(ड) गार्गी—"हलस्तद्धितस्य" सूत्र से गार्गस्य अपत्यं स्त्री। गर्ग+यञ् (यञश्च) का लोप+ङीप्।

(ढ) रोहिणी—रोहित+ङीप्। "वर्णादनुदात्तात् तोपधात् तोनः। सूत्र से तकार को नकार होकर। पक्ष में टाप्–रोहिता।

(ण) यवनानी—यवनानां लिपिः। 'यवनाल्लिप्याम्' वार्तिक से ङीष् व आनुक् =यवन+आन्+ङीष्।

(त) चन्द्रमुखी—चन्द्र इवमुखं यस्याः। 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्।' सूत्र से चन्द्रमुख+ङीष्।

(थ) ताम्रमुखी—ताम्रं मुखं यस्याः सा। "पूर्वपदात्संज्ञा यामग" सूत्र से ताम्रमुख+ङीष् (स्वाङ्गाच्च से)।

(द) दाक्षी—दक्षस्यापत्यं स्त्री। 'इतो मनुष्य जातेः' सूत्र से ङीष्—दाक्षि+ङीष्। (भगवान् पाणिनि की माता।)

(ध) नारी—'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' सूत्र से ङीन् प्रत्यय, वृद्धि होकर नृ। नर +ङीन्=नारी।

(न) आचार्य भागुरि का मत—

आपं चैयहलन्तानां यथा बाचा निशा दिशा। भगवान् पाणिनि के मतानुसार बाच् निश् दिश् तीनों शब्द फ हलन्त होने से वान्चा, निशा, दिशा, ये रूप तृतीया विभक्ति के एक वचन के होते हैं, परन्तु इन शब्दों से आप् होने पर यह शब्द हलन्त न रहकर आकारान्त स्त्रीलिङ्ग होता है, एवं इसके रूप क्या शब्द की भाँति चलते हैं।

प्रश्न 3. कृन्दत प्रकरण—परीक्षोपयोगी कतिपय प्रश्न—

1. "ईद्यति" सूत्र से यत् परे होने पर आकार को ईकार आदेश होकर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से ईकार को एकार गुण करने पर विशेष्यानुसार विभक्ति होती है। यथा—

गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपजस्रम्।
नेयं सज्जनसंगे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम्।।

2. कृत्यसंज्ञक प्रत्यय कितने और कौन-कौन से हैं? प्रत्येक का एक-एक विधायक सूत्र लिखें—

"तव्यं च तव्यतञ्चैवाऽनीयर् केलिमरौ तथा।
यतं ण्यतं क्यपं चापि कृत्यान् सप्त प्रचक्षते ॥"

3. वाऽसरूपविधि पर सोदाहरण एक लघु निबन्ध लिखें।

4. उत्सर्ग और अपवाद की व्याख्या करते हुए तद्विषयक दो-दो उदाहरण कृत्य प्रकरण में से प्रदर्शित करें।

5. चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति के परिप्रेक्ष्य में 'बहुलम्' शब्द को सोदाहरण स्पष्ट करें।

6. अन्तर स्पष्ट करें—

(क) भोज्य और भोग्य में।

(ख) अर्य और आर्य में।

(ग) भेत्तव्य और भेतव्य में।

(घ) श्रव्य और श्राव्य में।

7. ण्यत्-क्यप्-यत् में प्रक्रियाजन्य अन्तर स्पष्ट करें।

8. सूत्रनिर्देशपूर्वक निम्न की सिद्धि करें—

(क) शिष्यः, देयम्, मार्ग्यः, मृज्यः, स्तुत्यः, भिदेलिमा, चयनीयः, चेयम्, लभ्यम्, इत्यः, कार्यम्, स्नानीयं चूर्णम्, भोज्या यवागूः, जुष्यः, ग्लेयम्, आदृत्यः, वृत्यः, एधितव्यम्।

(ख) वास्तव्यः, अर्यः, खेयम्, कृत्यम्, सह्यम्, गृह्याः, दृश्यम्, आर्यः, रोढव्यम्, नंष्टव्यः, सोढव्यः, मज्जनीयम्, ग्रहीतव्यम्, ध्यातव्यम्, अध्ययनीयम्, दोग्धव्यम्, वक्तव्यम्, एष्टव्यम्, दृष्टव्यम्, योद्धव्यम्।

9. निम्न सूत्रों की व्याख्या कीजिये—

तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः, कृत्यल्युटो बहुलम्, चजोः कु-घिण्ण्यतोः, शास इदङ्हलोः, ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्, अचोयत्, वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्।

10. हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य का विवेचन सोदाहरण करें।

11. 'कुम्भकारः' के लौकिक और अलौकिक विग्रहों में कुम्भ शब्द से परे विभक्ति का अन्तर क्यों हो जाता है?

12. 'उपपद' का आशय स्पष्ट करते हुए कृदन्त प्रकरण में इसकी उपयोगिता सिद्ध कीजिये।

13. निम्नस्थ के प्रकृति-प्रत्यय, विग्रह एवं विधायक सूत्र लिखें—

वेदाध्यायः, शत्रुघ्न, आदायचरः, तन्तुवायः, कृशः, गोदः, अश्वारोहः, सहचरः, श्राद्धकरः, ज्ञः, महीध्रः, दायादः, किरः, उत्थः, गोनायः।

14. गृहम् और गृहाः में परस्पर क्या अन्तर है?

15. कृतघ्नः और कृतज्ञः का विग्रह लिखते हुए सोदाहरण प्रत्यय का निर्देश करें।

16. 'आदित्यं पश्यति' इत्यादि में 'कर्मण्यण्' की प्रवृत्ति होगी या नहीं ? सोदाहरण लिखें ।

17. सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें--

जनार्दनः, कुम्भकारः, बुधः, यशस्करी, कुरुचरः, गृहम्, प्रियः, स्थायी, मूलविभुजः, प्रज्ञः, भिक्षाचरः, कारकः, नन्दनः, हर्ता ।

18. निम्न सूत्रों की व्याख्या कीजिये--

कृञो हेतुताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु, इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, आतश्चोपसर्गे, अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णी-ष्वनव्ययस्य, आतोऽनुपसर्गेकः, कर्मण्यण् ।

19. तृच्, अच्, अण्, क, ण्वुल, ट, णिनि--इन प्रत्ययों के विधायक सूत्र लिखकर प्रत्येक के 5–5 उदाहरण लिखिये ।

20. कर्म के उपपद होने पर भूतकालिक क्रिया में वर्तमान दृश् धातु से क्वनिप् प्रत्यय को निम्न उदाहरण से स्पष्ट कीजिए—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत् परीवादनवावतारः ।। (रघु०)

21. नीचे दिये गये विग्रह में कृदन्त रूप तथा प्रत्यय का निर्देश करें--

ध्वाङ्क्ष इव रौतीति, आत्मानं कालीं मन्यत इति, पारं दृष्टवान् इति, सर सि जातमिति, जनमेजयतीति, सामेनेष्ट वान् इति, सह युद्धवान् इति, गज इव गच्छतीति, अनुयातुं शीला इति, बुद्धेर्जात इति, उखायाः स्रंसत इति, दर्शनीयं मन्यत इति, प्रियं वदतीति, ओणतीति, मधुलेढीति राजानं कृतवान् इति ।

22. निम्न प्रश्नों का उत्तर दीजिये--

(क) सरसिजम् में समास होने पर भी विभक्ति का लुक् क्यों नहीं हुआ ?

(ख) 'तिलानिव खादति माषान्' यहाँ 'णिनि' क्यों नहीं होता ?

(ग) खच् और खश् प्रत्ययों में अनुबन्धजन्य अन्तर समझाइये ।

(घ) विश्वसृज्, वाहभ्रश्, श्वेष्, प्रातरित्वम्, सुगण्, अवावन् और पर्णध्वस् इन शब्दों की समस्त विभक्तियाँ लिखिये ।

(ङ) पारदृश्वन्, राजकृत्वन्, सहयुध्वन् शब्दों का स्त्रीलिङ्ग में रूप बताकर 'अवावरी ब्राह्मणी' पर प्राप्त मतभेद बताओ ।

(च) निम्न में विग्रह करते हुये सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—

वशंवदः, पण्डितम्मन्यः, अरुन्तुदः, उष्णभोजी, सोमयाजी जनमेजयः, प्रातरित्वा, विजावा, प्रजा, अवावा, रेट्, सरोजम्, विश्वसृट् पर्णध्वत् ।

(छ) निम्न सूत्रों की व्याख्या कीजिए—

नेड् वशि कृति, सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये, अरुद्विषद-जन्तस्य मुम्, अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, दृशेः क्वनिप्, आत्ममाने खश्च, तत्पुरुषे कृति०, मनः, कर्तयुंपमाने ।

23. (क) इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर यदि दोनों धातुओं का कर्ता समान हो तो तुमुन् प्रत्यय होता है--(समानकर्तृकेषु तुमुन्) ।

यथा—"पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ।" (कुमार०)

"पानीयं पातुमिच्छामि त्वतः कमललोचने ।
यदि दास्यसि नेच्छामि नो दास्यसि पिबाम्यहम् ॥"—(सुभाषित०)

(ख) शक-धृष-ज्ञा-ग्ला-घट-रभ-लभ-क्रम-सहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन् । शक् (सकना), धृष् (साहस करना), ज्ञा (जानना), ग्लै (ऊबना), घट् (चेष्टा करना), रभ्=(आरम्भ करना), लभ् (पाना) क्रम् (यत्न करना), सह् (सहना), अर्ह् (योग्य होना) तथा अस्त्यर्था (भू, अस्, विद् आदि) धातुओं के उपपद होने पर धातु-मात्र से तुमुन् प्रत्यय । यथा—

शक्—न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मेमनः । (गीता)
धृष्—धृष्णोति सत्यं वक्तुम् ।
ज्ञां—जानासि वत्स दुर्मनायमानां देवीं विनोदयितुम् । (उत्तर०)
ग्लै—ग्लायत्यध्येतुम् (पढ़ने से ऊबता है) ।
घट्—घटतेऽनुपकरणोऽपि देवान् यष्टुम् ।
रभ्—पुनर्गन्तुमारेभिरे ।
लभ्—अनारतमुद्युञ्जानोऽपि पर्याप्तं भोक्तुं न लभते ।
क्रम्—भोक्तुं प्रक्रमते ।
सह्—न विषहे विपत्तिमवलोकयितुम् ।
अर्ह्—तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
अस्त्यर्थक—अस्ति भोक्तुमन्नम् । विद्यते भोक्तुमन्नम् ।

(ग) 'पूर्णतया समर्थ' अर्थ के वाचक 'अलम्' आदि के उपपद होने पर धातु मात्र से तुमुन् । यथा--

'लिखितमपि जलाटें प्रोञ्छितुं कः समर्थः । (हितोप०) 'अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम् ।' अलमात्मानं खेदयितुम् ।

24. क्रियार्थाक्रिया को स्पष्ट करते हुए तुमुन्विधायक सूत्र की व्याख्या करें ।

25. तुमुण्वुलौ० में समान कर्तृकता की शर्त अनेक वैयाकरण मानते हैं उनके अभिप्राय को समझाते हुए कतिपय विपरीत उदाहरण भी दीजिए ।

26. प्रतिषेधार्थक 'अलम्' के योग में प्रयुक्त तुमुन् का पाणिनि व्याकरण की दृष्टि से विचार व्यक्त करें ।

27. तुमुन् और ण्वुल् एक ही सूत्र से विहित हो रहे हैं फिर भी उनके अर्थों में भेद क्यों ? स्पष्ट करें ।

28. निम्नस्थ धातुओं के तुमुन्प्रत्ययान्त रूप ससूत्र सिद्ध करें—

लिह्, सृज्, परा √अय्, क्रुध्, कृत्, क्षम्, ग्रह्, कृ, तृ, त्यज्, नश्, दह्, ब्रू, अस्, यज्, आ √रभ्, आ √रुह, लू, वह्, स्पृश्, दण्ड, छिद्, ग्लै, नह्, प्रच्छ् ।

29. किससे तुमुन् हुआ है ? विधायक सूत्र लिखें--

समय इदानीमभ्यन्तर प्रवेष्टुम्, पिनाकपाणिं पतिमाप्तु-मिच्छति, तं सन्तः श्रोतमर्हन्ति, अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम् लिखितमपि ललाटे प्रोञ्छितु कः समर्थः, द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोदुमर्हन्, न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः, न कोऽपि निर्गन्तुं प्रवेष्टुं वाऽनुमोद्यते, वयमद्यैव यास्यामो रामं द्रष्टुं त्वरान्विताः, नेतुं वाञ्छति यः खलान् पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः ।

30. भावघञ् और कारकघञ् किसे कहते हैं ? विधायक सूत्र दर्शाते हुए दोनों में सोदाहरण अन्तर स्पष्ट करें ।

31. 'जलधिः' में क्या 'उपसर्गे घोः किः' सूत्र की प्रवृत्ति होती है ? यदि हाँ तो कैसे ? नहीं तो कारण बताकर विधायक सूत्र लिखें ।

32. निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें--

उपसर्गे घोः किः, ऋदोरप्, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्, क्त्रेर्मम् नित्यम्, घञि च भावकरणयोः ।

33. निम्न रूपों की ससूत्र व्याख्या करें--

यज्ञः, प्रधिः, रागः, रङ्गः, वेपथुः, अन्तीर्धः, याच्ञा, करः, पाकः, लवः, जयः, निकायः, उपधिः, स्वप्नः, विश्नः, विघ्नः, स्तवः, प्रपा, चयः, गोभय निकायः ।

34. क्तिन् को निष्ठावत् अतिदेश करने का क्या प्रयोजन है, सोदाहरण लिखें ?

35. निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि कीजिये—

(क) ऊतिः, सम्पत्, कारणा, ईहा, चिकीर्षा, कृतिः, लूनिः, जूः, इच्छा, वाञ्छा ।

(ख) कीर्त्तिः, सातिः, पुत्रकाम्या, स्थितिः, गतिः, रक्षा, उपलब्धिः इष्टिः, आसना, चिन्ता, शुद्धिः, पीतिः ।

36. हलन्त धातु से परे करण या अधिकरण कारकों में प्रायः 'हलश्च' सूत्र से घञ् प्रत्यय हो जाता है पुंस्त्व विशिष्ट संज्ञा वाच्य हो तो । यथा—

(क) लिख्यतेऽनेनेति लेखः (जिससे लिखा जाता है—लेखनी) यहाँ 'लिख् अक्षरविन्यासे' (तुदा. प. सेट्) धातु से करण में घञ् होकर लघूपधगुण हो जाता है ।

(ख) आरभन्त्यत्रेत्यारामः (जहाँ आकर मनुष्य आराम करते हैं—बाग-बगीचा) । आ + रम् + घञ् = आरामः । अधिकरणे घञ् । उपधावृद्धिः ।

(ग) प्रसीदन्त्यत्रेति प्रासादः = (जिसमें मन प्रसन्न होते हैं—महल) । प्र + सद् + घञ् । अधिकरणे घञ् । उपधावृद्धिः ।

(घ) विदन्ति (जानन्ति) धर्माऽधर्मौ अनेनेति वेदः (जिस से धर्म—अधर्म का ज्ञान होता है—वेद)। विदज्ञाने अदाप करणे घञ्, लघूपधगुणः।

(ङ) विशन्ति अस्मिन्निति वेशः (जिसमें लोग घुसते हैं)—वेश्यालय। विश प्रवेशने (तुदा.प. अनिट्)। अधिकरणे घञ्।

(च) बध्यतेऽनेनेति बन्धः (जिससे बाँधा जाता है—रस्सी)। बन्ध बन्धने (क्रया. प. अनिट्)। करणेघञ्। आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यंगनानां, सद्यः पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि (मेघ०)। अधिकरणेऽपि बध्यतेऽत्रेति बन्धः (गाँठ)।

37. दुःख अर्थ वाले दुस् के तथा सुख अर्थ वाले ईषत् या सु के उपपद होने पर धातु से परे भाव व कर्म में खल् प्रत्यय होता है। यथा—

(क) सुलभा पुरुषा राजन् संततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः। रामायण

(ख) अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्। मनु०

(ग) असंशयं महाबाहो। मनो दुर्निग्रहं चलम्। गीता०

(घ) समवायो हि दुस्तरः। सुभाषित।

(ङ) दुर्लभं भारते जन्म मानुष्यं तत्र दुर्लभम्।

(च) तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्। (रघु०)

(छ) व्याघ्रो मानुषं खादतीति लोक प्रवादो दुर्निवारः। हितोप०

(ज) जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्। (गीता)

(झ) दुस्तरो जीवता देवि। मयाऽयं शोक सागरः। (रामायण)

38. प्रतिषेध (निषेध) अर्थ वाले 'अलम्' या 'खलु' शब्दों के उपपद रहते धातु मात्र से क्त्वा प्रत्यय होता है। यथा—

(क) अलं वत्से रुदित्वा ते न भेतव्यं च सर्वशः। (रामायण)

(ख) अलं वैक्लमालम्ब्य स्वस्था भव निरुत्सुका। (रामायण)

(ग) अलं वीर व्यथां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि। (रामायण)

(घ) आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत्। कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः॥ (माघः)

(ङ) सम्प्रत्यसाम्प्रतं वक्तुमुक्ते मुसलपाणिना। निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम्॥ (माघः)

39. 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' एवं 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वोल्यप्' सूत्रानुसार धातु से परे होने वाले क्त्वा और ल्यप् प्रत्ययों के कतिपय उदाहरण निम्न हैं—

(क) अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। (यजु०)

(ख) भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोदमृता भवन्ति। (केनोप०)

(ग) ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (श्वेता० उप०)

(घ) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् । (गीता)

(ङ) आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् । (गीता)

(च) न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति । (हितोप०)

(छ) उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद् भयमुपस्थितम् । (हितोप०)

(ज) सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् । (हितोप०)

(झ) आस्वाद्यतोया प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः । (हितोप०)

(ञ) सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते । (मृच्छकटिक)

(ट) प्रारभ्य विघ्ननिहता विरमन्ति मध्याः । (भर्तृ. नीति.)

(ठ) अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते । (माघ.)

(ड) मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च । वैयाकर सिद्धान्त कौमुदीयं विरच्यते ॥ (सि. को. आदौ)

40. निम्न प्रश्नों के उत्तर समझा कर लिखिये—

(क) वस् धातु अनिट् है पुनरपि 'उषित्वा' में इट् कैसे ?

(ख) व्रश्च् धातु ऊदित् है पुनः 'व्रश्चित्वा' में नित्य इट् कैसे ?

(ग) भूत्वा, पूत्वा आदि सेट् धातुओं से क्त्वा में इट् क्यों नहीं ?

(घ) 'जागरित्वा' में 'श्र्युकः किति' से इण्निषेध क्यों नहीं होता ?

(ङ) 'हित्वा' प्रयोग किस धातु से बनाया जा सकता है ?

(च) 'अनधीत्य' में नञ् समास होने पर भी क्त्वा को ल्यप् कैसे ?

41. निम्न प्रयोगों में अन्तर स्पष्ट करें—

पीत्वा-पात्वा, निपाय-निपीय, उत्वा-उक्त्वा, उषित्वा-ओषित्वा, दित्वा-दत्वा, हुत्वा-हूत्वा, भात्वा-भीत्वा, विदित्वा-वित्त्वा ।

42. ल्यप् में निम्नस्थ धातुओं के अनुनासिक का कहाँ नित्य और कहाँ वैकल्पिक लोप होता है—

गम्, नम्, तन्, हन्, रम्, मन्, वन्, यम् ।

43. अलं दत्त्वा में उपपद समास क्यों नहीं होता ? तथा समास करने पर क्या दोष प्रसक्त होगा ?

44. 'शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते' में णमुल् क्यों नहीं होता ?

45. निम्न धातुओं के णमुलान्त-प्रयोग कीजिये—

श्रु, प्रच्छ, पठ्, स्था, गै, दा, ग्रह्, स्मृ, ध्यै, पा ।

46. ससूत्र निम्नस्थ रूपों की सिद्धि कीजिये—

1. जग्ध्वा । 2. इष्टवा । 3. सान्त्वा । 4. कामयित्वा । 5. क्रान्त्वा । 6. खात्वा । 7. गत्वा । 8. गाढ्वा । 9. गृहीत्वा । 10. गीत्वा । 11. स्थित्वा । 12. घोषयित्वा । 13. दुग्ध्वा । 14. तुष्टवा । 15. तीर्त्व । 16. पीत्वा ।

17. नंष्टवा । 18. नद्ध्वा । 19. रूढ्वा । 20. मुग्ध्वा । 21. रब्ध्वा । 22. सोढ्वा । 23. सृष्टवा । 24. शिष्टवा । 25. दत्वा । 26. द्यूत्वा । 27. मङ्क्त्वा । 28. बद्ध्वा । 29. सुप्त्वा ।

47. निम्नस्थ ल्यबन्त रूपों की सिद्धि करें—

1. अधीत्य 2. आकर्ण्य 3. पलाय्य 4. प्रजग्ध्य 5. उत्खाय 6. विगृह्य 7. अनूद्य 8. प्रसीव्य 9. निहृत्य 10. अवगम्य 11. आहूय 12. संजाय 13. विगणय्य 14. समुह्य 15. उपशय्य ।

48. निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—

1. समासेऽनञ्पूर्वेक्त्वो ल्यप् । 2. अन्यथैवंकथमित्थं सु. सिद्धाऽप्रयोगश्चेत् । 3. अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा । 4. समानकर्तृकयोः पूर्वकाले । 5. उदितो वा । 6. आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ।

अपठित गद्य व पद्य का अनुवाद या व्याख्या

प्रश्न 1. निम्न पद्यों का अनुवाद या व्याख्या कीजिये ।

1. साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय का व्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥ —विल्हणः

2. यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र ! व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत् ॥ —भट्टिः

3. स्वतंत्रता भ्राजित भारतेऽस्मिन् प्राणान्परित्रातुमशक्नुवाना ।
आपत्पयोधौ ननु पण्डितालिर्निमज्जतीयं विषमा समस्या ॥ —निजः

4. लोकोऽद्यनेतृत्वविवादपूर्णो वक्तयेव नित्यं न शृणोति कश्चित् ।
शिष्यो न कश्चिद् गुरवो हि सर्वे किमत्र वाच्यं विषमा समस्या ॥
—विद्याधर शास्त्री

5. मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्मरणमुच्यते बुधैः ।
क्षणमप्यतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु ॥ —कालिदासः

6. दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववत् विस्मयमाततान ।
क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥ —माघः

7. गता वेदविद्या, गतं धर्मशास्त्रं, गतं रे गतं रे गतं न्याय शास्त्रम् ।
इदानींतनानां जनानां प्रवृत्तिः सुबन्ते तिङन्ते कदाचित् कृदन्ते ॥
—पं. छाजूराम शास्त्री

८. वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
न च खलु ज्ञयोर्ज्ञाने शक्ति करोत्यपहन्ति च ।
भवति च तयोर्भूयान्भेदः फलं प्रति त द्यथा
प्रभवति शुचि बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदां चयः ॥ —भवभूतिः

9. देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥ —वाल्मीकिः

10. गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमि भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
—विष्णु पुराण

11. अहो अमीषां किमकारि शोभनं प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।
यैर्जन्मलब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्द सेवोपयिकं स्पृहाहि नः ॥
—वेदव्यासः

12. वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि तत्समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य ?
—कालिदासः

13. वासन्तं कुसुमं फलं च युगवत् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद् ।
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम् ॥
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो—
रैश्वर्यं यदि वांछसि प्रिय सखे ! शाकुन्तलं सेव्यताम् ॥ —महान् गेटे

14. प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वतीश्रुतिमहतीमहीयताम् ।
ममापि च क्षमयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगत शक्तिरात्मभूः ॥
—कालिदासः

15. ऋतुर्व्यतीत परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयात पुनरेति चन्द्रमाः ।
गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते जलं नदीनाञ्च नृणां च यौवनम् ॥
—अश्वघोषः

16. न जातु कामान्न भयान्न लोभात् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मोनित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥
—महाभारतः

17. जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतावभिनन्द्यसत्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिः स्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥ —कालिदासः

18. स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थ गौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ॥ —भारविः

19. गृह्णातु सर्वे यदि वा यथेष्टं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम् ।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ॥ —बिल्हणः

20. लङ्कापतेः संकुचितं यशोयत् यत् कीर्तिपात्रं रघुराज पुत्रः ।
स सर्व एवादिकवे—प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः ॥

—विल्हणः

21. समय एवं करोति बलाबलं प्रणिगछन्ति इतीव शरीरिणाम् ।
शरदि हंसखा परुषीकृत स्वर मयूर मयुः रमणीयताम् ॥ —माघः

22. कस्याख्याय व्यतिकरमिमं मुक्त दुःखो भवेयं
को जानीते निभृतभुभयोरावयोः स्नेह सारम् ।
जानात्येकं शशधरमुखि ! प्रेमतत्त्वं मनो मे
त्वामेवैतत् चिरमनुगतं तत् प्रिये ! किं करोमि ॥ —राजशेखर

23. इह तुरगशतैः प्रयान्तु मूदाः धनरहितास्तुबुधाः प्रयान्तु पद्भ्याम् ।
गिरिशिखरगतापि काकपंक्तिः पुलिनगतैर्न समत्वमेति हंसैः ॥

—पण्डितराजः

24. निदन्तु नीतिनिपुणार्यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ —भतृहरिः

25. शुद्धान्त संभोग नितान्त तुष्टे न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादु सुगन्धि स्वदते तुषारा ॥

—श्रीहर्षः

26. वाराणसी निविशते न वसुन्धरायां
तत्र स्थितिर्भखभुजां भुवने निवासः ।
तत्तीर्थमुक्तवपुषामत एव मुक्तिः
स्वर्गात्परं पदमुपेतु मुदेतु कीदृग् ॥ —हर्षः

27. हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबन्धे विरोधं
शुद्धा कीर्तिः स्फुरति भवतां नूनमेतद् प्रसादात् ।
तुष्टैर्नीतं तदलघुरघुस्वामिनः सच्चरित्रं
रुष्टैर्नीतस्त्रिभुवनविजयी हास्यमार्गं दशास्यः ॥ —विल्हण

28. काचं मणिं काञ्चनमेक सूत्रे ग्रथनासि बाले ! किमिदं विचित्रम् ।
विचारवान् पाणिनिरेक सूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह ॥

29. विघतां निशंकं निरबघिसमाधिं विधिरहो !
सुखं शेषेशेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः ॥
कृतं प्रायश्चितैरलमथ तपोदानयजनैः
सावित्री कामानां यदि भवती जार्गति जगति ॥

—पण्डितराज जगन्नाथः

30. विरमत बुधा योषितसंखात् सुखात् क्षण भंगुरात्
कुरुत करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजन संगमम् ।
न खलु नरके हाराकान्तं धनस्तनमण्डलं
शरणमथवा श्रोणिबिम्बं रणत्मणिमेखलम् ।। —अमरुककविः

31. काव्यं करोमि नहि चारुत्तरं करोमि
यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि ।
भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठः
हे साहसांक ! कवयामि वयामि यामि ।। —भोजः

32. वेदाः हि यत्रार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्वाः विहिताश्च यज्ञाः तस्मादिदं कालविधान शास्त्रं यो ज्योतिषं वेद सवेदय ज्ञान् ।

33. ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत् ।
त्वेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।। —उपनिषद्

34. कल्याण बुद्धेरथवा तवायं न कामचारोंमयि शंकनीयः ।
ममैव जन्मान्तर पातकानां विपाक विस्फूर्जथुरप्रसह्यः ।। —दण्डी

35. सहजं किल्व यद् विनिन्दितं न खलु तत् कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारण कर्मदारुणः अनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रियः ।। —कालिदासः

36. एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह—
मस्मद्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम् ।
कं याचसे तदिह वासमियं बराकी
श्वश्रू ममान्ध वधिरा ननु मूढ पान्थः ।।

37. ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समान धर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।। —भवभूतिः

38. एको रसः करुण एव निमित्त भेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरंगामयान् विसकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम् ।। —भवभूतिः

39. गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयञ्च ।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान् समागताः कुक्कुटसिश्रपादाः ।।

40. त्कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा ।
पाणी नूपुरबन्धनेन चरणे केयूर पाशेन वा ।।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम् ।
औचित्येन विना रुचिं वितनुते नालंकृतिर्नो गुणा ।। —क्षेमेन्द्रः

41. भ्रातः पान्थ ! कुतो भवान् नगरतो वार्ता न वा वर्तते
बाढं ब्रूहि युवा पयोद समये त्यक्त्वा प्रियां जीवति ।
सत्यं जीवति ! जीवतीति कथिता वार्तामयापि श्रुता
विस्तीर्णा पृथिवी जनोऽपि विविधः किं किं न सम्भाव्यते ॥

42. जयतु सकलविद्या शास्त्र मूलाय माना
परमपुरुषनिद्रा श्वास बालाय माना ।
कृतिमति पथ गाढध्वान्त दीपाय माना
श्रुतिरिति भुवनेऽस्मिन् विश्रुता चित्कला सा ॥

43. आरण्यकैः प्रथममंकुरिता कदाचित्
या ब्राह्मणै स्तदनुपालिखितेव गूढः ।
कालेन सा कुसुमितोपनिषद्भिरुच्चैः
संवर्धतां चिरमसौ भुवि वेदवल्ली ॥

44. अस्वीकृत व्याकरणौषधानामपाटवं वाचि सुगूढमास्ते ।
कस्मिंचिदुक्ते तु पदं कथञ्चित् स्वैरं वपु खिद्यति वेपतेच ॥

45. अस्माकं कटका न बाजिमुकुटा ह्यालं क्रिया सत् क्रिया
नोत्तुङ्गस्तुरगो न कश्चिदनुगो नैवाम्बरं सुन्दरम् ।
किन्तु क्ष्मातलवर्त्यशेष विदुषां साहित्य विद्याजुषाम्
चेतस्तोषकरी शिरोनतिकरी विद्याऽनवद्यास्तु नः ॥

46. मानुष्ये सति दुर्लभा पुरुषता पुंस्त्वे पुनर्विप्रता
विप्रत्वे कृतविद्यता न सुलभा विद्यावतोऽर्थज्ञता
अर्थज्ञस्य विचित्र वाक्पटुता तत्रापि लोकज्ञता
लोकज्ञस्य च सर्वशास्त्रविदुषो धर्मे मतिर्दुर्लभा ॥

47. वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्यं,
आपातमात्र मधुरा विषयोप भोगाः ।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमं नराणां
धर्मसखा परमहो । परलोकयाने ॥

48. रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्,
भास्वान्नुदेष्यति हसिष्यति पंक जश्रीः ।
इत्थं विचयन्ति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त ! हन्त ! नलिनी गजमुज्जहार ॥

49. नमोऽस्तु रामाय च लक्ष्मणाय
देव्यै त तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥

50. रे रे चातक ! सावधानमनसा मित्र ! क्षणं श्रूयताम्
अम्बोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नेतादृशाः ।
केचिद् वृष्टिभिराद्रवन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतः मा ब्रूहि दीनं वचः ॥
—नीतिः ॥

51. भट्टिर्नष्टो भारविश्चापि नष्टो
भिक्षुर्नष्टो भीम सेनोऽपि नष्टः ।
भुकुण्डोऽहं भूपतिस्त्वंहि राजन् ।
भम्भापङ्क्तावन्तक सन्निविष्टः ॥

52. वराटिकोपक्रिययापि लभ्या नेभ्याः कृतज्ञानथवाद्रियन्ते ।
प्राणैः पणैः स्वं निपुणं भणन्तः कीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः ॥—हर्षः ॥

53. स्रगियं—यदि जीवितापहा ममं हृदये निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ —कालिदास

54. योगेन चित्तस्य पदेन वाचाँ मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनाँ पतञ्जलिं प्राञ्जलिनानतोऽस्मि ॥

55. हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः प्यकृतंशुभैः ।
शरीर भाजां भवदीय दर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ (माघः)

56. विडौजा पुरापृष्टवान् पद्मयोनिं
धरित्रीतले सारभूतं किमस्ति ।
चतुर्भिर्मुखैरित्यवोचद् विरञ्चि—
स्तमाखुस्तमाखुस्तमाखुस्तमाखुः ॥

57. एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽभी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥
(रा० वि० वि० 1982)

58. सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः
स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनः निःक्लेशलेशंमनः ।
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं ।
तुष्टे विष्टपहारिणीष्टहरौ संम्प्राप्यते देहिना ॥ (1982)

59. यः त्रीणयेत् सुचरितैः पितरं स पुत्रो
यद्भर्तुरेव हिममिच्छति तत्कलत्रम् ।
तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यद्
एतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ॥ (1982)

60. प्रभामहत्या शिखयेवदीपः त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥ (1982)

61. सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्ट मया नूपुरमेकभुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेष दुःखादिव बद्धमौनम् ॥ (1982)

62. ममैव शोकेन विदीर्ण वक्षसा
त्वया विचित्राङ्गि । विपद्यते यदि ।
तदाऽस्मि दैवेन हन्तोऽपि हा हतः
स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ॥ (1983)

63. गन्धैराढ्या जगति विदिता केतकी स्वर्णवर्णा
पद्मभ्रान्त्या चपलमधुपः पुष्पमध्ये पपात ।
अन्धीभूतः कुसुमरजसा कष्टकैर्लूनपक्षः
स्थातुं गन्तुं द्वयमपि सखे नैव शक्तो द्विरेफः ॥ (1983)

64. दम्भं नोद्वहते ननिन्दति परान् नो भाषते निष्ठुरं
प्रोक्तं केनचिदप्रियं च सहते क्रोधं च नालम्बते ।
ज्ञात्वा शास्त्रमपि प्रभूतमनिशं सन्तिष्ठते मूकवत्
दोषांश्छादयते गुणान् वितनुते चाष्टौ गुणाः पण्डिते ॥ (1983)

65. कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्ते—
र्न शक्यते सत्वगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने—
र्नाधः शिखा यान्ति कदाचिदेव ॥ (1984)

66. सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिने—
र्मीमांसाकृतमुन्ममाथ तरसा हस्तो मुनिं जैमिनिम् ।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गल—
मज्ञानाहतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः ॥ (1984)

67. शब्दार्थमात्रमपि ये न विदन्ति तेऽपि
यां मूर्छनामिव मृगाः श्रवणैः पिबन्तः ।
संरुद्धसर्वकरणप्रसरा भवन्ति
चित्रास्थिता इव कवीन्द्रगिरं नुमस्ताम् ॥ (1984)

68. ब्रह्माणुमेतद् गतिभन्निरन्तरं
नैकत्र संस्थातुमदः क्षमं किमु ?
विनाशशीले क्षणभङ्गुरेऽत्र वै
किं वा न लीनं चिरमङ्गलं स्थिरम् ? ॥ (1985)

69. आपत्समुद्धरणधीरधियः परेषां
जाता महत्यपि कुले न भवन्ति सर्वे ।

विन्ध्याटवीषु विरलाः खलु पादपास्ते
ये दन्तिदन्तमुसलोल्लिखनं सहन्ते ॥ (1985)

70. महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः
स्वकेशपुष्पैरपि यास्म दूयते ।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी
निषेकुषी स्थण्डिल एव केवले ॥ (1985)

71. कन्याऽन्तः पुरबाधनाय—यदधीकान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः ।
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्या न लदं बिना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥ —हर्ष ॥

72. वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्याः
नैभ्याः कृतघ्नश्ननथवाद्रियन्ते ।
प्राणैः पणैः स्वं निपुणं भणन्तः
क्रीणन्ति तानैवतु हन्त ! सन्तः ॥

73. नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥

अपठित गद्य-खण्ड

1. यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यत् विजानाति तद् भूया । अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यत् विजानाति तदल्पं यो वै भूसा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् । —(छान्दोग्योपनिषद्)

2. नन्दगोप इव यशोदान्वितः, जरासन्ध इव घटित सन्धिः विग्रहः, भार्गव इव सदा न भोगः, दशरथ इव सुमित्रोपेतः, सुमंत्राधिष्टितश्च, दिलीप इव सुदक्षिणयान्तो रक्षितगुश्च ।

3. अथ परिसमाप्तमीक्षण युगलस्य द्रष्टव्य दर्शनफलम्, आलोकितः रघुरमणीयनामन्तः दृष्ट आह्लादीनायानामवधिः, वीक्षिता मन्नोहराणाँ सीमान्तलेखा, प्रत्यक्षीकृता प्रीतिजनानां परिसमाप्तिः दर्शनीयानामवसानभूमिः ।

4. क्रमेण च कृतं में चक्षुषि वसन्त इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकरेण इव मदेन नव यौवनेनपदम् ।

5. यत्र महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायु प्रलपितम्, वयः परिणामे द्विजपतनम्, उपवनचन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीनां भूतिमत्वम्, एणकानां गीतव्यसनम्, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजंगानां भोगः, कवीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः ।

6. सखे ! पुण्डरीक ! नैतदनुरूपं भवतः, क्षुद्रजनक्षुण्ण एवैष मार्गः, धैर्यधनाहि साधवः, किं यः कश्चित् प्राकृत इव विफली भवन्तभात्मानं न रुणत्सि । क्व ते तद् धैर्यम् । क्वासौ इन्द्रियजयः ।

7. लब्धापि दुःखेन पाल्यते। न परिचयं रक्षति। नाभिजनमीक्षते। न रूपमवलोकयते। न कुलक्रमभनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वेदाध्ययनं गणयति।

8. यस्मिन् राजनि अनुवर्तित शास्त्रमार्गे प्रशासति वसुमतीम्, धातूनां सोपसर्गत्वम्, इक्षूणां पीडनम्, पदानां विग्रहः, तिमीनां जलग्रहः, कुकविकाव्येषु यतिभ्रंशदर्शनम्. उदधीनामुपवृद्धिः, द्विजातिक्रियाणां शाखोद्धरणम्, सारीणामक्षप्रसरदोषेण परस्परं बन्धवधभरणानि बभूवुः।

9. मुख्यत्वेन वेदशब्दः ऋग्यजुः सामाथर्वनामभिः प्रचलितानां चतसृणां वेदसंहितानां बोधकः। एतेषामेव चतुर्णां वेदानां व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्थाः सन्तिः, येषु वैदिक कर्मकाण्डस्य विशदं वर्णनं दरीदृश्यते। एतेषां परिशिष्टरूपेण आख्यकग्रन्था वर्तन्ते, येषु अध्यात्मविद्याया विवेचनं प्राप्यते। उपनिषत्सु च तस्या एवाध्यात्मविद्याया चरमोत्कर्षः संलभ्यते। वैदिकं—साहित्यशब्देन समग्रोऽपि मंत्र–ब्राह्मण–आख्यक–उपनिषत्–संग्रहरूपोनिधिग्रह्यिते।

10. भारतीयानां संस्कृतेर्मूलस्रोतोऽनुसंधीयते चेत्तर्हि वेदा एव तन्मूलस्रोतत्वेनोपतिष्ठन्ति। वेदेष्वेव सरलतया भारतीया संस्कृतिः समुपवर्णितेति कृतं संदेहेन। भारतीया याः संस्कृतेर्मूलरूपं वेदेष्वेवोपलभ्यते। वेदेष्वेव प्राक्तन भारतीयानां जीवनदर्शनम्, कार्यकलापः, आचार-विचारः, नैतिकं सामाजिकं च चरित्रं प्राप्यते।

11. सर्वेऽपि विद्वन्तलज्जा भारतीया दार्शनिकाः, आचार-शिक्षणप्रवृत्ताः स्मृतिकाराः, शब्द तत्त्व मीमांसादक्षा वैयाकरणाः, अन्ये च शास्त्रकाराः वेदानां परमप्रामाण्यं प्रतिपादितम्। अतएव महर्षिणा पतञ्जलिना कर्तव्यत्वेन समादिश्यते यत् 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गोवेदोऽध्ययो ज्ञेयश्च'।

12. कविवरोऽयं भारवि दाक्षिणात्यः, पुलकेशिद्वितीयानुजस्य विष्णुवर्धनस्य सदसः कविवर इति। समधिगतमनेनानुपमं यशः स्वकीयेनार्थ गौरव समन्वितेन किरातार्जुनीय-नामधेयेन महाकाव्येन। महाकाव्यमेतस्य गुणत्रयेण माधुर्येण प्रसादेनौजसा च परिपूर्णम्।

13. समग्रमपि पुरातनं भारतीयं वाङमयं संस्कृतभाश्रित्यावतिष्ठते। न केवलं भारतीय संस्कृति संरक्षणार्थमेवावश्यकं संस्कृतम् अपितु विविध संस्कृति प्रसार–साधकम्, आर्यभाषाया गौरवस्य प्राणभूतम्, विश्ववाङ्मयस्य पथप्रदर्शकम्, जीवनदर्शनस्य दर्शकम्, आचारशास्त्रस्य शासकम्, पुरुषार्थस्य प्रयोजकम्।

अशुद्धि संशोधन

प्रश्न 1. निम्नाङ्कित वाक्यों का अशुद्धि संशोधन कीजिये— **(1985)**

(क) **कम्पयन्ती नभं** वाणी तीक्ष्णेयं गुञ्जिता यदा ।

उत्तर—कम्पयन्ती नभो वाणी तीक्ष्णेयं गुञ्जिता यदा ।

कम्पयन्ती शतृप्रत्ययान्त न होने से तिङन्त का ह्रस्वेकारान्त एवं नभः शब्द सकारान्त नपुंसक होने से नभ इत्येव प्रयोग योग्य है ।

(ख) घनं तु त्वां वीक्ष्य **मुखमावृत्वां** पलायते ।

उत्तर—घनं तु त्वां वीक्ष्य मुखमावृत्य पलायते ।

समासेऽनञ्पूर्वः क्त्वोल्यप्—सोपसर्ग धातु से क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर ल्यप् (य) होने से आवृत्वा न होकर आवृत्य पद का प्रयोग ही संगत है ।

(ग) युवां प्रजाभ्यः भीतिं न **कुरुत** ।

उत्तर—युवां प्रजाभ्यः भीतिं न कुर्वाथे ।

युष्मद्—युवां के साथ मध्यम पुरुष द्विवचन प्रयुक्त करना ही संगत है ।

(घ) चन्द्रगुप्तस्य गुणा एव चाणक्यं अमात्यपदेऽधिष्ठापयितुं **प्रेरयाभास** ।

उत्तर—चन्द्रगुप्तस्य गुणा एव चाणक्यम् अमात्यपदेऽधिष्ठापयितुं प्रेरयाभासुः ।

यहाँ पर स्वतंत्र गुणों की कर्तृसंज्ञा होने से तदनुसार क्रिया प्रयोग एवम् 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' सूत्र से अधिकरण को बाधकर द्वितीया का होना ही सर्वथा अपेक्षित है ।

(ङ) सांख्याचार्याः अहिंसायां रुचिं न **निदधन्ति** ।

उत्तर—सांख्याचार्या अहिंसायां रुचिं न निदधति ।

सांख्याचार्या के आगे प्रयुक्त विसर्ग न होकर लोप हो जाता है एवं नि–उपसर्ग पूर्वक जीहात्यादिक या धातु के बहुवचन में अदभ्यस्तात् सूत्र से झि के स्थान में अत् करने से निदधति प्रयोग ही व्याकरण सम्मत है ।

(च) **एषा** वायुः **प्रियस्मृतिवहा** प्रतीयते ।

उत्तर—एष वायुः प्रियस्मृतिवहः प्रतीयते ।

वायु शब्द के पुल्लिग होने से एष वायुः, तथा वायु-विशेषण प्रियस्मृतिवहः शब्द में भी पुल्लिङ्ग होना आवश्यक है ।

(छ) चार्वाकस्तु **महाराजानमेव** ईश्वरं मनुते ।

उत्तर—चार्वाकस्तु महाराजमेव ईश्वरं मनुते ।

महाँश्चासौ राजा इस विग्रह में समास होने पर 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' सूत्र से टच् होने पर महाराज अकारान्त शब्द हो जाता है। अतः महाराजानं व्याकरण-साधु नहीं है।

(ज) **गच्छतः कालात्** ते बहुसम्प्रदायेषु विभक्ता अभूवन्।

उत्तर—गते काले ते बहुसम्प्रदायेषु विभक्ता अभूबन्।

'यस्य च भावेन भाव लक्षणम्' सूत्र से सप्तमी होकर काले गते ही प्रयोग संगत है न कि गच्छतः कालात्।

(झ) **आत्मसम्बन्धी** ज्ञानं न सर्वदैव भवति।

उत्तर—आत्मसम्बन्धि ज्ञानं न सर्वदैव भवति।

आत्मनः सम्बन्धीति समास होने पर सम्बन्धी ह्रस्व ही समीचीन है, न कि दीर्घ; क्योंकि यह ज्ञान का विशेषण है।

(ञ) आराधय **सपत्नीका** प्रीता कामदुघा हि सा।

उत्तर—आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा।

यहाँ राजा दिलीप के 'सपत्नीक' इस अर्थ में विवक्षित होने से पुल्लिंग का प्रयोग करना ही अपेक्षित है।

प्रश्न 2. निम्नलिखित वाक्यों में अशुद्धि संशोधन कीजिये एवं कारण बताइये— **(1984)**

(क) **अतस्त्वां** दूरादेव नमः।

उत्तर—अतस्तुभ्यं दूरादेव नमः।

'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' सूत्र से यहाँ नमः के योग में युष्मद् शब्द से चतुर्थी विभक्ति 'तुभ्यम्' ही साधु प्रयोग है।

(ख) **मामग्रे** किं तिष्ठसि ?

उत्तर—ममाग्रे किं तिष्ठसि ?

ईप्सितानभीप्सित के अभाव में षष्ठी ही विहित है।

(ग) अयं **पर्वतोऽस्य ग्रामस्योत्तरः**।

उत्तर—अयं पर्वतोऽस्माद् ग्रामादुत्तरः।

'अन्यारादितरर्तेऽदिक् शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' सूत्र से यहाँ दिशावाची उत्तर शब्द के साथ अस्य ग्रामस्य के स्थान पर 'अस्माद् ग्रामात्' यही प्रयोग साधु है।

(घ) स जम्बुद्वीपं **नावि** गतः **शकटे** च प्रत्यागतः।

उत्तर—स जम्बुद्वीपं नावा गतः शकटेन च प्रत्यागतः।

यहाँ 'कर्तृकरणेयास्तृतीया' सूत्र से यात्रा के साधन 'नौ' और 'शकट' में तृतीया ही व्याकरण संगत है।

(ङ) देवाः स्वभयकारणं **ब्रह्माणमाचख्युः**।

उत्तर—देवाः स्वभयकारणं ब्रह्मणेऽऽचख्युः।

यहाँ 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' धातु के योग में चतुर्थी साधु है।

(च) **संक्रीडन्ति** मणिभिस्तव कन्याः ।

उत्तर—संक्रीडन्ते मणिभिस्तव कन्या ।

यहाँ उभयपदी क्रीड् धातु के समुपसर्ग से आत्मेभेपदी संगत है ।

(छ) समागतेषु बालेषु **तान्फलानि** दातुमारभस्व ।

उत्तर—समागतेषु बालेषु तानि फलानि दातुमारभस्व ।

यहाँ फलानि के योग में तत् से नपुंसकलिंग बहुवचन साधु है ।

(ज) **बुभुक्षितो** न प्रतिभाति किंचित् ।

उत्तर—बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित् ।

"लक्षणेत्थं भूताख्यानभाग वीप्सासु प्रतिपर्यनवः" सूत्र से प्रतिभाति के योग में द्वितीया विभक्ति करना ही संगत है ।

(झ) मन्दिराध्यक्षो **भक्तेभ्यो हरिं दर्शयति** ।

उत्तर—मन्दिराध्यक्षो भक्तान् हरिं दर्शयते ।

यहाँ 'भक्तान्' द्वितीया एवं प्रेरणा में 'दर्शयते' ही साधु है ।

(ञ) **सत्यादप्यनृतः** श्रेयः ।

उत्तर—सत्यादप्यनृतं श्रेयः ।

यहाँ श्रेयः नपुंसक के योग में अनृतम् विहित है ।

(ट) अहं ह्यः पथि महान्तं भुजगं **ददर्श** ।

उत्तर—अहं ह्यः पथि महान्तं भुजगं ।

अस्मद् (अहं) के योग में उत्तम पुरुष ।

(ठ) रामो रावणं हत्वा **विभीषणो** लंकाराज्ये **स्थापितः** ।

उत्तर—रामो रावणं हत्वा विभीषणं लंकाराज्ये स्थापितवान् ।

कर्तृवाच्य में क्तवतुप्रत्ययान्त तथा कर्म में द्वितीया विहित है ।

प्रश्न 3. निम्नलिखित वाक्यों में अशुद्धि संशोधन कीजिये तथा कारण बताइये— **(1983)**

(क) ते बहुदिनानि **कलिङ्गेष्वासत** ।

उत्तर—ते बहुदिनानि कलिङ्गेष्ववात्सीः ।

यहाँ (अपलाप) अत्यन्तायह्लव में लिट् ही व्याकरण सम्मत है ।

(ख) यजमानः **पुरोधसं** फलानि **भक्षयति** ।

उत्तर—यजमानः पुरोधसा फलानि भक्षयते ।

यहाँ अहिंसार्थक भक्ष् धातु के योग में कर्मसंज्ञा नहीं होती ।

(ग) **सो** मुनिः **पर्णकुटीरे** सुखमध्यवात्सीत् ।

उत्तर—स मुनिः पर्णकुटीरं सुखमध्यवात्सीत् ।

'अधिशीङ्स्थासां कर्म' से आधार की कर्मसंज्ञा ।

(घ) **धर्मादन्तरेण** न क्वापि जयसिद्धिः ।

उत्तर—धर्मभन्तरेण न क्वापि जयसिद्धिः ।

यहाँ 'अन्तरान्तरेण युक्ते' सूत्र से 'अन्तरेण' के योग में 'धर्म' में द्वितीया विभक्ति होती है ।

(ङ) पिपठिषवे तुभ्यं **गुरु**रकारणं कथं समक्रुध्यत् ।

उत्तर—पिपठिषुं त्वां गुरुरकारणं कथं समक्रुध्यत् ।

यहाँ "क्रुधद्रुहोपसृष्टयोः कर्म" सूत्र से यंप्रतिकोपः की कर्मसंज्ञा ।

(च) **स्वयं पटं** निर्मातारो जनाः सुखमेधन्ते ।

उत्तर—स्वस्य पटस्य निर्मातारो जनाः सुखमेधन्ते ।

यहाँ 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' से कृदन्त तृच् प्रत्यय के कर्म में षष्ठी विहित है ।

(छ) विपणिं निर्विशन्तो जनाः स्वोपयोगिवस्तूनि **परिक्रीणन्ति** ।

उत्तर—विपणिं निर्विशन्तो जनाः स्वोपयोगिवस्तूनि परिक्रीणन्ते ।

यहाँ उपसर्गपूर्वक क्रयार्थ धातु से आत्मनेपद रूप ही विहित है ।

(ज) रामाय **परिमृष्यमाणो** रावणः सीतां बहु प्रालोभयत् ।

उत्तर—रामाय परिमृष्यन् रावणः सीतां बहु प्रालोभयत् ।

यहाँ 'परेर्मृषः' सूत्र से परि उपसर्गपूर्वक मृष् धातु परस्मैपदी होने से शतृ प्रत्यय विहित है, शानच् नहीं ।

(झ) भृत्यश्चेत् यायात् आशसे तत्कृत्यं **समापयिष्यामि** ।

उत्तर—भृत्यश्चेत् यायात् आशंसे तत्कृत्यं समापयियीय ।

यहाँ 'आशंसावचने लिङ्' सूत्र से लिङ् लकार ।

(ञ) **छत्रोपाहनहो** गृहीत्वा स देशान्तरं प्रास्थितः ।

उत्तर—छत्रोपाहनं गृहीत्वा स देशान्तरं प्रास्थितः ।

समाहार भे द्वन्द्व में नपुंसक एकवचन ही विहित है । **द्वन्द्वश्चप्राणि तूर्य** से ऽङ्गानाम् सूत्र से समाहार द्वान्द्व ।

(ट) **एहि रामात्रोपविशामः ।**

उत्तर—एहि रामात्रोपविशामः ।

यहाँ 'उपान्वध्याङ्वस्' सूत्र से उपपूर्वकवस् धातु के आधार की **कर्मसंज्ञा** होती है लेकिन अत्र अव्यय है कोई अशुद्धि नहीं ।

प्रश्न 4. निम्न वाक्यों में अशुद्धि संशोधन कीजिये तथा कारण बताइये— **(1982)**

(क) भूपतिः दुर्गे सपत्नान् अरौत्सीत् ।

उत्तर—भूपतिः दुर्गं सपत्नान् अरौत्सीत् ।

यहाँ 'अकथितञ्च' सूत्र से द्विकर्मक रुद्ध धातु के योग में कर्म संज्ञा हुई है ।

(ख) राजा **अमात्यं** स्वर्गसुखमनुभावयति ।

उत्तर—राजा अमात्येन स्वर्गसुखमनुभावयति ।

यहाँ अनुपूर्वक भावयति की कर्मसंज्ञा न होकर तृतीया हुई है ।

(ग) सर्वतः **चौरस्य** समेत्य जनाः ऊचुः—**धिक् तव** ।

उत्तर—सर्वतः चौरं समेत्य जना ऊचुः—धिक् त्वाम् ।

यहाँ ' उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषुत्रिषु । द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ।।" इस वार्तिक से तस् प्रत्ययान्त सर्व शब्द के योग में तथा धिक् शब्द के योग में 'चौर' में द्वितीया विभक्ति व्याकरण सम्मत है ।

(घ) मुखेभ्यः **भीमा राक्षस्यः** सीतां परिबव्रुः ।

उत्तर—मुखेभ्यः भीमी राक्षस्य सीतां परिबव्रुः ।

यहाँ टाप् न होकर ङीप् होगा ।

(च) तथा दुर्वृतः स राजा **कुपात्रेभ्यो** धनानि स**भयच्छत** ।

उत्तर—तथा वुर्वृतः स राजा कुपात्रैम् धनावि सभयच्छत ।

यहाँ अशिष्ट व्यवहारे दाव् प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया विभक्तिः ।

(छ) अर्जुन एव **भ्रातृभ्यो** द्रोणस्याधिक प्रियः आसीत् ।

उत्तर—अर्जुन एव भ्रातृषुवा द्रोणस्याधिकप्रिय आसीत् ।

यहाँ 'यतश्च निर्धारणम्' सूत्र से समुदाय में से एक का निर्धारण करने में भ्रातृ शब्द से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति प्रयोग करना संगत है ।

(ज) सा **शूद्रा स्वपतिं** भक्त्या सेवते ।

उत्तर—सा शूद्री स्वपतिं भक्त्या सेवते ।

शूद्रा चामहत्वपूर्वाजातिः के अन्तर्गत ङीप् होकर शूद्री ।

(झ) आंग्लवध्वः **श्वेतमुखा** भारतीयाश्च **गौरमुखा** भवन्ति ।

उत्तर—आंग्लवध्वः श्वेतमुख्यः भारतीयाश्च गौरमुख्यः भवन्ति ।

यहाँ 'नखमुखात्संज्ञायाम्' सूत्र से संज्ञा नहीं होने पर ङीष् होकर श्वेतमुखी तथा गौरमुखी होगा ।

(ञ) भगवान् भास्करः सायं **प्रतीच्यामस्तं गत्वा** प्रातः **पूर्वायां** पुनरुदेति ।

उत्तर—भगवान् भास्करः सायं प्रतीच्यामस्तंगत्य प्रातः पूर्वस्यां पुनरुदेति ।

यहाँ अस्तं की गतिसंज्ञा होने से क्त्वा के स्थान पर ल्यप्, तथा पूर्व दिशा वाचक से सर्वनाम पूर्वस्याम् ।

(ट) **तडागकूपयोः** कूपस्यैव जलं सुस्वादु भवति ।

उत्तर—कूपतडागयोः कूपस्यैव जलं सुस्वादु भवति ।

यहाँ अल्पाचतरम् से अल्प ऊच् वाले कूप का पूर्व प्रयोग विहित है ।

(ठ) निमन्त्रिता अतिथयो **हस्तपादौ** प्रक्षाल्य स्वं स्वमासनमलंचक्रुः ।

उत्तर—निमत्रिताः अथितथयो हस्तपादं प्रक्षाल्य स्वं स्वभासनमलंचक्रुः ।

'द्वन्द्वश्चपाणितूर्य सेनाङ्गानांम्' से प्राणि-अंगों का समाहार ।

(ड) **नतेतौ** सर्वातिशायिसौन्दर्य शालिनावास्ताम् ।

उत्तर—नतौ सर्वातिशायि सौन्दर्य शालिनावास्ताम् ।

यहाँ अजन्त आदि वाले और अदन्त अन्त वाले शब्द एत्वं का 'अजाद्यदन्तम्' सूत्र से पूर्व प्रयोग करना ही संगत है।

1. गिरः **क्षोभकराः** श्रुत्वा चिरं दूयते मे वयस्यः।

उत्तर—गिरः क्षोभकरीः श्रुत्वा चिरं दूयते मे वयस्यः।

यहाँ 'कृञो हेतुताच्छील्यरनुलोम्येषु' इस सूत्र से 'ट' प्रत्यय, टित्वात् ङीप् करना ही साधु प्रयोग है।

2. पिता रत्नकरो यस्य लक्ष्मीर्यस्य **सहोदरी**।

उत्तर—पिता रत्नकरो यस्य लक्ष्मीर्यस्य सहोदरा।

'न क्रोडादिबह्वचः' से प्रतिषिद्ध ङीष् 'नासिकोदरौष्ठ' इत्यादि से पुनः विहित होने पर भी यहाँ 'सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च' से निषिद्ध होकर टाप् (सहोदरा) ही साधु प्रयोग है।

3. **पापीयं** नापिती। इयं हि यत्र तत्र विग्राहयति लोकान्।

उत्तर—पापेयं नापितीं। इयं हि यत्र तत्र विग्राहयति लोकान्।

केवलभामकभागधेयपापेत्यादिना छन्दसोरेव ङीव्विधानात्।

4. इयं हि मे **पाणिगृहीतिः** सततं मय्यनुरक्ता नान्यं मनसाऽपि चिन्तयन्ति।

उत्तर—इयं हि मे पाणिगृहीती सततं मय्यनुरक्ता नान्यं मनसाऽपि चिन्तयन्ति।

बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्, पाणिगृहीत्यादीनामर्थ विशेषः इससे विहित ङीष् करना ही संगत है।

5. इयं जरती इयं च **यूनी**। तथाऽपि पूर्वा वपुष्मती सर्वदोद्युक्ता च। अपरा कृशा तुन्दपरिमृजा च।

उत्तर—इयं जरती, इयं च मुवतिः। तथाऽपि पूर्वा वपुष्मती सर्वदोद्युक्ता च।

यहाँ 'यूनस्तिः' सूत्र से युवतिः प्रयोग ही पाणिनीय है।

6. इयं **व्याकरणपद्धती** सुदूरं प्रकृष्यते पद्धत्यन्तरेभ्यः।

उत्तर—इयं व्याकरणपद्धती सुदूरं प्रकृष्यते पद्धत्यन्तरेभ्यः। बह्वादिभ्यश्चेति से विकल्प से ङीष् होकर साधु हैं।

7. **कतिपयाः** कालिदासीयाः सूक्तयः संगृह्यन्ते भूयसे रसास्वादाय।

उत्तर—कतिपयाः कालिदासीयाः सूक्तयः संगृह्यन्ते भूयसेरसास्वादाय।

कतिपय शब्द अयचि प्रत्यय में पुगागम करने पर बनता है। अत अयचि स्वतन्त्र प्रत्यय में स्त्रीत्व बोधक ङीप् दुर्लभ है अत टाप् (कतिपया) साधु है।

8. **किङ्करा** इमाः स्त्रियः स्वामिनि भक्तिमत्यः सर्वात्मना नियोगं निर्वाहयन्ति।

उत्तर—किङ्करा इमाः स्त्रियः स्वामिनि भक्तिमत्यः सर्वात्मना नियोगं निर्वाहयन्ति।

'कियत्तद्बहुष्वच्' सूत्रानुसार अच्प्रत्ययान्त होने से किंकराः यह प्रयोग साधु है। जातिवाचक होने पर पर ङीष् होकर किङ्कर्यः बनता।

9. कस्येयं रम्या रशना **त्रिसूत्री** ?

उत्तर—कस्येयं रम्या रशना त्रिसूत्रा ?

'यहाँ त्रीणिसूत्राणि यस्या इति' बहुव्रीहि समास में ङीप् दुर्लभ है अतः त्रिसूत्रा साधु है। किन्तु द्विगु समास में त्रिसूत्री प्रयोग भी संगत है।

10. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न **श्रुतिगोचरा**। इति भारताख्यानं मुनिना कृपया कृतम्।

उत्तर—स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचर। इति भारताख्यानं मुनिना कृपया कृतम्।

श्रुतेर्गोचरः इस विग्रहानुसार श्रुतिगोचरः साधु है।

11. यस्त्रैवर्णिकः **शूद्रीं** तल्पमारोपयेत्, मन्ये स पतितः स्यात्।

उत्तर—यस्त्रैवर्णिकः शूद्रां तल्पमारोपयेत्, मन्ये स पतितः स्यात्।

शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिरिति के अनुसार टाप् होकर शूद्रा ही साधु है। अन्यत्र पुंयोग होने पर शूद्री होगा।

12. आत्यन्तिकेषु कार्येषु नारी कार्या **पुरः सरा**।

उत्तर—आत्यन्तिकेषु कार्येषु नारी कार्या पुरः सरी।

पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेष्ट प्रत्यये टित्त्व होने से ङीप् ही विहित होने से पुरः सरी प्रयोग संगत है।

13. इयं **शूद्रा**, इयं **शूद्री**, इयं च **महाशूद्री**। कोविशेषः।

उत्तर—इयं शूद्रा, इयं शूद्री, इयं च महाशूद्री।

'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिरिति'—जाति के अर्थ में ङीष् का अपवाद रूप टाप् से शूद्रा, पुंयोग में ङीष् से शूद्रस्य स्त्रीशूद्री तथा महाशूद्री में भी जातिलक्षण-ङीष् संगत है।

14. कौसल्ययाऽसावि सुखेन रामः प्राक् **केकयीतो** भरतस्ततो भूत्।

उत्तर—कौसल्ययाऽसावि सुखेन रामः प्राक् केकयीतो भरतस्ततो भूत्।

यहाँ 'पुंयोग इति' का अर्थ दम्पतिभाव ही न होकर 'जन्यजनक भाव लक्षण' भी है। अतः केकय शब्द से पुंयोग में तथा 'गोत्रं च चरणै सहेति' इस वचन से अपत्यार्थ जाति लक्षण में ङीष् होकर केकयी शब्द साधु है।

15. साहितस्य **धनक्रीता** प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।

उत्तर—साहितस्य धनक्रीती प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।

यहाँ 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेरिति' वचनानुसार क्रीत शब्द से समास में क्रीतात् करणपूर्वादिति ङीष् होता है।

16. **अयादवीं** क्षमां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत।

उत्तर—अयादवां क्षमां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत।

अणन्तयादव शब्द से सामान्य लक्षण में टाप् ही विहित है, ङीप् नहीं।

17. धात्री कराभ्यां **करभोपमोरुः** ।

उत्तर—धात्री कराभ्यां करभोपमा ।

'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इस सूत्र से ऊङ् नहीं होता ।

18. पट्वीं **कृष्णविलोचनाब्जमधुपां** राधे दृशं तां श्रये ।

उत्तर—पट्वीं कृष्णविलोचनाब्जमधुपीं राधे दृशं तां श्रये ।

भ्रमरवाचक मधुप शब्द से जातिवाचक में ङीष् अपेक्षित है ।

19. **नानारूपधरी** नटी ।

उत्तर—नानारूपधरा नटी ।

यहाँ धर शब्द अच् प्रत्ययान्त है । स्त्रीत्व विवक्षा में इससे ङीष् या ङीन् प्रत्यय न होकर केवल टाप् ही विहित है ।

20. मधुरां **सुकुमारां** च पाञ्चालीं कवयो विदुः ।

उत्तर—मधुरां सुकुमारीं च पाञ्चालीं कवयो विदुः ।

तत्पुरुषोत्तरपदप्रधानत्वात् सुकुमार शब्द में कुमार शब्द अनुपसर्जन है । वयसि प्रथमे तथा 'इत्यनुपसर्जनात्' से सुकुमार शब्द में ङीप् ही विहित है ।

21. चिन्ताः **बहुतरी** तृणात् ।

उत्तर—चिन्ताः बहुतरा तृणात् ।

तरप् प्रत्ययान्त बहुतर शब्द से आट्, टाप् ही विहित हैं नकि ङीप्, ङीष् या ङीन् प्रत्यय । अतः बहुतरा साधु है ।

22. **तूष्णीभ्भूय** गुरोस्नुशासनंम् निशम्यताम् ।

समाधान—तूष्णींभूय तूष्णींभूत्वा गुरोस्नुशासनं निशम्यताम् ।

'तूष्णीमिं भुवः' सूत्र से क्त्वा और णमुल् दोनों ही विहित हैं । अतः तृतीया प्रभृतीन्यन्यतरस्यामितिः वा समासः से दोनों रूप ही साधु हैं ।

23. सूत्रकारं **नमस्कृत्वा** वाक्यकारं च निभृतम् । शब्दापशब्दयोरेष विवेकः प्रवितन्यते ।

समाधान—सूत्रकारं नमस्कृत्य वाक्यकारं च निभृतम् । शब्दापशब्दयोरेष विवेकः प्रवितन्यते ।

यहाँ 'साक्षात्प्रभृनि च' से नमः की गति संज्ञा से समास होने पर ल्यप् होकर 'नमस्कृत्य' ही साधु है किन्तु गति समास के अभाव में नमस्कृत्वा प्रयोग भी साधु है ।

24. अत्रेतां निशां **परिणाभ्य** श्वोभूत् इतः प्रस्थास्यामहे हे ।

समाधान—अत्रेतां निशां परिणमय्य श्वोभूत इतः प्रस्थास्यामहे ।

यहाँ अनुपसृष्ट नमः का विकल्प से तथा सोपसर्ग नमः का नित्य मित्व होता है, अतः ण्यन्त परिणम शब्द से ल्यप् में 'लघुपूर्वादिति' से णसे अयादेश होने पर परिणमय्य रूप ही संगत है ।

25. गुरुचरणा न्शुश्रूषित्वाऽपूर्वः कोऽपि सुखानुभवो जायते ।

यहाँ जनिक्रिया का कर्ता सुखानुभव है तथा शुश्रूषित्वा का कर्ता देवदत्तादि शिष्य है । अतः भिन्नकर्तृकत्वे होने से क्त्वा करना असंगत है ।

26. एकं केदारं **लवित्वाऽपरं** लुनन्ति कृषकाः सस्यार्थिनः ।

समाधान—एकं केदारं लूत्वाऽपरं लुनन्ति कृषकाः सस्यार्थिनः ।

यहाँ छेदनार्थक क्रियादि सेट् धातु का 'श्र्युकः कितीण्निनिषेधात् लूत्वा ही साधु है ।

27. सौम्य **बहिर्गत्य** लक्षय का वेलेति । अहमस्मि प्रतिष्ठासुः ।

समाधान—सौम्य बहिर्गत्वा लक्षय का वेलेति । अहमस्मि प्रतिष्ठासुः ।

यहाँ बहिः शब्द की गतिसंज्ञा नहीं होने से बहिर्गत्वा ही व्याकरण संगत है ।

28. लोमहर्षणीमिमाँ वार्ता **निशम्य** तस्य हृदि क्रोधानलः समदीपि ।

यहाँ समानकर्तृकत्व का अभाव होनें से क्त्वा नहीं होता ।

29. इदमौषधं शुचिनि वारिणि **समुन्द्य** गव्येन पयसा संमिश्र्य सितया च संयुज्य पेयम् ।

समाधान—इदमौषधं शुचिनि वारिणि समुद्य गव्येन पयसा संमिश्र्य सितया च संयुज्य पेयम् ।

यहाँ 'उन्दी क्लेदने' धातु से 'अनिदितां हलः' इस सूत्र से नकार लोप होकर समुद्य रूप ही संगत है ।

30. अचिरादेव **गृहत्परावर्त्य** त्वदर्थे समीहिष्ये । जानेऽयभर्थो मयि लम्बते ।

समाधान—अचिरादेव गृहात्परावृत्य त्वदर्थे समीहिष्ये । जानेऽयभर्थो मयि लम्बते ।

यहाँ परावृत्य प्रयोग साधु है ।

31. इदं नारिकेलं **पञ्चधाकृत्यामीभ्योऽर्भकेभ्यो** देहि ।

समाधान—इदं नारिकेलं पञ्चधाकृत्वा (पञ्चधाकृत्य वा) ऽमीभ्योऽर्भकेभ्यो देहि ।

'नाधार्थप्रत्यये च्यर्थे' से क्त्वा तथा 'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्' से ल्यप्, समास में उभयविध प्रयोग साधु है ।

32. गीर्वाणवाणीं भूयः **संचकासय्य** संस्कृतसाहित्ये च लोकस्य कौतूहलं **संजागरय्य** भारतं किमपि गुरुत्वमुपनेष्यामः ।

समाधान—गीर्वाणवाणीं भूयः संचकासय्य संस्कृत साहित्य च लोकस्य कौतूहलं संजागरय्य भारतं किमपि गुरुत्वमुपनेष्यामः ।

यहाँ 'चकासृ दीप्तौ' धातु से णिच् में ल्यप् होने पर 'संचकास्य' प्रयोग ही संगत है, लघुपूर्वात् से णेः से अयादेश नहीं होता । अयादेश होने से संजागरय्य प्रयोग साधु है ।

33. त्वयाऽत्र संकटे गृहं **निर्मीय** किं सुखमाशंस्यते ।

समाधान—त्वयाऽत्र संकटे गृहं निर्माय किं सुखमाशंस्यते ।

यहाँ ल्यप् में ईत्व का निषेध होने से निर्माय रूप साधु है ।

34. यदि कश्चिदाम्नाये निष्ठित ऋग्वेदे **विशद्य** भाष्यं वितनुयात्, तदा लोकस्यास्य बहूपकुर्यात् ।

समाधान—यदि कश्चिदाम्नाये निष्ठित ऋग्वेदे विशाद्य (विशदयित्वा वा) भाष्यं वितनुयात्, तदा लोकस्यास्य बहूपकुर्यात् ।

यहाँ 'शद्लृ शातने' धातु अकर्मक है अत: णिच् होकर 'विशाद्य' रूप साधु है । अन्यत्र णिच् में क्त्वा करने पर 'टि' लोप होकर, गुण से 'विशदयित्वा' साधु प्रयोग है ।

35. केशेषु केशेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवृत्तमिति केशाकेशि ।

36. धन्यास्ते सुमतयो येऽन्योन्यस्मिन्प्रीतिं **संजन्य** वैमत्यमपा कुर्वन्ति ।

समाधान—धन्यास्ते सुमतयो येऽन्योन्यस्मिन् प्रीतिं संजनय्य वैमत्यमपा कुर्वन्ति ।

यहाँ 'जनिवध्योश्चेति' सूत्र से णिच् में वृद्धि का निषेध होने से ल्यप् में लघुपूर्वात् णि का अयादेश होकर संजनय्य ही बनता है ।

37. कवी **राजानभुपश्लोकयित्वा** पुष्कलं धनराशिं विन्दति ।

समाधान—कवी राजानभुपश्लोक्य पुष्कलं धनराशिं विन्दति ।

यहाँ 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' से ल्यप् ही विहित है ।

38. अयं ह्यकूपारमपि **तर्तुं भर्हति** किमुत सरसीम् ।

समाधान—अयं ह्यकूपारमपि तरितुम् (तरीतुम् वा) अर्हति किमुत सरसीम् ।

यहाँ 'तृ तरशप्लवनयोरुदात्त:' धातु से वृतोवेति से पाक्षिक द्वट् होकर दीर्घ से तरितुं, तरीतुं वा रूपद्वय साधु है ।

39. पाठे नित्यमनवहितं तं शिष्यचेलं शालातो **निष्क्रमितुं** ब्रूहि ।

समाधान—पाठे नित्यमनवहितं तं शिष्यचेलं शालातो निष्क्रामेति ब्रूहि ।

यहाँ 'तुमुण्बुलौ क्रियायां क्रियार्थायामिति' से तुमुन् प्रत्यय समानकर्तृकत्व के अभाव में असंगत है ।

40. उत्तिष्ठ वत्सः वयस्यस्ते **त्वामाह्वायितुमुपागतः** ।

समाधान—उत्तिष्ठ वत्स । वयस्यस्ते त्वामाह्वातुमुपागतः ।

यहाँ ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे चेति से अनुदात्त धातु से 'आदेच उपदेशे' से आङ् उपसर्ग में आह्वातुम् रूप साधु है ।

41. यः शास्त्रार्थं **वेत्तुं** समर्थोऽपि न तत्र बाढं प्रयस्यति न स बहुवेद ।

समाधान—यः शास्त्रार्थं वेदितुं समर्थोऽपि न तत्र बाढं प्रयस्यति न स बहुवेद ।

यहाँ विद् ज्ञाने सेट्क धातु से वेदितुं स्वप्र संगत है ।

42. अहो कालमहिमा । शिष्या अपि **गुरुविरोधमाचरितुं न शङ्कन्ते** ।
समाधान—अहो कालमहिमा । शिष्या अपि गुरुविरोधचरणाथान्न शङ्कन्ते ।
यहाँ भय का कारण गुरुविशोधाचरण होने से पंचमी विहित है । क्रियार्था क्रिया के अभाव में तुमुन् विहित नहीं है ।

43. परस्य **गुणान्** स्वस्य **दोषांश्चाङ्गीकर्तुं** न कामपि क्षतिमीक्षामहे ।
समाधान—परस्य गुणानां स्वस्य दोषाणाँ चाङ्गीकारे न कामपि क्षतिमीक्षामहे ।
यहाँ पर भी तुमुन् दुर्लभ है ।

44. अनुजानीहि मां **गन्तुम्** । चिरं मे प्रोषितस्य ।
समाधान—अनुजानीहि मां गमनाय । चिरं मे प्रोषितस्य ।
क्रियार्थाक्रिया के अभाव में तुमुन् का निषेध है ।

45. चतस्रो विद्या अर्थकर्य इति **गणितुं** शक्यन्ते ।
समाधान—चतस्रो विद्या अर्थकर्य इति गणयितुं शक्यन्ते ।
यहाँ नित्य णिच् होता है ।

46. न मया शक्ष्यते रहस्यमिदं चिरं **गोपयितुम्** ।
समाधान—न मया शक्ष्यते रहस्यमिदं चिरं गोपायितुम् ।
यहाँ 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' इस सूत्र से आयादेश होकर **गोपायितुं** साधुरूप है । अन्यत्र विपक्ष में गोपितुं तथा गोप्तुं रूप द्वय ।

47. **स्त्रीपरिभवं सोढुं** दाक्षिणात्या न शिक्षिताः ।
समाधान—स्त्रीपरिभव नहनं दाक्षिणात्या नशिक्षिताः ।
यहाँ भिन्नकर्तृकत्व दोष से तुमुन् असंगत है ।
व्यवसितादिषु क्त कर्तरि चकारात् से क्त प्रत्यय ।

48. प्रतिवेशिनो **मां गृहं त्यक्तुं** विवशभकुर्वन् ।
समाधान—प्रतिवेशिनो मां गृहत्यागे विवशभकुर्वन् ।
समान कर्तृकत्व के अभाव में तुमुन् दुर्लभ है ।

49. न्यायानुसारिण दोषा आक्रामन्तीति का कथा ।
दूरस्थिता एव दोषास्तं **स्प्रष्टुमपि बिभ्यति** ॥
समाधान—तं स्प्रष्टुमपि बिभ्यति के स्थान पर तत्स्पर्शादपि बिभ्यति रखना न्यायसंगत है । तुमुन् असंगत है ।

50. **हृष्टपुष्टो** देवदतो लक्ष्यते । मन्ये व्यंपगतभस्यार्थं कृच्छ्रेण ।
समाधान—हृषितपुष्टो देवदन्तो लक्ष्यते । मन्ये व्यंपगतभस्यार्थं कृच्छ्रेण ।
'हृषेर्लोमसु' सूत्र से क्त प्रत्यय विहित है ।

51. अहह ! क्रूरेण लुण्टाकेनादयं **विशस्तो** वशको धनिकः ।
समाधान—'विशसितो वैयात्यः वा' रूपद्वय साधु हैं । निष्ठा में इण् एवं श्नाविकरण का निषेध होता है ।

52. अयं नो देशो वैदेशिकैर्वाणिजैर्दरिद्रितः।

समाधान—दरिद्रितः।

यहाँ 'दरिद्रातेरार्धधातुके विवक्षिते आलोपो वाच्यः' इस वार्तिक से विवक्षित होने पर णिच् में आलोप करने पर तथा क्त प्रत्यय में इट् करने पर दरिद्रितः रूप साधु है।

53. धनधान्यस्य च स्फीतिः सदामे वर्तता गृहे।

समाधान—स्फातिः।

यहाँ 'स्फायः स्फी निष्ठायाम्' इस सूत्र से निष्ठा में ही स्फीभाव होता है क्तिन् में नहीं, अतः स्फातिः शुद्ध है।

54. जागृतो ऽहमात्मनि ब्रह्मणि। नहीदानीं विडम्बयितुमर्हति मां माया वशकी।

समाधान—जागरितः।

यहाँ 'जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु' से गुण होकर जागरितः।

55. प्रथमोऽपराध इति मृषितो गुरुणा। तेन द्वितीयं भास्मचशिः।

समाधान—मृषितः।

यहाँ मृषस्तितिक्षायामिति से निष्ठा में कित्व निषेध होकर गुण करने पर मर्षित ही विहित है।

56. कपोल कण्डूतिं बिनेतुं विद्यदृयन्ति द्रुमस्कन्धान् कुम्भिनः।

समाधान—कण्डूतिं।

कण्डूतिरिति कण्डूयतेः क्तिचि रूपं साधुत्वं ज्ञेयम्।

57. केचित्साहसिका उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यामेव व्यवस्यन्ति सत्वासत्वे अर्थानाम्।

समाधान—डुलभष् धातु के षित् होने से क्तिन् के अपवाद में ङा हो जाता है।

58. विदुषाऽनेन यथेदं सूत्रं विवरीतं न तथा तोषाय नः।

समाधान—विवृतम्।

यहाँ इण् का निषेध होने से विवृतम् ही साधु प्रयोग है।

59. केनायं तक्षितो यूपः।

समाधान—तष्टः।

यहाँ तक्षू त्वक्षू शति धातु ऊदितौ पठितौ। ऊदित् होने से निष्ठा में इण् का निषेध होता है।

60. अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्।

समाधान—मृद्नती।

यहाँ नुम् प्राप्त नहीं होता।

61. शास्त्राण्यधीत्यापि **वृद्धानुपासमानाः** कल्याण परम्परां लभन्ते ।

समाधान—वृद्धानुपासीनाः ।

'ईदासः' इस सूत्र से आन का ईकारादेश हो जाता है तथा मुक् का आगम नहीं होता है ।

62. अयि पठकाः पाठकाश्च ! तांस्तान् विषयान्विशदयन्ती चिरं **चक्रासन्तीयं** पलिका भवद्भ्यो रोचते न वेति व्यक्तमुधताम् ।

समाधान—चकासती ।

यहाँ दीप्त्यर्थक अदादि चकासृ धातु से नुम् नहीं होता ।

63. मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य **उद्यास्यन्वा** अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि ।

समाधान—कहीं पर प्रथमान्त से भी सामानाधिकरण होने से शतृ शानच् होने पर उद्यास्यन् साधु है ।

64. जाने दुष्करमिदं कृत्यं तथापि मयातत्र **प्रवर्त्यम्** । एषा मे व्यवसिता मनीषा ।

समाधान—प्रवृत्यम् ।

ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेरिति से क्यप् होने पर प्रवृत्यम् रूप संगत है ।

65. **उपचर्यः** स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ।

समाधान—उपचार्यः ।

गदमदचरयमश्चानुपसर्गे सूत्रानुसार यहाँ सोपसर्ग चर् धातु से ण्यत् करने पर उपचार्यः रूप ही विहित है ।

66. प्रभूताः स्वा न दीयन्त इत्याभणन्ति । सत्यं दुःखर्भजिताः श्रियः **सुदेया** न भवन्ति ।

समाधान—सुदेयाः ।

दाञोऽचो यदि देयाः, सुशब्देन प्रादिसमासे सुदेया इति ।

67. अयं मे प्रियतमः शिष्य इति विषमे वृत्युपायं **साध्वनुशास्यः** ।

समाधान—अनुशिष्यः ।

यहाँ एतिस्तुशास् से क्यप्, शास इदङ्हतोरित्युपधाया इत्वे शासिवसिघसीनाम् से षत्व होकर अनुशिष्यः ही साधु ।

68. सर्वाविद्या **अभ्यस्या** भवन्ति, व्याकरणं तु सुविशेषम् ।

समाधान—विस्मार्याः ।

यहाँ हृहलोर्ण्यत् से ण्यत् ही संगत है।

69. येयं साम्प्रतं प्रचरति भारते शिक्षा न सा शिक्षपदाभिलप्या भवति ।

समाधान—अभिलाप्य ।

'ण्यत्प्रकरणे लपिदभिभ्यां च' से ण्यत् करना साधु है ।

70. देवनागरी यवनानी चेति द्वे अपिलिपी **अभ्यस्तव्ये**।
समाधान—अभ्यसितव्ये।
यहाँ इट् अपरिहार्य है।
71. यत्नेन **लभनीया** ऽऽत्मसंवित्तिः।
समाधान—लम्भनीया।
लभ् धातु से नुम् करना व्याकरण सम्मत है।
72. **मार्गणारभणीयानि** कार्याणि नामार्गेण।
समाधान—आरम्भणीयानि।
रभेरशब्लिटोरिति से नुम् होता है।
73. शस्त्रं विषं सुरा **चाप्रतिगृह्याणि** ब्राह्मणस्य।
समाधान—अप्रतिग्राह्याणि।
यहाँ 'ऋहलोर्ण्यत्' से सम्प्रसारण नहीं होता।
74. पुत्रः सखा वा भ्राता वा पिता वा यदि वा गुरुः।
रिपुस्थानेषु वर्तन्तः० **कर्त्तव्या** भूतिमिच्छता॥
समाधान—कर्तितव्याः।
यहाँ कृती छेदने सेट् से इट् विहित है।
75. इह भूयांस **उदरम्भरिणोऽल्पीयां स** एव परार्थघटकाः।
समाधान—उदरम्भरयः।
यहाँ मुम् आगम होने पर इन् प्रत्यय होता है।
76. **अचोरौऽपि** चोरतां यातो माण्डव्यो व्यवहारतः।
समाधान—अचौरः।
चर् धातु से पचाद्यच्। से चौरः णकार प्रत्यय में।
77. **वसुन्धरेयं** नो जननी **वसुधरेति** कोऽसंमूढः संशयीतेः।
समाधान—संज्ञा में खच् होने पर वसुन्धरा अन्यत्र संज्ञा से भिन्न होने पर वसुधरा।
78. अत्रापणे **विक्रय्यवस्तूनि** कयाप्यानुपूर्व्या प्रसारितानि शोभन्तेत्तराम्।
समाधान—विक्रेयवस्तूनि।
यहाँ क्रय्य शब्द से अच् प्रत्यय करना साधु है।
79. श्वोऽहं वाराणसी **गामुकोऽस्मि**।
समाधान—गन्तास्मि।
तच्छीलादि में उकञ् प्रत्यय गम् धातु से करना संगत है। अत्यत्र नहीं।
80. शूराणां च नदीनां च **दुर्विदाः** प्रभवाः किल।
समाधान—दुर्वेदाः।
दुः शब्द उपपद रहते खल् प्रत्यय में गुण होकर दुर्वेदा साधु।

81. **गिरिशमुपचचार** प्रत्यहं सा सुकेशी ।

समाधान—गिरिशम् ।

लोमादि से मत्वर्थीय छ प्रत्यय होने पर गिरिशम् साधु । अन्यत्र अधिकरण में अच् होने पर गिरिशयम् ।

82. महाधने दुकूलाग्न्ये **परिधायोपवीय** च ।

समाधान—उपव्याय ।

व्ययश्चेति से सम्प्रसारण का निषेध है ।

83. सर्वे **सङ्क्रामिणो** रोगा वर्जयित्वा प्रवाहिकाम् ।

समाधान—सङ्क्रमिणः ।

ताच्छील्ये में णिनि प्रत्यय से वृद्धि-निषेध है ।

84. कामक्रोधौ मनुष्याणां **खादितारौ** वृकाविव ।

समाधान—खादकौ ।

यहाँ निन्दहिंसक्लिशखादेति सूत्र से वुन् प्रत्यय ही होता है ।

85. शरं **ह्युपासानिशितं** सन्दधीत ।

समाधान—ह्युपासनानिशितं ।

ण्यासश्रन्थो युच् से युच् होने पर उपसना रूप साधु है ।

86. वृहन्नले गायनो वा नर्तनो वा पुनर्भव ।

समाधान—नर्तकः (नर्तनः वा) ।

नृती गावविक्षेपे इस अकर्मक धातु से शिल्पिनिष्वुन् से नर्तकः । अन्यत्र ताच्छील में युच् होकर नर्तनः साधु ।

87. गजानां पङ्कमग्नानाँ गजा एव धुरन्धराः ।

88. **कौरव्याणां** पाण्डवानां चदारुणं जन्यमजनि ।

समाधान—कुरुणाम् ।

यहाँ कुरुनादादिभ्यः से ण्य प्रत्यय से कौरव्यः । बहुवचन में ण्य का लोप होकर कुरवः, षष्ठी बहुवचन में कुरुणाम् ।

89. **वैयासः** शुको ब्रह्मविदां वरोबभूव ।

समाधान—वैयासकिः ।

इञ् प्रत्यय में अकङ् आदेश से वैयासकिः साधु ।

90. प्राक् **केकयीतो** भरतस्ततोऽभूत् ।

समाधान—कैकेयीतः ।

'केकयस्यायत्यं स्त्रीति जनपद शब्दा त्क्षत्रियादञि अतश्च' इति लुक् 'न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः' इससे निषेध होने पर केकयमित्रयुप्रलयानामिति यादेरियोशे आदि-वृद्धौ कैकेयी । स्त्रीयां ङीन् ।

91. बहवो दण्डा अस्यां शालायां सन्तीति **दण्डनीयं** शाला ।
समाधान—दण्डवती ।
यहाँ सप्तमी के अर्थ में इनि न होकर मतुप् प्रत्ययान्त रूप ही साधु है ।

92. इदानी **महाधनिनएव** बलिनो गण्यन्ते ।
समाधान—महाधना: ।

93. **नदारवे** पात्रे दुह्यात् । अग्निर्वा एष यद् दारुपात्रम् ।
समाधान—दारुमये ।
'नित्यं वृद्धशरादिभ्य:' सूत्र से यहाँ मयट् विहित है ।

94. **पार्वतीयानीमानि** फलानि सुतरां स्वदन्ते नो नागरिकेभ्य: ।
समाधान—पर्वतीयानि ।
'विभाषाऽमनुष्य:' सूत्र से छ प्रत्यय ।

95. का नाम **राष्ट्रीयता** ।
समाधान—राष्ट्रियता । छ प्रत्यय, उसका इच् तथा तल् प्रत्यय ।

96. **वेणुनयीयं** यष्टि: । इयं भारस्यासहा ।
समाधान—वैणवी ।
बिल्वादिभ्योऽणि वैणवीति साधुरूपम् ।

97. भुजङ्गानां **पयस:** पानं विषमिव वर्धयति न तु दशनप्रवृत्तिं तेषामुपरमयति ।
समाधान—पय:पानम् ।
यहाँ कर्मोपपद में ल्युट् से नित्य समास होता है ।

98 मास्म केवलो ग्रम: । एते वयं **त्वत्साकं** याम: ।
समाधान—त्वया साकम् ।
'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र से यहाँ सह-योग में तृतीया समीचीन है ।

99. शतृ प्रत्यय आत्मनेपदिभ्य: परस्मैपदिभ्योवा भवति, सहेतुकं सोदाहरणं प्रस्तूयताम् ।

100. निष्ठासंज्ञा कयो: प्रत्ययोर्भवति ? तयो: कर्तरि च का विभक्तिर्भवति । उदाहरणद्वयेन स्पष्टयत ।

101. ऐन्द्राश्च कौबेर्याश्चान्तरालं दिक् इत्यत्र दिङ्नामान्तराले इत्यनेन समास: कथं न भवति प्रमाणं प्रस्तूयताम् ।

102. प्रावृट् च शरच्चेति विग्रहे द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समहारे इत्यनेन टच संभवेन्न वा की दृशं रूपं निष्पद्यते ।

103. शिवराज सैनिका: यवनसेनायां निर्भयं व्यक्रामन् ।

104. जना: श्राद्धे भिक्षुकान् भोजयन्ते ।

105. श्रेष्ठाः बालकाः प्रातः **मातृपितरौ** प्रणमन्ते । (पितरौ)

106. **महाराजा** दुष्यन्तः **शकुन्तलामवलोकयित्वापि** शापेन सा व्यस्मरत् । (महाराजः । अवलोक्य ।)

107. **व्याघ्रेण** भीतो नरो ग्रामं **गमितुमिष्यते** । (व्याघ्रात् । गन्तुम्) ।

108. देवदत्तः गुरुं सेवन् **संतिष्ठति** । (सेवमानः ! संतिष्ठते)

109. त्वया वचांसि **श्रोतव्यम्** । (श्रोतव्यानि)

110. सा **लावणिका** योषित् आसीत् । (लावणिकी)

111. **रोहिणा गौ** कुत्र गच्छति । (रोहिणी)

112. **गोपालिकी** मथुरायाँ वसति । (गोपालिका)

113. **दाक्षा** कुत्र गच्छति । (दाक्षी) ङीष् ।

114. **मूषिकी** छिद्रे प्रविशति । (मूषिका) ।

115. सा **साधु** तपसा जीवति । (साध्वी) ।

116. शोभनं गन्धं यस्य तत् । (सुगन्धा) ।

117. राष्ट्रे भव **राष्ट्रीयः** । (राष्ट्रियः)

118. कृष्ण **दर्शनं** याति । (दर्शनाय) ।

119. **शयमाना** भोजन्ते यवनाः ।

120. स्मारं स्मारं नमति शिवम् ।

121. **पश्यमानोऽपि** नेक्षते । (पश्यन्नपि)

122. **दृष्टवान्** बालिका गजम् ।

123. **उष्णभोजीह** ब्राह्मणः ।

124. किं ते विधित्सा लखे ।

125. **पीयं पीयं** रूप पियूषसारम् । (पायंपायम्)

126. सन्तः **सहन्तः** कष्टानि कुर्वन्त्युपकृतिं सदा । (सहमानाः)

127. **कुशाम्बी** नगरी रम्या । (कौशाम्बी)

128. **राष्ट्रीयः** कस्य न प्रियः । (राष्ट्रियः)

129. **आत्मीनं** हि जगत्सर्वम् । (आत्मीयम्)

130. वन्दे **हैमवती** नदीम् ।

131. कात्यायनो **व्याकरणो** महानभूत् । (वैयाकरणः)

132. वृक्षे **चटक्यः** कूजन्ति । बिले वसति **मूषिकी** । चटकाः । मूषिका ।

133. **सुजघ्नी** युवकान् हन्ति **भ्यनीकी** हन्ति शात्रवान् ।

134. **एषा पुष्पाञ्जलिस्तुभ्यं** अयञ्च **कुसुमावलिः** ।

135. व्याधिस्ते **नश्यतां सर्वा** शङ्कुर्यात् **स च देवता** ।

136. कृदन्ततद्धितप्रत्यययोः पारमार्थिको भेद उदाहरणपूर्वकं समालोचयत ।

137. सहार्थकपदप्रयोगे प्रधाने तृतीया भवति अप्रधाने वा ? सोदाहरणं विवेचनीयम् ।

138. गोषु दुह्यमानासु गतः, सूर्ये उदिते कमलानिविकसन्ति आत्र कस्मिन्नर्थे सप्तमी जायते ।

139. **मितवाची** द्विजः सोऽयं **कीदृशी** महिमा विभोः ।
उदारो मे मनो मित्र ! वीणाया **मधुरा** ध्वनिः ॥

140. राष्ट्रे जातो **राष्ट्रीयः**, युष्माकमयं युष्माकीनः । वसिष्ठस्यापत्यानि पुमांसो वाशिष्ठाः **दक्षिणास्य जातः दाक्षिणेय** ।

141. **गौरमुखी** इत एवागच्छति ।

142. **अश्वीयं** धावति ।

143. वरुणस्य स्त्री **वारुणी** इत्युच्यते ।

144. कृष्णं **दृशितुमिच्छांमि** ।

145. गुरुं **प्रार्थयित्वैव** शिष्योऽत्रागतः ।

146. दीयतेऽस्मै **देयो** विप्रः ।

147. पिबतीति **पिबकः** ।

148. उडुलोम्नोऽपत्यानि **औडुलोमनः** ।

149. युवतीनां समूहो **युवतम्** । (तद्धित भावकर्म०)

150. अश्मनो विकार **आश्मानः** । (तद्धित विकारार्थ०)

151. सभाया साधुः **साभ्यः** । (तद्धित भावकर्म०)

152. सुव्रत ! **इमामग्निं** जय । (सामान्य०)

153. **पाणिपादौ** प्रक्षाल्य भुंजीत । (समास एकशेष समाहर द्वन्द्व) ।

154. सूर्यः कमलानि **बोधयंते** । (प्रक्रिया०)

155. इमेऽस्माकं **पूज्यनीया** मातरः सन्ति । (तद्धित)

156. **अहिनकुलयोः** शाश्वतिको विधन्ते विरोधः । (समास एक शेष)

157. जगतः **मातृपितरौ** भवानीशङ्करौ स्तुमः । (एकशेष)

158. **चरणलोचनौ** रक्तौ विधन्तेऽस्या **दिवानिशि** । (एकशेष)

159. **उत्थित्वा** हृदि विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः (ल्यप्०)

160. पादकन्दुकेन **क्रीडिष्यमाणाः** छात्रा क्रीडास्थलं गच्छन्ति ।

161. **लज्जन्ती** वधूः आगच्छति । (स्त्रीप्रत्यय) ।

162. कर्तुः कर्म भाववाच्ये च के नियमाः, भावे लकारे रूपाणि चलन्ति न वा । सोदाहरणं विवेचनीयम् ।

163. क्तप्रत्ययः क्तवतुप्रत्ययश्च भूते भविष्यति वर्तमाने वा भवन्ति; सोदाहरणं विवेचनीयम् ।

164. कृष्णः सखायस्येति विग्रहे निष्पन्न प्रयोगे च राजाहसखिभ्यष्टच् सूत्रेण टच् प्रत्ययो भवति न वा । निष्पन्न रूपञ्च कीदृशम् ।

165. भूपतिः दुर्गे सपत्नान् अरौत्सीत् ।

166. राजा अमात्यं स्वर्ग सुखमनुभावयति ।

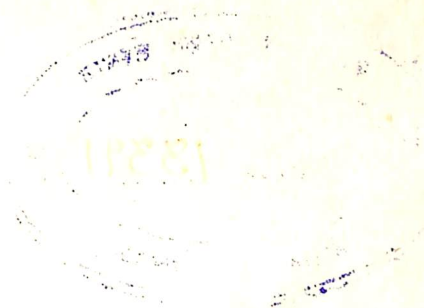
167. विशेषणं विशेष्येण बहुलम्—नीलोत्पलम्. क्वचिन्न कृष्णसर्पः । उपमानानि सामान्य वचनैः शाकपार्थिवसमासस्य विशेषता ।

168. महता सेवेति विग्रहे आन्महतः सामानाधिकरण जातीय योरित्यनेन विधीय सामासत्वं कथं जायते ।

169. अनेकमन्यपदार्थे इतिसूत्रे कोऽन्य पदार्थ इति सविवेचनं व्याख्याय, क्वचिद् व्यधिकरणेऽपि बहुव्रीहिसमास इति समालोचनीयम् ।

170. द्वन्द्वश्च प्राणि तूर्य सेनाङ्गामित्यनेन किं विधीयते इति सोदाहरणं विविच्य, एकशेष समासस्यैकमुदाहरणं प्रस्तूयताम् ।

171. क्तक्तवतु प्रत्यय किस अर्थ में होते हैं भाव में या कर्म में, सोदाहरण बताइये ।



संस्कृत

1	प्राचीन भारत का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास—प्रो. निरंजनसिंह	
2	तुलनात्मक भाषा विज्ञान के तत्त्व—प्रो. निरंजनसिंह	
3	संस्कृत व्याकरण एवं अनुवाद—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	20/-
4	भारतीय संस्कृति के तत्त्व—आचार्य रमेशचन्द्र शास्त्री	15/-
5	वैदिक साहित्य—डॉ. श्रीकृष्ण ओझा	25/-
6	वैदिक साहित्य (ऋग्वेद)—डॉ. श्रीकृष्ण ओझा	15/-
7	संस्कृत निबन्ध, व्याकरण एवं अनुवाद—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	80/-
8	लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास—डॉ. श्रीकृष्ण ओझा	40/-
9	अपठित पद्य में छन्द, अलंकार तथा व्याकरण—डॉ. एस. के. ओझा	15/-
10	पाश्चात्य आलोचना शास्त्र का सामान्य परिचय—डॉ. श्याम शर्मा	10/-
11	ध्वन्यालोक (प्रथम उद्योत)—डॉ. एस. के. ओझा	10/-
12	तर्कसंग्रह—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	15/-
13	शिवराजविजय (प्रथम एवं द्वितीय निश्वास)—चण्डीप्रसादाचार्य	15/-
14	यास्कीय निरुक्त (अध्याय I)—डॉ. श्रीकृष्ण ओझा	10/-
15	मृच्छकटिकम् (शूद्रक)—शिवदयाल शर्मा	10/-
16	कादम्बरी (बाण)—डॉ. एस. एस. त्रिपाठी	15/-
17	साहित्य दर्पण (I व II परिच्छेद)—शंकर प्रसाद शुक्ला	10/-
18	सांख्यकारिका—आचार्य राधेश्याम त्रिपाठी	15/-
19	वेदान्तसार—आचार्य राधेश्याम त्रिपाठी	10/-
20	चार्वाक दर्शन (माधवाचार्य)—आचार्य सुरेन्द्रकुमार शर्मा	7/-
21	जैन दर्शन सार : एक विवेचन—आचार्य राधेश्याम त्रिपाठी	10/-
22	काव्य प्रकाश (मम्मट)—पं. चण्डीप्रसादाचार्य	15/-
23	भारत के प्राचीन शिलालेख—डॉ. श्रीकृष्ण ओझा	15/-
24	मुद्राराक्षस (विशाखदत्त)—डॉ. त्रिपाठी	10/-
25	शिशुपालवधम् (द्वितीय संर्ग)—डॉ. शिवसागर त्रिपाठी	15/-
26	अर्थसंग्रह—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	10/-
27	मेघदूत—डॉ. कमलकान्ता दाधीच	15/-
28	उत्तर रामचरित—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	15/-
29	दशरूपकम्—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	15/-
30	नैषधीय चरितम्—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	15/-

संस्कृत

1	प्राचीन भारत का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक इतिहास—प्रो. निरंजनसिंह	
2	तुलनात्मक भाषा विज्ञान के तत्त्व—प्रो. निरंजनसिंह	
3	संस्कृत व्याकरण एवं अनुवाद—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	20/-
4	भारतीय संस्कृति के तत्त्व—आचार्य रमेशचन्द्र शास्त्री	15/-
5	वैदिक साहित्य—डॉ. श्रीकृष्ण ओझा	25/-
6	वैदिक साहित्य (ऋग्वेद)—डॉ. श्रीकृष्ण ओझा	15/-
7	संस्कृत निबन्ध, व्याकरण एवं अनुवाद—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	80/-
8	लौकिक संस्कृत साहित्य का इतिहास—डॉ. श्रीकृष्ण ओझा	40/-
9	अपठित पद्य में छन्द, अलंकार तथा व्याकरण—डॉ. एस. के. ओझा	15/-
10	पाश्चात्य आलोचना शास्त्र का सामान्य परिचय—डॉ. श्याम शर्मा	10/-
11	ध्वन्यालोक (प्रथम उद्योत)—डॉ. एस. के. ओझा	10/-
12	तर्कसंग्रह—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	15/-
13	शिवराजविजय (प्रथम एवं द्वितीय निश्वास)—चण्डीप्रसादाचार्य	15/-
14	यास्कीय निरुक्त (अध्याय I)—डॉ. श्रीकृष्ण ओझा	10/-
15	मृच्छकटिकम् (शूद्रक)—शिवदयाल शर्मा	10/-
16	कादम्बरी (बाण)—डॉ. एस. एस. त्रिपाठी	15/-
17	साहित्य दर्पण (I व II परिच्छेद)—शंकर प्रसाद शुक्ला	10/-
18	सांख्यकारिका—आचार्य राधेश्याम त्रिपाठी	15/-
19	वेदान्तसार—आचार्य राधेश्याम त्रिपाठी	10/-
20	चार्वाक दर्शन (माधवाचार्य)—आचार्य सुरेन्द्रकुमार शर्मा	7/-
21	जैन दर्शन सार : एक विवेचन—आचार्य राधेश्याम त्रिपाठी	10/-
22	काव्य प्रकाश (मम्मट)—पं. चण्डीप्रसादाचार्य	15/-
23	भारत के प्राचीन शिलालेख—डॉ. श्रीकृष्ण ओझा	15/-
24	मुद्राराक्षस (विशाखदत्त)—डॉ. त्रिपाठी	10/-
25	शिशुपालवधम् (द्वितीय सर्ग)—डॉ. शिवसागर त्रिपाठी	15/-
26	अर्थसंग्रह—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	10/-
27	मेघदूत—डॉ. कमलकान्ता दाधीच	15/-
28	उत्तर रामचरित—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	15/-
29	दशरूपकम्—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	15/-
30	नैषधीय चरितम्—पं. चण्डीप्रसाद आचार्य	15/-